त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण १

जनवरी-मार्च १९८०

वार्षिक मूल्य ६) रुपये

इस अंक का मूल्य :

१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन : जैन लक्षणावली

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म एक वैज्ञानिक और विश्वकल्याणकारी धर्म है। तीर्थंकरों ने महान् साधना करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और उसके द्वारा शान्ति व कल्याण का मार्ग जो कुछ भी उनके ज्ञान में झलका, प्राणीमात्र के कल्याण के लिए ही, जगह-जगह घूमकर लोक भाषा में प्रचारित किया। अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने के लिए शब्दों का सहारा लेना ही पड़ता है। बहुत-से नये-नये शब्द गढने भी पड़ते हैं। फिर भी सर्वज्ञ का ज्ञान बहुत थोड़े रूप मे ही प्रचारित हो पाता है, क्योकि वह शब्दातीत व अनन्त होता है। शब्द सीमित हैं। ज्ञान असीम है। जैन धर्म की अपनी मौलिक विशेषताएं हैं जो वह उसके पारिभाषिक शब्दों से प्रकट है। बहुत-से शब्द जैन ग्रन्थो मे ऐसे प्रयुक्त हुये हैं जो अन्य किन्ही ग्रन्थों व कोष ग्रन्थों मे नही पाये जाते। कई शब्द मिलते भी हैं तो उनका अर्थ वहां जैन ग्रन्थो मे प्रयुक्त अर्थों से भिन्न पाया जाता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहित कोश प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक है, और अपेक्षित था और अब भी है। अंग्रेजी भाषा आज विश्व मे विशिष्ट स्थान रखती है पर जैन-ग्रंथों के बहुत से शब्दों के सही अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द उस भाषा मे नही हैं। यह जैन ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादको को प्रायः अनुभव होता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्दों के एक बड़े कोश की आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है।

ढाई हजार वर्षों मे शब्दों के रूप और अर्थ बदले हैं। परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। अनेकों आचार्यों, मुनियो और विद्वानो ने एक-एक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। अतः एक ही शब्द के अर्थ अर्थान्तर पाया जाता है। किस-किस ने किस पारिभाषिक शब्द को किस तरह व्याख्यात किया है उसका पता लगाने का कोई साधन नही था। इस कमी की पूर्ति और ऐसे ही एक कोष की आवश्यकता का अनुभव स्व० श्री जुगलकिशोर जी मुतार को हुआ और उन्होने इस काम को अपने ढग से प्रारम्भ किया। पर वह काम बहुत बड़ा था और वे अन्य दूसरे कामों मे लगे रहते थे इसलिए इसे पूरा करना उनके लिए सम्भव नही हो पाया। कुछ व्यक्तियो के सहयोग से इस प्रयत्न को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया, पर वर्षों तक एकनिष्ठ होकर उसे पूरा कर पाना। दूसरों से संभव नहीं हो पाया किन्तु उसे पूरा करने का श्रेय प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को मिला। वर्षों से (वीर सेवा मन्दिर जब से स्थापित हुआ तभी से) मैं जब भी दिल्ली जाता हूं तो वीर सेवा मन्दिर भी पहुंचता हूं। अतः पं० बालचन्द जी के काम का मुझे अनुभव भी है। अब वह काम पूरा हो गया, इससे मुझे व उन्हे दोनों को सन्तोष है।

जैन लक्षणावली ग्रन्थ के निर्माण में सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता तो यह रही है कि दि० और श्वे० दोनों सम्प्रदायों के करीब ४०० ग्रन्थों के आधार, से यह महान् ग्रन्थ तैयार किया गया है। एक-एक जैनपारिभाषिक शब्द की व्याख्या किस आचार्य ने किस ग्रन्थ में किस रूप मे की है, इसकी खोज करके उन ग्रन्थों का आवश्यक उद्धरण देते हुये हिन्दी मे उन व्याख्याओं का सार दे दिया गया है। इससे उन ग्रन्थों के उद्धरणों के ढूंढने का सारा श्रम बच गया है और हिन्दी में उन व्याख्याओं का सार लिख देने से हिन्दी वालों के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी हो गया है। करीब ४०० ग्रन्थों का सार संक्षेप या मंथन-दोहान इसी एक ही ग्रन्थ मे कर देना वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। पं० बालचन्दजी ने तो वर्षों तक अथक श्रम करके जिज्ञासु के लिए बहुत बड़ी सुविधा उपस्थित कर दी इसके लिए वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र हैं। वीर सेवा मन्दिर ने काफी खर्चा उठाकर बड़े अच्छे रूप में इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके लिए व संस्था व उसके कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन लक्षणावली इसका दूसरा नाम जैन पारिभाषिक शब्दकोश रखा गया है। इसके तीन भाग हैं, जिनमें १२२० पृष्ठों मे पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और अर्थ अकारादि क्रम से दिये गये हैं। पहले के दो भागों में, जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग इस ग्रन्थ में हुआ है उनका विवरण भी दिया गया था। तीसरे भाग के ४४ पृष्ठों की प्रस्तावना में बहुत से शब्दों सम्बन्धी विशेष बातें देकर ग्रन्थ की आंशिक पूर्ति कर दी गयी है। प्रत्येक भाग का मूल्य ४० रुपया और तीनों भागों का मूल्य १२० रुपये है। यह ग्रन्थ संग्रहणीय तो है ही, बहुत काम का है, इसलिए सभी जैन ग्रन्थालयों को खरीदना ही चाहिये। □□

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०६, वि० सं० २०३६ | जनवरी-मार्च १९८०

केवलज्ञान का स्वरूप

गाथा—केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥३४॥

छाया—केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे ।
तावन्मात्रेण दृप्ता: केचन विशेषं न इच्छंति ॥३४॥

गाथा—जे संघयणाईया भवत्थकेवलि विसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगय तओ होइ ॥३५॥

छाया—ये संहननादय: भवस्थकेवलीविशेषपर्याया: ।
ते सिद्धमानसमये न भवन्ति विगतं ततो भवति ॥३५॥

एक बार होने पर केवलज्ञान सतत

केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह एकान्त मान्यता भेद-दृष्टि को लेकर है। जैनदर्शन में गुण और गुणी में न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद। किन्तु इन दोनों में कथंचित् भेदाभेद कहा गया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा के निज गुण है, आत्मस्वरूप है। द्रव्यदृष्टि से ये दोनों अनादि अनन्त हैं। परन्तु अनादि काल से आत्मा कर्मों से मलिन हो रही है, इसलिए इसके निज गुण भी मलिन हैं, परन्तु जब आत्मा से केवलज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मों का विलय हो जाता है, तब आत्मा में केवलदर्शन और केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इस दृष्टि से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और फिर सतत बना रहता है। एक बार केवलज्ञान के हो जाने पर यह त्रिकाल में भी अपने प्रतिपक्षी कर्म से आक्रान्त नहीं होता। इस दृष्टि से यह अपर्यवसित है। किन्तु यह एकान्त नहीं है। किसी अपेक्षा से इसे पर्यवसित भी कहा गया है।

शाश्वत होने पर भी किसी अपेक्षा से नश्वर

जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती भवस्थकेवली वज्रवृषभनाराचसंहनन, केवलदर्शन, केवलज्ञान आदि से सम्पन्न हैं, जिनके आत्मप्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है तथा अघातिया कर्मों का नाश कर जो सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने वाले हैं, उनके शरीरादि आत्मप्रदेशों का एवं केवलज्ञान-दर्शनादि का सम्बन्ध छूट जाता है और सिद्ध अवस्था रूप नवीन सम्बन्ध होता है, इसलिए उन्हें पर्यवसित कहा जाता है।

□□□

भगवान महावीर की अध्यात्म-देशना

□ डा० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर

लोक व्यवस्था

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। इनमें सुख-दुःख का अनुभव करने वाला, अतीत घटनाओं का स्मरण करने वाला तथा आगामी कार्यों का संकल्प करने वाला द्रव्य, जीव द्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य मे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान है। उन गुणों के द्वारा इसका बोध स्वयं होता रहता है। पुद्गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल दृष्टिगोचर नही होता तथापि उनके संयोग से निर्मित स्कन्ध पर्याय उनके अनुभव मे आता है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्गल के चलने मे जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और जो उक्त दोनों द्रव्यों के ठहरने मे सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्गल द्रव्य और उसके साथ सम्बद्ध जीव द्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आता है। समस्त द्रव्यों के पर्यायों के परिवर्तन मे जो सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते है। पुद्गल के परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होते है, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सब द्रव्यों को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यों मे एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य-दृश्य है। शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक है—रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नही है। जीवद्रव्य, अपने ज्ञानगुण से सबको जानता है और पुद्गल द्रव्य उनके जानने में माध्यम बनता है, इसलिए कोई द्रव्य मूर्तिक हो अथवा अमूर्तिक, जीव के ज्ञान से बाहर नहीं रहता। पुद्गल द्रव्य के माध्यम होने की बात परोक्ष ज्ञान-इन्द्रियाधीन ज्ञान में ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं।

असख्यात प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सब द्रव्यों का निवास है, इसलिए सब द्रव्यों का परस्पर सयोग तो हो रहा है पर सबका अस्तित्व अपना-अपना स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यन्ताभाव रहता है, इसलिए सयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल मे भी नही करता है।

यह लोक की व्यवस्था अनादि अनन्त है। न इसे किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादि रूप पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य से पृथक् है, इसमे किसी को सन्देह नही, परन्तु कर्म नोकर्म रूप जो पुद्गल द्रव्य जीव के साथ अनादिकाल से लग रहा है, उसमें अज्ञानी जीव भ्रम मे पड जाता है। वह इस पुद्गल द्रव्य और जीव को पृथक्-पृथक् अनुभव न कर एक रूप ही मानता है—जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ नहीं है। शरीर के उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट हो जाने से जीव नष्ट हो जाता है।

जब जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ ही नही है तब परलोक का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। यह जीव विषयक अज्ञान का सबसे बृहद् रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है। तथा दर्शनकारों ने इसे नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया है।

आत्मा का स्वरूप

अनेक पदार्थों से भरे हुए विश्व मे आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनो की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥

पुरुष—आत्मा है और वह चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्गलिक गुणो से रहित है, गुण और पर्यायो से तन्मय है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यों ने दो दृष्टियाँ अंगीकृत की है—एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपापोहन की। स्वरूपोपादान की दृष्टि मे पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पररूपापोहन की दृष्टि मे पर पदार्थ से उसका पृथक्करण किया जाता हैं। पुरुष—आत्म चैतन्य रूप है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपापोहन दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, ज्ञाता दृष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्श रस, गन्ध तथा वर्ण अनुभव मे आते है वे उसी शरीर के धर्म है, उन्हे तू आत्मा नही समझ बैठना। यह तेरा आत्मा सामान्य विशेष रूप अनेक गुण तथा स्वभाव और विभावरूप पर्यायो से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थो से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। 'आत्मनि इति अध्यात्म' इस प्रकार अव्ययीभाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा मे अथवा आत्मा के विषय में। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता हैं। जिसके साथ नोकर्म, द्रव्य कर्म, और भावकर्म रूप पर पदार्थ का संसर्ग हो रहा है ऐसा संसारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है और जिसके साथ उपर्युक्त पर-पदार्थ का ससर्ग नही है ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे अन्य धातुओ के समिश्रण से अशुद्धता आ गई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे से अन्य धातुओं का समिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण मे अन्य द्रव्य का समिश्रण कितना है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा में अन्य द्रव्य का संमिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य-आत्मद्रव्य में मिले हुए पर द्रव्य का अस्तित्व पृथक् समझ लिया वह एक दिन स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वभाव-विभाव

शरीर को नोकर्म कहते हैं। यह नो कर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है, इसीलिए तो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित है। इससे आत्मा को पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म है कि वे इन्द्रियो के द्वारा जाने नहीं जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुए है। कि एक भव से दूसरे भव मे भी उसके साथ चले जाते है उन द्रव्यकर्मों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढी है।

द्रव्य कर्म के उदय से होने वाला विकार आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है कि अच्छे अच्छे ज्ञानी जीव भी भ्रान्ति मे पड़ जाते है। अग्नि का स्पर्श उष्ण है तथा रूप भास्वर है, पर जब वह अग्नि पानी मे प्रवेश करती है तब अपने भास्वररूप को छोड़-कर पानी के साथ इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि न मानकर पानी की मानने लगते है। 'पानी उष्ण है' यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक

है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय में होने वाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते हैं कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव में नहीं आता तन्मयीभाव से आत्मा के साथ मिले हुए रागादिक विकारी भावों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढ़ी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है, वह समझता है कि स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता, वह स्व में सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है और विभाव, वह कहलाता है जो स्व में पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर का संसर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर संसर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आती परन्तु उष्णता पानी का विभाव है क्योंकि वह अग्नि के संसर्ग से आती है। जब तक अग्नि का संसर्ग रहता है तब तक पानी में उष्णता रहती है और जब अग्नि का संसर्ग दूर हो जाता है, तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वभाव है, यह कहीं बाहर से नहीं आता, परन्तु रागादिक विभाव है, क्योंकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते है और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते है। इसलिए उनके आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभावना नहीं है। इस प्रकार परपदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

अध्यात्म और स्वरूपनिर्भरता

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य बाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारण-कलाप को आत्मा में ही खोजता है। सुख-दुख हानि-लाभ संयोग-वियोग आदि के प्रसंग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसंग पर सुख-दुख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी परिणति मानकर बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है।

ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैंने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है। दूसरे का दिया हुआ सुख-दुःख यदि प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय। पर ऐसा होता नहीं है।

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मैं पर पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मतत्त्व हूं तथा उसी की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हूं। इसकी उपलब्धि, अनादि काल से श्रुत परिचित और अनुभूत काम भोगबन्ध की कथा से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति तो पर पदार्थों से लक्ष्य हटाकर स्वरूपाविनिवेश अपना उपयोग अपने आप मे ही स्थिर करने से हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन मे विहार करने वाला पुरुष, बाह्य जगत से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का ही बार-बार चिन्तन कर उनमें बाधा डालने वाले रागादि विकीर भावो को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा में रागादि विकार-भाव प्रगट हो रहे है, तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्त है—पूर्ण वीतराग है, उसमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करना मेरा काम नहीं है, मैं तो अबद्धस्पृष्ट तथा पर से असयुक्त हूं। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्तमनान मे बद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उनके अस्तित्व में प्राप्त हो रहे हैं तथापि, अध्यात्म जीव के अबद्धस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित—वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति करता है। स्वरूप की अनुभूति करना ही अध्यात्म का उद्देश्य है। अतः संयोगज दशा और संयोगज भावों की ओर से वह मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! यदि

---

१. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥ —अमितगति।

तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करता है तो इस संयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

ज्ञानी जीव, कर्म नोकर्म और भावकर्म से तो आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है, परन्तु ज्ञेय ज्ञायक और भव्य भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भव्य से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण अपने मे प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान मे आये हुए घट पटादि ज्ञेयो से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओ के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा, अपने अस्तित्व मे रहने वाले सुख-दुःख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं[1] निश्चय से एक हूं, शुद्ध हू दर्शन ज्ञान से तन्मय हू, सदा अरूपी हू, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ज्ञानी यह भी[2] मानता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।

इस प्रकार के भेद विज्ञान की महिमा बतलाते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलश मे कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धाः ये किल केचन ।
तस्यैव भावतो बद्धा-बद्धा ये किल केचन ॥

आज तक जितने सिद्ध हुए है वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार मे बद्ध है वे सब भेद-विज्ञान के अभाव से ही बद्ध है।

अध्यात्म और नय व्यवस्था

वस्तुस्वरूप का अधिगम—ज्ञान,प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का विवेचन करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचन में नय के द्रव्यार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना में उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदों का निरूपण है। इस विवेचना मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों ही निश्चय मे समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि में वस्तुरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि मे उस नय-विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र मे रख कर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं उसी प्रकार अध्यात्मिक दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। इस दृष्टि में शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहार सत्य है। इसलिए उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करने वाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहारदृष्टि अशुद्ध स्वरूप को।

अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का है, इसलिए वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करना निश्चय दृष्टि का कार्य है और कर्म के मिमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा मैं काम, क्रोध, मान माया, लोभ, आदि विकारों को

---

१. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३॥ —समयसार, कुन्दकुन्द

२. एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणों।
सेसा बहिरभवा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥२॥ —नियमसार, कुन्दकुन्द

स्वीकृत नही करती। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं, अतः उन्हें पुद्गल मानती है[1], इसी तरह गुणस्थान मार्गणा आदि के विकल्प को जीव के स्वभाव नही कहती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म निश्चयदृष्टि-निश्चयनय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नही है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्मतत्व की वर्तमान मे जो अशुद्ध दशा चल रही है यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिए मोक्षमार्गरूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायो का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना सगत नही है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यो करेगा? वस्तु-स्वरूप के विवेचन मे अनेकान्त का आश्रय ही स्व-पर का अधिकारी है, अतः अध्यात्मवादी की दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्यकारण भाव

कार्य की सिद्धि मे उपादान और निमित्त इन दो कारणो की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारण है।

जिस मिट्टी मे बालू के कणो की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की आवश्यकता नही है उसके लिए कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उसे घट का निर्माण नही हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी मे घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिए यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणों का योग नही मिलता है तो उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति में मिट्टी रूप उपादान और कुम्भकारादि रूप निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता है। इस अनुभवसिद्ध और लोकसंमत कार्य-कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, मुमुक्षु प्राणी के लिए यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले सभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणो की खोज-बीन मे उलझा रहा और अपनी आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य नहीं किया तो उन निमित्त कारणो से तेरा कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायेगा? जो किसान, खेत की भूमि को तो खूब सभालता है परन्तु बीज की ओर दृष्टिपात नही करता, उस सभाली हुई खेत की भूमि मे यदि सड़ा घुना बीज डालता है उससे क्या अंकुर उत्पन्न हो सकेंगे? कार्यरूप परिणति उपादान की होने वाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नही बनता और निमित्त उपादान नही बनता यह निश्चित है, तथापि कार्य की सिद्धि के लिए दोनो की अनुकूलता अपेक्षित है इसका निषेध नही किया जा सकता।

अध्यात्म और मोक्ष मार्ग

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" :—(तत्वार्थ सूत्र) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की व्याख्या को निश्चयनय के साँचे मे ढाल कर स्वीकृत करता है उसकी व्याख्या है—पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता दृष्टा आत्मा मे लीन होना सम्यक् चारित्र है। इस निश्चय अथवा अभेद रत्नत्रय की की प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है। देवशास्त्र गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्वों को जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत, समिति

१. एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा। केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

२. णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

—समयसार, कुन्दकुन्द

गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक चरित्र—यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति मे सहायक है तो वह परम्परा से मोक्षमार्ग होता है। व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक बार हुई परन्तु निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना वह मोक्ष का साधक नही बन सकी।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत जीवाजीवादि पदार्थों के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत समिति गुप्ति रूप आचरण को हेय मानता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सब का प्रयोजन आत्मश्रद्धान, ज्ञान और आचरण मे ही सनिहित है अन्यथा नही। इसलिये सबको करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

नव पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१३॥

मूलार्थ—निश्चय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी मे अभेद करते हुए नौ पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। वस्तुतः ये सम्यग्दर्शन के विषय हैं।

जीव[1] चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा मे यह जीव, शरीर रूप नो कर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमे अहंकार करता है—"इस रूप मैं हूं' ऐसा मानता है। इसलिये सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथकता सिद्ध की जाती है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भाव कर्मों से इसका पृथकत्व दिखाया जाता है। कहा गया है—हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं, तू इन्हे जीव क्यो मान रहा है?

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहने मे कोई खास बात नहींहै किन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुलमिलकर अनित्य सम्बन्धी भाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति मे साधक है। रागादिक भाव अजीव हैं, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है।

यहाँ 'अजीव है' इसका इतना ही तात्पर्य है कि वे जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल मे भी इनका अभाव नही होता, परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की सद्‌वस्था में ये भाव होते है उसका अभाव होने पर स्वयं विलीन हो जाते है।

संसारचक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है, इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि "हे मुमुक्षु प्राणी! तू मोक्ष रूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कही बीच मे पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन मे पड़ा तो एक झटके मे ऊपर से नीचे आ जायेगा और सागरो पर्यन्त के लिये उसी पुण्य महल में नजर कैद हो जायेगा। दया, दान, व्रताचरण आदि भाव लोक मे पुण्य कहे जाते है और हिंसादि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते है। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियो का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियो का। जब उन पुण्य पाप प्रकृतियो का उदयकाल आता है तब जीव को सुख-दुख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को ससार में ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोहशृंखला से दूर रहना चाहता है।"

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है सम्यग्दर्शन, पुण्य रूप आचरण का निषेध नहीं करता किन्तु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप

१. अरसमरूवमगधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥४९॥ —समयसार, कुन्दकुन्द

पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है।

संक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थायें है—एक ससारी और दूसरी मुक्त। इनमे संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने मे उपादेय है। ससार का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण सवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते है उन्हे आस्रव कहते है। ऐसे भाव चार हैं १ मिथ्यात्व, २ अविरमण, ३ कषाय और ४ योग। इन भावों का यथार्थ रूप समझकर उन्हे आत्मा से पृथक करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रवतत्व का विरोधी तत्व सवर है अत अध्यात्म ग्रन्थो मे आस्रव के अनन्तर संवर की चर्चा आती है।[1] आस्रव का रुक जाना सवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग रूप परिणामो से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, सयम निष्कषाय वृत्ति और योग निग्रह रूप गुप्ति से संवर होता है अध्यात्म मे इस संवर का मूल कारण भेदविज्ञान को बताया है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न है, अतः उनसे भेदविज्ञान प्राप्त करने मे महिमा नही है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मो से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है, जो तन्मयी भाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे है। मिथ्यादृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहधारा को भिन्न-भिन्न नही समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमे तत्काल राग-द्वेष करने लगता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनो धाराओ के अन्तर को समझता है इसलिए वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नही होता। जहाँ यह जीव, रागादि को अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से अनुभव करने लगता है वही उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है।

राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोंचने से काम नहीं चलेगा, किन्तु उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड़ है भेदविज्ञान का अभाव। अतः भेदविज्ञान के द्वारा उन्हे अपने स्वरूप से पृथक् समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान मे प्रतिष्ठित नही हो जाता।

सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति समय हो रही है, पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नही होता, क्योकि जितने कर्म पर परमाणुओ की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते है। कल्याण, उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओ का आस्रव और बन्ध नही होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नही होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद को प्राप्त नही होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग मे प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। सुवर्ण, कीचड़ मे पड़ा रहने पर भी जंग को प्राप्त नही होता और लोहा थोडी सी सर्द पाकर जंग को प्राप्त नही हो जाता है। यह सुवर्ण और लोहा की अपनी-अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौदगलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनों मे चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादिकाल से इनका एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग बना रहा है। जिस पकार चुम्बक मे लोहा को खींचने की और लोहा मे खिच जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा मे कर्म रूप पुद्गल को खीचने की और कर्म रूप पुद्गल मे खिचे जाने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह

१. आस्रवनिरोधः संवरः। तत्वार्थ सूत्र—गृद्धपिच्छाचार्य

रूप बन्ध हो रहा है। इस बन्ध का प्रमुख कारण स्नेह-भाव रागभाव है। जिस प्रकार धूलिबहुल स्थान में व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण शरीर में लगा हुआ स्नेह है, उसी प्रकार कार्मणवर्गणा से भरे हुए इस संसार में योग रूप व्यायाम को करने वाले जीव के साथ जो कर्मों का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह रागभाव ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बंध अवस्था को प्राप्त होता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ो वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बंध अवस्था को प्राप्त नही कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का आचरण तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नहीं।

समस्त कर्मों से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसकी पूर्व होने वाली बंध अवस्था का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बन्ध के कारणों को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र मन्द व मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है, पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नही हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छैनी और हथौड़ा लेकर उसके छेदन का पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार अनादि काल के कर्मबन्धन से पड़ा हुआ यह जीव कर्मबन्धन के कारणों को जानता है तथा उसके भेद और तीव्र मन्द व मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्र रूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये बिना कर्मबन्धन से मुक्त होना दुर्लभ है।

हे प्राणी! मात्र ज्ञान और श्रद्धा के लिये हुये तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है परन्तु कर्मबन्धन से मुक्त नही हो पाता, परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहाँ सम्यक चरित्र रूप पुरुषार्थ को अंगीकृत करता है वहाँ तेरा काम बनने में विलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है। प्रज्ञा-भेदविज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग-अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये।

इस प्रकार अध्यात्म, जीवाजीवादि पदार्थों की व्याख्या अपने ढंग से करता है।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या में अध्यात्म, अनेक शास्त्रों के ज्ञान को महत्व नहीं देता। उसका प्रमुख लक्ष्य पर पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मतत्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इसके होने पर अष्टप्रवचनमातृका जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव बारहवें गुणस्थान तक पहुंच जाता है और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। परन्तु आत्म ज्ञान के बिना ग्यारह अंग और नौ पूर्वों का पाठी होकर भी अनन्त काल तक संसार में भटकता रहता है। अन्य ज्ञानों की बात जाने दो, अध्यात्म तो केवलज्ञान के विषय में भी यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवलज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को[1]। यह ठीक है कि केवलज्ञानी की आत्मज्ञान में ही सर्वज्ञता निहित है, परन्तु यह भी निश्चित है कि केवलज्ञानी को अन्य पदार्थों को जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नहीं होता।

अध्यात्म, यथाख्यात चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है, क्योंकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है। महाव्रत और समिति के विकल्परूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थाना आदि चारित्र है वे पहले ही निवृत हो जाते हैं औपशमिक यथाख्यात चरित्र मोक्ष का साक्षात् साधक नहीं है। उसे धारण करने वाला उपशान्त मोह गुण-स्थानवर्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे आता है, परन्तु क्षय से होने वाला यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साधक नियम से है। उसके होने पर यह जीव

---

१. सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त।२७५।
—समयसार कुन्कुन्द

उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है: स्वरूप मे स्थिरता यथाख्यात चारित्र से ही होती है।

इस प्रकार अध्यात्म की देशना में निश्चय रत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। व्यवहार रत्नत्रय अथवा भेदरूप रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्षमार्ग माना जाता है।

महावीर स्वामी की अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है, पर प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों में भी यथाप्रसग अध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है। कुन्कुन्द स्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्बन्धी पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहार पक्ष को भी प्रकट करते चलते हैं।

कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्मदेशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र, इष्टोपदेश में पुष्कलता से पाते हैं। योगीन्द्र देव का परमात्माप्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप में आचार्य पद्मनन्दी तथा पण्डितप्रवर आशाधर जी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है। अमृतचन्द्रसूरि ने कुन्दकुन्द स्वामी के अध्यात्म रूप उपवन की सुरभि से ससार को सुरभित किया है यशस्तिलकचम्पू तथा नीति-वाक्यामृत के कर्ता सोमदेवाचार्य की अध्यात्मामृततरंगिणी भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है। □

१. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं। केवलणाणी जाणदि पस्सदि नियमेण अप्पाणं।१५९।

नियमसार, कुन्दकुन्द

भागवत में भगवान् ऋषभदेव

भारतीय रहस्यवाद के विकास की रूपरेखा देते हुए आर. डी. रानाडे ने भागवत पुराण, (स्कंद ५ श्लाक ५-६) से एक अन्य प्रकार के योगी का मनोरंजन प्रसग उद्धृत किया है जिसकी परम विदेहता हो उसकी आत्मानुभूति का स्पष्टतम प्रमाण था। उद्धरण यह है: 'हम पढ़ते है कि अपने पुत्र भरत को पृथ्वी का राज सौपकर किस प्रकार उन्होंने संसार से निर्लिप्त और एकांत जीवन बिताने का निश्चय किया; कैसे उन्होंने एक अधे, बहरे या गूगे मनुष्य का जीवन बिताना प्रारम्भ किया; किस प्रकार वे नगरों और ग्रामो में, खानो और उद्यानो मे, वनों और पर्वतो मे समान मनोभाव से रहने लगे; किस प्रकार उन्होने उन लोगों से घोर अपमानित होकर भी मन मे विकार न आने दिया जिन्होंने उन पर पत्थर और गोबर फेंका या उन पर मूत्र-त्याग किया या उन्हे सभी प्रकार से तिरस्कार का पात्र बनाया, यह सब होते हुए भी किस प्रकार उनका दीप्त मुखमण्डल और पुष्ट सुगठित शरीर, उनके सबल हस्त और मुस्कराते होठ राजकीय अन्त:पुर की महिलाओं को आकृष्ट करते थे; वे अपने शरीर से किस सीमा तक निर्मोह थे कि वे उसी स्थान पर मलत्याग कर देते जहाँ वे भोजन करते, तथापि, उनका मन कितना सुगंधित था कि उसके दस मील आसपास का क्षेत्र उससे सुवासित हो उठता; कितना अटल अधिकार था उनका उपनिषदों मे वर्णित सुख की सभी अवस्थाओं पर; कैसे उन्होंने अंततोगत्वा संकल्प किया शरीर पर विजय पाने का; जब उन्होंने भौतिक शरीर मे अपने सूक्ष्म शरीर को विलीन करने का निश्चय किया उस समय वे कर्नाटक तथा अन्य प्रदेशों मे भ्रमण कर रहे थे; वहाँ दिगम्बर, एकाकी और उन्मत्तवत् भ्रमण करते समय वे बांस के झुरमुट से उत्पन्न भीषण दावानल की लपटों मे जा फसे थे और तब किस प्रकार उन्होंने अपने शरीर का अंतिम समर्पण अग्निदेव को कर दिया था। यह विवरण वस्तुत: जैन परम्परा के अनुरूप है जिसमें उनके प्रारंभिक जीवन के अन्य विवरण भी विद्यमान हैं। कहा गया है कि उनकी दो हस्तियां थी—सुमगला और सुनन्दा; पहली ने भरत और ब्राह्मी को जन्म दिया और दूसरी ने बाहुबली और सुन्दरी को। सुनन्दा ने और अट्ठानवें पुत्रों को जन्म दिया। इस परपरा से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऋषभदेव बचपन मे जब एक बार पिता की गोद मे बैठे थे तभी हाथ में इक्षु (गन्ना) लिए यहाँ आया। गन्ने को देखते ही ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए अपना मांगलिक लक्षणों से युक्त हाथ फैला दिया, बालक की इक्षु के प्रति अभिरुचि देखकर इन्द्र ने उस परिवार का नाम इक्ष्वाकु रख दिया।

प्राकृत साहित्य में समता का स्वर

□ डा० प्रेमसुमन जैन

प्राकृत साहित्य कई दृष्टियों से सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र से समता का पोषक है। इस साहित्य की आधार शिला ही समता है क्योंकि भाषागत, पात्रगत एवं चिन्तन के धरातल पर समत्वबोध के अनेक उदाहरण प्राकृत साहित्य में उपलब्ध हैं।

जन-भाषाओं का सम्मान:

भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रारम्भ से ही संस्कृत भाषा को अधिक महत्व मिलता रहा है। संस्कृत की प्रधानता के कारण जन सामान्य की भाषाओं को प्रारम्भ मे वह स्थान नहीं मिल पाया जिसकी वे अधिकारिणी थी। अतः साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे भाषागत विषमता ने कई विषमताओं को जन्म दिया है। प्रबुद्ध और लोक-मानस के बीच एक अन्तराल बनता जा रहा। प्राकृत साहित्य के मनीषियों ने प्राकृत भाषा को साहित्य और चिन्तन के धरातल पर संस्कृत के समान प्रतिष्ठा प्रदान की। इससे भाषागत समानता का सूत्रपात हुआ और संस्कृत तथा प्राकृत, समान्तर रूप से भारतीय साहित्य और आध्यात्म की संवाहक बनी।

प्राकृत साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है। पालि, अर्ध-मागधी, अपभ्रंश आदि विभिन्न विकास की दशाओं से गुजरते हुए प्राकृत साहित्य पुष्ट हुआ है। प्राकृत भाषा के साहित्य में देश की उन सभी जन बोलियों का प्रतिनिधित्व हुआ है, जो अपने-अपने समय में प्रभाववाली थीं। अतः प्रदेशगत एवं जातिगत सीमाओं को तोड़कर प्राकृत साहित्य ने पूर्व से मागधी उत्तर से शौरसेनी पश्चिम से पैशाची दक्षिण से महाराष्ट्री आदि प्राकृतों को सहर्ष स्वीकार किया है किसी साहित्य में भाषा की यह विविधता उसके समत्वबोध की ही द्योतक कही जायेगी।

शब्दगत-समता :—

भाषागत ही नहीं, अपितु शब्दगत समानता को भी प्राकृत साहित्य मे पर्याप्त स्थान मिला है। केवल विभिन्न प्राकृतों के शब्द ही प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं अपितु लोक मे प्रचलित उन देशज शब्दों को भी प्राकृत साहित्य मे भरमार है जो आज एक शब्द-सम्पदा के रूप में विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं मे कन्नड़ तमिल आदि के अनेक शब्द प्राकृत साहित्य मे प्रयुक्त हुए है। संस्कृत के कई शब्दो का प्राकृती-करण कर उन्हें अपनाया गया है। अतः प्राकृत साहित्य में शब्दो मे यह विषमता स्वीकार नही की गयी है कि कुछ विशिष्ट शब्द उच्च श्रेणी के है कुछ निम्न श्रेणी के कुछ ही शब्द परमार्थ का ज्ञान, करा सकते हैं कुछ नहीं। इत्यादि।

शिष्ट और लोक का समन्वय :—

प्राकृत साहित्य कथावस्तु और पात्र-चित्रण की दृष्टि से भी समता का पोषक है। इस साहित्य की विषय वस्तु में जितनी विविधता है, उतनी और कहीं उपलब्ध नहीं है। संस्कृत मे वैदिक साहित्य की विषय वस्तु का एक निश्चित स्वरूप है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थो मे आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व का ही प्राधान्य है। महा-भारत इसका अपवाद है, जिसमें लोक और शिष्ट दोनो वर्गों के जीवन की झाँकियाँ है किन्तु आगे चलकर संस्कृत मे ऐसी रचनायें नहीं लिखी गयी। राजकीय जीवन और सुख समृद्धि के वर्णक ही इस साहित्य को भरते रहे, कुछ अपवादों को छोड़कर।

प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमे राजाओं की कथाएं है तो लकड़हारों और छोटे-छोटे कर्म शिल्पियो की भी। बुद्धि-मानों के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है तो भोले अज्ञानी पात्रों की सरल भंगिमाएं भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओं के नायक हैं तो शूद्र और वैश्य जाति के साहसी युवकों की गौरवगाथा भी इस साहित्य में वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ में देखा जा सकता है। 'कुवलयमालाकहा, और समराइच्चकहा, इस

प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। नारी और पुरुष पात्रों का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नहीं है इस साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पुत्र और पुत्रियों के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है। अतः सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य प्राकृत साहित्य मे उपस्थित किए हैं। उनमें निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज में समता।

प्राणीमात्र की समता :—

आध्यात्मिक क्षेत्र मे समता के विकास के लिए प्राकृत साहित्य का अपूर्व योगदान है। प्राणी मात्र को समता की दृष्टि से देखने के लिए समस्त आत्माओं के स्वरूप को एक माना गया है। देहगत विषमता कोई अर्थ नही रखती है यदि जीवगत समानता की दिशा मे चिन्तन करने लग जाए। सब जीव समान है इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत साहित्य मे अनेक उदाहरण दिए गये हैं। परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं। ज्ञान की शक्ति सब जीवो मे समान है जिसे जीव अपने-अपने प्रयत्नो से विकसित करता है। शारीरिक विषमता पुद्गलो की बनावट के कारण है। जीव पौद्गलिक है अत: सब जीव समान है। देह और जीव मे भेद-दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहरायी से समाधित किया है। परमात्मप्रकाश में कहा गया है कि जो व्यक्ति देह भेद के आधार पर जीवो मे भेद करता है, वह दर्शन ज्ञान, चारित्र को जीव का लक्षण नही मानता। यथा—

देहिविभेयइ जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु।
सो ण विलक्खणु मुणई तहं दंसणु-णाणु-चरित्तु ॥१०२॥

अभय से समत्व :—

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर परिवार धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे-धीरे विषमता की खाई बढ़ती जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है कि समता उसी के होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है।

सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भएण दंसए।

—१-२-२-१७।

अतः अभय से समता का सूत्र प्राकृत ग्रन्थों ने हमें दिया है वस्तुतः जब तक हम अपने को भयमुक्त नहीं करेंगे तब तक दूसरों को समानता का दर्जा नहीं दे सकते। अतः आत्मा के स्वरूप को समझकर राग द्वेष से ऊपर उठना ही अभय मे जीना है, समता की स्वीकृति है।

विषमता की जननी व्यक्ति का अहंकार भी है। पदार्थों की अज्ञानता से अहंकार का जन्म होता है। हम मान में प्रसन्न और अपमान में क्रोधित होने लगते हैं और हमारा ससार दो खेमों में बंट जाता है। प्रिय और अप्रिय की टोलियां बन जाती हैं। प्राकृत के ग्रन्थ यही हमें सावधान करते हैं। 'दसवैकालिक का सूत्र है कि जो वन्दना न करें उस पर कोप मत करो और वन्दना करने पर उत्कर्ष (घमड) में मत आओ—

जे न वन्दे न से कुप्पे वंदिओ न समुक्क से।

—५-२-३०।

तो तुम समता धारण कर सकते हो।

अप्रतिबद्धता : समता :—

समता के विकास में एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वयं को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष पैदा हो गया है, उसका वह अनिस्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य में इस दृष्टि से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है अतः 'भगवती आराधना' मे कहा गया है कि सब वस्तुओ से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन) वही सब जगह समता को प्राप्त करता है—

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं।

(भ० आ० १६८३)

समता सर्वोपरि :—

समता की साधना को प्राकृत भाषा के मनीषियों ने ऊंचा स्थान प्रदान किया है। अभय की बात कहकर

(शेष पृष्ठ १७ पर)

सम्राट् मुहम्मद तुगलक और महान जैन शासन-प्रभावक श्री जिनप्रभ सूरि

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन ग्रन्थों में जैन शासन की समय-समय पर महान् प्रभावना करने वाले आठ प्रकार के प्रभावक-पुरुषों का उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रभावक पुरुषों के सम्बन्ध में प्रभावक-चरित्रादि महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये हैं। आठ प्रकार के प्रभावक पुरुष इस प्रकार माने गए है—प्रावचनिक धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावान्, सिद्ध और कवि। इन प्रभावक पुरुषों ने अपने असाधारण प्रभाव से आपत्ति के समय जैन शासन की रक्षा की, राजा-महाराजा एवं जनता को जैन धर्म को प्रतिबोध द्वारा शासन की उन्नति की एव शोभा बढाई। आर्यरक्षित अभयदेवसूरि को प्रावचनिक, पादलिप्तसूरि को कवि, विद्याबली और सिद्धविजयदेवसूरि व जीवदेवसूरि को सिद्ध, मल्लवादी वद्धवादी और देवसूरि को वादी, बप्पभट्टिसूरि, मानतुंग-सूरि को कवि, सिद्धर्षि को धर्मकथी महेन्द्रसूरि को नैमित्तिक आचार्य हेमचन्द्र को प्रावचनिक धर्मकथी और कवि प्रभावक, 'प्रभावक-चरित्र' की मुनि कल्याण विजय जी की महत्वपूर्ण प्रस्तावना मे बतलाया गया है।

खरतरगच्छ मे भी जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, मणिधारी-जिनचन्द्रसूरि, और जिनपतिसूरि ने विविध प्रकार से जिन शासन की प्रभावना की है। जिनपतिसूरि के पट्टधर जिनेश्वरसूरि के दो महान् पट्टधर हुए—जिनप्रबोधसूरि तो ओसवाल और जिनसिंहसूरि श्रीमालसंघ मे विशेष धर्म प्रचार करते रहे। इसलिए इन दो आचार्यों से खरतरगच्छ की दो शाखाएं अलग हो गई। जिनसिंहसूरि की शाखा का नाम खरतर लघु आचार्य प्रसिद्ध हो गया, जिनके शिष्य एव पट्टधर जिनप्रभसूरि बहुत बड़े शासन प्रभावक हो गए हैं, जिनके सम्बन्ध में भारतीय इतिहासकारो व साधारणतया लोगों को बहुत ही कम जानकारी है। इसलिए यहाँ उनका आवश्यक परिचय दिया जा रहा है।

वृद्धाचार्य प्रबन्धावली के जिनप्रभसूरि प्रबन्ध में प्राकृत भाषा मे जिनप्रभसूरि का अच्छा विवरण दिया गया है, उनके अनुसार ये मोहिल वाड़ी-लाडनू राजस्थान के श्रीमाल ताम्बी गोत्रीय श्रावक महाधर के पुत्र रत्नपाल की धर्म पत्नी खेतलदेवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। इनका नाम सुभटपाल था। सात-आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही पद्मावती देवी के विशेष संकेत द्वारा श्री जिनसिंहसूरि ने उनके निवास स्थान मे जाकर सुभटपाल को दीक्षित किया सूरि जी ने अपनी आयु अल्पज्ञात कर सं० १३४१ किढवाणा नगर में इन्हे आचार्य पद देकर अपने पट्टपर स्थापित कर दिया। 'उपदेश सप्ततिका', में जिनप्रभसूरि सं० १३३२ मे हुए लिखा है, यह सम्भवत: जन्म समय होगा। थोड़े ही समय में जिनसिंह सूरि जी ने जो पद्मावती आराधना की थी वह उनके शिष्य-जिनप्रभसूरि जी को फलवती हो गई और आप व्याकरण, कोश, छंद, लक्षण, साहित्य, न्याय, षट्दर्शन, मन्त्र-तंत्र और जैन दर्शन के महान् विद्वान् बन गए। आपके रचित विशाल और महत्वपूर्ण विविध विषयक साहित्य से यह भली-भांति स्पष्ट है। अन्य गच्छीय और खरतरगच्छ की रुद्रपल्लीय शाखा के विद्वानो को आपने अध्ययन कराया एव उनके ग्रन्थों का संशोधन किया।

असाधारण विद्वत्ता के साथ-साथ पद्मावती देवी के सान्निध्य द्वारा आपने बहुत से चमत्कार दिखाये हैं जिनका वर्णन खरतरगच्छ पट्टावलियों से भी अधिक तपागच्छीय ग्रन्थों मे मिलता है और यह बात विशेष उल्लेख योग्य है। सं० १५०३ मे सोमधर्म ने उपदेश-सप्ततिका नामक अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ के तृतीय गुरुत्वाधिकार के पंचम उपदेश में जिनप्रभसूरि के बादशाह को प्रतिबोध एवं कई

चमत्कारों का विवरण दिया है। प्रारम्भ में लिखा है कि इस कलियुग में कई आचार्य जिन शासन रूपी घर में दीपक के समान हुए। इस सम्बन्ध में म्लेच्छ पति को प्रतिबोध को देने वाले श्री जिनप्रभसूरि का उदाहरण जानने लायक है। अन्त में निम्न श्लोक द्वारा उनकी स्तुति की गई है—

स श्री जिनप्रभः सूरि र्दूरिताशेष तामसः।
भद्रं करोतु संघाय, शासनस्य प्रभावकः ॥१॥

इसी प्रकार संवत् १५२१ में तपागच्छीय शुभशील गणि ने प्रबन्ध पचशती नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया जिसके प्रारम्भ में ही श्री जिनप्रभसूरि जी के चमत्कारिक १६ प्रबन्ध देते हुए अन्त में लिखा है—

'इति कियन्तो जिनप्रभसूरि अवदातसम्बन्धाः"

इस ग्रन्थ में जिनप्रभसूरि सम्बन्धी और भी कई ज्ञातव्य प्रबन्ध हैं। उपरोक्त १६ के अतिरिक्त नं० २०, ३०६, ३१४ तथा अन्य भी कई प्रबन्ध आपके सम्बन्धित हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह मे मुनि जिनविजय जी के प्रकाशित जिनप्रभसूरि उत्पत्ति प्रबन्ध व अन्य एक रविवर्द्धन लिखित विस्तृत प्रबन्ध है। खरतरगच्छ-वृहद्-गुरुवावली-युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अत मे जो वृद्धाचार्य प्रबन्धावली नामक प्राकृत की रचना प्रकाशित हुई है। उसमें जिनसिंह सूरि और जिनप्रभसूरि के प्रबन्ध खरतरगच्छीय विद्वानों के लिखे हुए है। एवं खरतरगच्छ की पट्टावली आदि मे भी कुछ विवरण मिलता है पर सबसे महत्वपूर्ण घटना या कार्य विशेष का समकालीन विवरण विविध तीर्थकल्प के कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प और उसके कल्प परिशेष मे प्राप्त है। उसके अनुसार जिनप्रभसूरि जी ने यह मुहम्मद तुगलक से बहुत बड़ा सम्मान प्राप्त किया था। उन्होने कन्नाणा की महावीर प्रतिमा सुलतान से प्राप्त कर दिल्ली के जैन मन्दिर मे स्थापित करायी थी। पीछे से मुहम्मद तुगलक ने जिनप्रभसूरि के शिष्य 'जिनदेवसूरि को सुरत्तान सराइ दी थी' जिनमे चार सौ श्रावकों के घर, पोषधशाला व मन्दिर बनाया उसी मे उक्त महावीर स्वामी को विराजमान किया गया। इनकी पूजा व भक्ति श्वेताम्बर समाज ही नहीं, दिगम्बर और अन्य मतावलम्बी भी करते रहे हैं।

कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प के लिखने वाले 'जिनसिंहसूरि-शिष्य' बतलाये गये हैं अतः जिनप्रभसूरि या उनके किसी गुरु-भ्राता ने इस कल्प की रचना की है। इसमे स्पष्ट लिखा है कि हमारे पूर्वाचार्य श्री जिनपतिसूरि जी ने सं० १२३३ के आषाढ़ शुक्ल १० गुरुवार को इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी और इसका निर्माण जिनपतिसूरि के चाचा मानदेव ने करवाया था। अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के निधन के बाद तुर्कों के भय से सेठ रामदेव के सूचनानुसार इस प्रतिमा को कंयवास स्थल की विपुल बालू मे छिपा दिया गया था। स० १३११ के दारुण दुर्भिक्ष में जोज्जग नामक सूत्रधार को स्वप्न देकर यह प्रतिमा प्रगट हुई और श्रावकों ने मन्दिर बनवाकर विराजमान की। सं० १३८५ मे हासी के सिकदार ने श्रावको को बन्दी बनाया और इस महावीर बिम्ब को दिल्ली लाकर तुगलकाबाद के शाही खजाने मे रख दिया।

जनपद विहार करते हुए जिनप्रभसूरि दिल्ली पधारे और राज सभा मे पडितों की गोष्ठी के द्वारा सम्राट को प्रभावित कर इस प्रभु-प्रतिमा को प्राप्त किया। मुहम्मद तुगलक ने अर्द्ध-रात्रि तक सूरिजी के साथ गोष्ठी की और उन्हे वही रखा। प्रातःकाल संतुष्ट सुलतान ने १००० गायें, बहुत सा द्रव्य, वस्त्र-कबल, चदन, कर्पूरादि सुगधित पदार्थ सूरिजी को भेंट किया। पर गुरुश्री ने कहा ये सब साधुओं को लेना अकल्प्य है। सुलतान के विशेष अनुरोध से कुछ वस्त्र-कंबल उन्होने 'राजाभियोग' से स्वीकार किया और मुहम्मद तुगलक ने बड़े महोत्सव के साथ जिनप्रभसूरि और जिनदेवसूरि को हाथियों पर आरूढ़ कर पोषधशाला पहुंचाया। समय-समय पर सूरिजी एव उनके शिष्य जिनदेवसूरि की विद्वत्तादि से चमत्कृत होकर सुलतान ने शत्रुंजय, गिरनार, फलोदी आदि तीर्थों की रक्षा के लिए फरमान दिए। कल्प के रचयिता ने अन्त में लिखा है कि महम्मदशाह को प्रभावित करके जिनप्रभसूरि-जी ने बड़ी शासन प्रभावना एव उन्नति की। इस प्रकार पचमकाल मे चतुर्थ आरे का भास कराया।

उपर्युक्त कन्नाणय महावीर कल्प का परिशेष रूप अन्य कल्प सिंहतिलकसूरि के आदेश से विद्यातिलक मुनि

ने लिखा है जिसमें जिनप्रभसूरि और जिनदेवसूरि की शासन प्रभावना व मुहम्मद तुगलक को सविशेष प्रभावित करने का विवरण है। ये दो ही कल्प जिनप्रभसूरिजी की विद्यमानता में रचे गए थे। इसी प्रकार उन्ही को समकालीन रचित जिनप्रभसूरि गीत तथा जिनदेवसूरि गीत हमें प्राप्त हुए जिन्हे हमने स० १९९४ मे प्रकाशित अपने ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह मे प्रकाशित कर दिया है। उनमे स्टष्ट लिखा है सं० १३८५ के पोष शुक्ल ८ शनिवार को दिल्ली में मुहम्मदशाह से श्रीजिनप्रभसूरि मिले सुलतान ने उन्हे अपने पास बैठा कर आदर दिया। सूरिजी ने नवीन काव्यो द्वारा उसे प्रसन्न किया। सुलतान ने इन्हें धन-कनक आदि बहुत सी चीजें दी और जो चाहिए, मांगने को कहा पर निरीह सूरिजी ने उन अकल्प्य वस्तुओ का ग्रहण नही किया। इससे विशेष प्रभावित होकर उन्हें नई बस्ती आदि का फरमान दिया और वस्त्रादिद्वारा स्वहस्त से इनकी पूजा की।

स० १९८६ मे पं० लालचन्द भ० गांधी का जिनप्रभसूरि और सुलतान मुहम्मद सम्बन्धी एक ऐतिहासिक निबन्ध 'जैन' के रौप्य महोत्सव अंक में प्रकाशित हुआ। जिसे श्री हरिसागर सूरिजी महाराज की प्रेरणा से परिवर्द्धित कर पंडितजी ने ग्रन्थ रूप मे तैयार कर दिया, जिसे स० १९९५ में श्रीजिनहरिसागरसूरि ज्ञान भण्डार, लोहावट से देवनागरी लिपि व गुजराती भाषा में प्रकाशित किया गया।

प्रतिभासम्पन्न महान् विद्वान जिनप्रभसूरिजी की दो प्रधान रचनाएं विविधतीर्थकल्प और विधि मार्ग-प्रपा मुनि जिनविजयजी ने सम्पादित की है, उनमे से विधिप्रपा मे हमने जिप्रभसूरि सम्बन्धी निबन्ध लिखा था। इसके बीच हमारा कई वर्षों से यह प्रयत्न रहा कि सूरि महाराज सम्बन्धी एक अध्ययनपूर्ण स्वतन्त्र वृहद्ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय और महो० विनयसागर जी को यह काम सौंपा गया। उन्होंने वह ग्रन्थ तैयार भी कर दिया है, साथ ही सूरि जी के रचित स्तोत्रों का संग्रह भी संपादित कर रखा है। हम शीघ्र ही उस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशन करने में प्रयत्नशील हैं।

सूरि जी सम्बन्धी प्रबन्धों की एक सतरहवी शती की लिखित संग्रह प्रति हमारे संग्रह में है, पर वह अपूर्ण ही प्राप्त हुई। हम उपदेश सप्तति, प्रबन्ध-पंचशती एवं प्रबन्ध संग्रहादि प्रकाशित प्रबन्धों को देखने का पाठकों को अनुरोध करते हैं जिससे उनके चामत्कारिक प्रभाव और महान् व्यक्तित्व का कुछ परिचय मिल जायगा। जिन प्रभसूरि जी का एक महत्वपूर्ण मंत्र-तंत्र संबंधी ग्रन्थ रहस्य-कल्पद्रुम भी अभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुआ, उसकी खोज जारी है। सोलहवीं शताब्दी की प्रति का प्राप्त अन्तिम पत्र यहां प्रकाशित किया जा रहा है। 'रहस्य कल्पद्रुम' का प्राप्त अंश—

त सघ प्रत्यनीकानां भयंकरादेशा:। करीयं जय:। स्वदेशे जय: परदेशे अपराजितत्वं *तीर्थाद्रिप्रत्यनीकमध्ये एतत्त्रयमस्य महापीठस्य स्मरणेन भवति।* ॐ ह्रीं महमातंगे शुचि चंडाली अमुक दह २ पच २ मथ २ उच्चाटय २ हुंफुट् स्वाहा॥ कृष्ण खडी खंड १०८ होमयेत् उच्चाटनं विशेषत:। सपत्नी विषये। ॐ रक्त चामुंडे नर शिर तुड मुह मालिनी अमुकी आकर्षय २ ह्रीँ नम:। आकृष्टि मत्र सहस्त्रत्रयजापात् सिद्धि: सिद्धि: पश्चात् १०८ आकर्षयति। ॐ ह्रीँ प्रत्यगिरे महाविद्ये येन केनचित् पापं कृतं कारितं अनुमतं वा नश्यतु तत्पापं तत्रैव गच्छतु"

ॐ ह्रीँ प्रत्यगिरे महाविद्ये स्वाहा वार २१ लवणडली जप्त्वा आतुरस्योपरि भ्रामयित्वा कांजिके क्षिप्त्वा। आतुरे ढाल्यते कार्मणं भद्रो भवति।

उभयलिंगी बीज ७ साठी चोखा ६ पली गोदूध १ ऋतुस्नातायाः पान देयं स्निग्ध मधुरभोजनं। ऋतुगर्भोत्पत्तिप्रधानसूकडिदुवारन् वात् एकवर्णगोदुग्धेन पीयते गर्भाधानादिन ७५ अनंतर दिन ३ गर्भक्षय:॥ ७॥

संवत् १५४६ वर्षे श्रावण सुदि १३ त्रयोदशी दिने गुरौ श्रीमडपमहादुर्गे श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरि पट्टालकार श्री जिनचन्द्रसूरि पट्टोदया चलचूला सहस्रकरावतावतार श्री संप्रतिविजयमान श्रीजिन समुद्रसूरि विजयराज्ये श्री वादीन्द्रचक्र चूणामणि श्री तपोरत्न महोपाध्याय विनेय वाचनाचार्य वर्य श्री साधुराज गणिवराणामादेशेन शिष्यलेश···लेखि श्री रहस्य कल्पद्रुममहाम्नाय:॥ ७॥ ७॥ श्रेयोस्तु। पं० भक्तिवल्लभ गणिसान्निध्येन॥

[पत्र ११वां प्राप्त किनारे त्रुटित]

उपर्युक्त ग्रन्थ का उल्लेख जिनप्रभसूरि जी ने व उनके समकालीन रुद्रपल्लीय सोमतिलकसूरि रचित लघुस्तव टीकादि में प्राप्त है। यह टीका सं० १३६७ में रची गई और राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित है। बीकानेर में वृहद् ज्ञान भंडार में हमे बहुत वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का कुछ अंश प्राप्त हुआ था जिसे 'जैन सिद्धान्त भास्कर' एवं 'जैन सत्यप्रकाश' में प्रकाशित किया। उसके बाद उपर्युक्त १३वीं शती की प्रति का अन्तिम पत्र प्राप्त हुआ। इस प्राप्त अंश की नकल ऊपर दी है। इस ग्रन्थ राज की पूरी प्रति का पता लगाना आवश्यक है। किसी भी सज्जन को इसकी पूरी प्रति की जानकारी मिले तो हमें सूचित करने का अनुरोध करते हैं।

श्री जिनप्रभसूरि जी और उनके विविध तीर्थ कल्प के संबंध मे मुनिजिनविजय जी ने लिखा है—ग्रन्थकार 'जिनप्रभ सूरि' अपने समय के एक बडे भारी विद्वान और प्रभावशाली थे। जिनप्रभसूरि ने जिस तरह विक्रम की सतरहीं शताब्दी में मुगल व सम्राट अकबर बादशाह के दरबार मे जैन जगद्गुरु हीरविजयसूरि (और युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि) ने शाही सम्मान प्राप्त किया था उसी तरह जिनप्रभसूरि ने भी चौदहवी शताब्दी मे तुगलक सुल्तान मुहम्मदशाह के दरबार मे बड़ा गौरव प्राप्त किया। भारत के मुसलमान बादशाहों के दरबार में जैन धर्म का महत्व बतलाने वाले और उसका गौरव बढाने वाले शायद सबसे पहले ये ही आचार्य हुए।

विविधतीर्थकल्प नामक ग्रन्थ जैन साहित्य की एक विशिष्ट वस्तु है। ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों प्रकार के विषयों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत कुछ महत्व है। जैन साहित्य मे ही नही, समग्र भारतीय साहित्य में भी इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। यह ग्रन्थ विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मे जैनधर्म के जितने पुरातन और विद्यमान तीर्थ स्थान थे उनके सम्बन्ध में प्रायः एक प्रकार की "गाइड बुक" है इसमें वर्णित उन तीर्थों का सक्षिप्त रूप से स्थान वर्णन भी है और यथाज्ञात इतिहास भी है।

प्रस्तुत रचना के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इतिहास और स्थल भ्रमण से रचयिता को बड़ा प्रेम था। इन्होंने अपने जीवन में भारत के बहुत से भागों में परिभ्रमण किया था। गुजरात, राजपूताना, मालवा, मध्य प्रदेश, वराड़, दक्षिण, कर्णाटक, तेलंग, बिहार कौशल, अवध, युक्तप्रान्त और पंजाब आदि के कई पुरातन और प्रसिद्ध स्थलों की इन्होंने यात्रा की थी। इस यात्रा के समय उस स्थान के बारे मे जो जो साहित्यगत और परम्पराश्रुत बातें उन्हे ज्ञात हुई। उनको उन्होंने संक्षेप में लिपिबद्ध कर लिया। इस तरह उस स्थान या तीर्थ का एक कल्प बना दिया और साथ ही ग्रन्थकार को संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में, गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार से ग्रन्थ रचना करने का एक सा अभ्यास होने के कारण कभी कोई कल्प उन्होंने संस्कृत भाषा में लिख दिया तो कोई प्राकृत में। इसी तरह कभी किसी कल्प की रचना गद्य मे कर ली तो किसी की पद्य मे। "प्रस्तुत विविध जीवकल्प का हमने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवा दिया है।

जिनप्रभसूरि का विधिप्रपाग्रन्थ भी विधि-विद्वानों का बहुत बडा और महत्वपूर्ण संग्रह है। जैन स्तोत्र आपने सात सौ बनाये कहे जाते हैं, पर अभी करीब सौ के लगभग उपलब्ध हैं। इतने अधिक विविध प्रकार के और विशिष्ट स्तोत्र अन्य किसी के भी प्राप्त नही है। कल्पसूत्र की "सन्देह विषौषधि" टीका स० १३६४ में सबसे पहले आपने बनाई। स० १३५६ मे रचित द्वयाश्रयमहाकाव्य आपकी विशिष्ट काव्य प्रतिभा का परिचायक है। स० १३५२ से १३६० तक की आपकी पचासो पचासो रचनायें स्तोत्रों के अतिरिक्त भी प्राप्त हैं। सूरिमंत्रकल्प एवं चूलिका ह्रींकारकल्प वर्द्धमानविद्या और रहस्यकल्पद्रुम आपकी विद्याओं व मंत्र-तंत्र सम्बन्धी उल्लेखनीय रचनायें हैं। अजितशांति, उवसग्गहर, भयहर अनुयोग चतुष्टय, महावीर स्तव, षडावश्यक, साधु प्रतिक्रमण, विदग्ध मुखमंडन आदि अनेक ग्रन्थों की महत्वपूर्ण टीकायें आप ने बनाई। कातन्त्रविभ्रमवृत्ति, हेमअनेकार्थशेषवृत्ति, रुचादिगण वृत्ति आदि आपकी व्याकरण विषयक रचनायें हैं। कई प्रकरण और उनके विवरण भी आपने रचे हैं, उन सबका यहाँ विवरण देना संभव नहीं।

जिनप्रभसूरि जी की एक उल्लेखनीय प्रतिमा-मूर्ति महातीर्थ शत्रुञ्जय की खरतर वसही में विराजमान है जिसकी प्रतिकृति जिनप्रभसूरि ग्रन्थ मे दी गई है। जिनप्रभसूरि की शिल्प परम्परा या शाखा सतरहवी शताब्दी तक तो बराबर चलती रही जिसमे चरित्रवर्द्धन आदि बहुत बडे-बडे विद्वान इस परम्परा मे हुए है।

जिनप्रभसूरि का श्रेणिक द्वयाश्रय काव्य पालीताना से अपूर्ण प्रकाशित हुआ था उसे सुसम्पादित रूप से प्रकाशन करना आवश्यक है।

हमारी राय मे श्री जिनप्रभसूरि जी को वही गौरव-पूर्ण स्थान मिलना चाहिए जो अन्य खरतर गच्छीय चारो दादा-गुरुओं का है। इनको इतिहास प्रकाशन द्वारा भारतीय इतिहास का एक नया अध्याय जुड़ेगा। सुलतान मुहम्मद तुगलक को इतिहासकारो ने अद्यावधि जिस दृष्टिकोण से देखा है, वस्तुतः वह एकाङ्गी है। जिनप्रभसूरि सम्बन्धी समकालीन प्राप्त उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि वह एक विद्या प्रेमी और गुणग्राही शासक था।

ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह मे प्रकाशित श्री जिनप्रभसूरि के एक गीत से श्री जिनप्रभसूरि जी ने अश्वपति कुतुबुद्दीन को भी रंजित व प्रभावित किया था—

आगमु सिद्धतुपुराण बखाणीइए, पडिबोहइ सव्वलोइए।
जिणप्रभसूरि गुरू सारिखउ हो, विरला दीसइ कोइ ए।
आठाही, आठामिहि चउपि, तेडावइसुरिताणु ए।
पुहसितु मुखुजिनप्रभसूरि चलियउ जिमि ससि इंदुविमाणि।
असपति कुतुबदीनु मनिरंजिउ, दीठेलि जिनप्रभसूरि ए॥
एकतिही मन सासउ पूछइ, राय मणारह पूरि ए॥

तपागच्छीय जिनप्रभसूरि प्रबन्धो मे पीरोजसाह को प्रतिबोध देने का उल्लेख मिलता है पर वे प्रबन्ध, सवा सौ वर्ष बाद के होनेसे स्मृति-दोष से यह नाम लिखा जाना संभव है।

नाहटों की गवाड़, बीकानेर

□□□

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

उन्होंने परिग्रह-संग्रह से मुक्ति का संकेत दिया है। भयातुर व्यक्ति ही अधिक परिग्रह करता है अतः वस्तुओं के प्रति ममत्व के त्याग पर उन्होंने बल दिया है, किन्तु समता के लिए सरलता का जीवन जीना बहुत आवश्यक बतलाया गया है। बनावटीपन से समता नही आयेगी, चाहे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे हो। यदि समता नहीं है, तो तपस्या करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, मौन रखना आदि सब व्यर्थ है—

किं काहदि वणवासो कायक्लेसो विचित्त उववासो।
अज्झय मोणपहुदी समदारहियस्स समणस्य॥

(नियमसार० १२४)

प्राकृत साहित्य मे सामायिक की बहुत प्रतिष्ठा है। सामायिक का मुख्य लक्षण ही समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से ही होती है। तृण-कंचन, शत्रु-मित्र आदि विषमताओं मे आसक्ति रहित हो कर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। यही समभाव सामायिक का तात्पर्य है। यथा—

समभावो सामइयं तण-कंचण सत्तु-मित्त विसउत्ति।
णिरभिसंगचित्तं उचिय पवित्तिप्पहाणं च॥

इस तरह प्राकृत साहित्य मे समता का स्वर कई क्षेत्रो में गुंजित हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उसका वर्तमान जीवन में व्यवहार हो। आज की विकट समस्याओं से जूझने के लिए समता दर्शन का व्यापक उपयोग किया जाना अनिवार्य हो गया है।

□□□

जैन कर्म-सिद्धान्त

□ श्री श्यामलाल पाण्डवीय

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता के अधिक निकट रही है। समय-समय पर अनेकों दिव्य एवं महान आत्माओ द्वारा विभूषित इस देश का इतिहास धर्म एवं दर्शन से अत्यधिक प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन के विविध पक्षों के रूप न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन मे हमे मानव जीवन के प्रति विविध मतो के दर्शन होते है। इनमे से चार्वाक को छोडकर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने परलोक पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की धारणा को ग्रहण किया है। ये सभी मानते है कि मानव जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

शाब्दिक दृष्टि से धर्म के तीन अर्थ प्रमुख है। पहला—कर्म कारक; कर्म का यह अर्थ जगत प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ है—क्रिया। इसके अनेक प्रकार है। सामान्यत: विविध दार्शनिको ने कर्म के द्वितीय अर्थ को आधार मानकर ही अपने विचार प्रकट किये है। तीसरा अर्थ है—जीव के साथ बधने वाले विशेष जाति के स्कन्ध। यह अर्थ अप्रसिद्ध है, केवल जैन सिद्धान्त ही इसका विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त

न्याय दर्शन के अनुसार मानव शरीर द्वारा सम्पन्न विविध कर्म; राग, द्वेष और मोह के वशीभूत होकर किये जाते है। अच्छा आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म को उत्पन्न करती है। धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म को अदृष्ट भी कहते हैं। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन मे कारण होता है। किन्तु अदृष्ट जड़ है और जड मे फलोत्पादन शक्ति चेतना की प्रेरणा के बिना सम्भव नही है। अत: ईश्वर की प्रेरणा से ही अदृष्ट फल देने मे सफल होता है।[1]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयस्कान्तमणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षो के भीतर रस का नीचे से ऊपर की ओर चढना' अग्नि की लपटो का ऊपर की ओर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की प्रथम परिस्पन्दात्मक क्रिया, ये सब कार्म अदृष्ट द्वारा होते हैं।[2]

सांख्य दर्शन के मत मे—"क्लेश रूपी सलिल से सिक्त भूमि मे कर्म बीज के अकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्वज्ञान रूपी ग्रीष्म के कारण क्लेश जल के सूख जाने पर ऊपर जमीन मे क्या कभी कर्म-बीज उत्पन्न हो सकते हैं।[3]

योग दर्शन के अनुसार पातन्जल योगसूत्र में क्लेश का मूल कर्माशय वासना को बतलाया है।[4] यह कर्माशय इस लोक और परलोक मे अनुभव मे आता है।

---

१. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, प्रो० उदयचन्द्र जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर किरण १. प्र० श्री देवकुमार जैन ओरियन्टल रिचर्च इन्सटीच्यु० आरा। पृष्ठ ३८

२. मणिगमन सूच्चभिसर्पणमित्यदृष्ट कारणम्।
वै०सू० ५।१।१५
वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्ट कारणम्। वै०सू० ५।२।७

३. क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्म—
—बीजाङ्कुरं प्रसुवते।
तत्वज्ञान निदाघपरीतसकलक्लेशसलिलायां ऊषरायां कुत: कर्मबीजानामंकुरप्रसव:।
—तत्व कौमुदी सांख्या का० ६७

४. क्लेशमूल: कर्माशय: दृष्टादृष्टवेदनीय:। योगसूत्र २।१२

मीमासा दर्शन के अनुसार-प्रत्येक कर्म मे अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अत: अपूर्व, कर्म और फल के बीच की अवस्था का द्योतक है। शकराचार्य ने इसीलिए अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है।[५]

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म से वासना उत्पन्न होती है। और वासना से ससार का उदय होता है। विज्ञान-दीपिका मे यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार घर मे तथा क्षेत्र मे स्थित अन्न का विनाश विविध रूप से किया जा सकता है, किन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन द्वारा ही होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग के द्वारा ही होता है।[६]

बौद्ध धर्म मे भी, जो कि अनात्मवादी है कर्मों की विभिन्नता को ही प्राणियो मे व्याप्त विविधता का कारण माना है। अगुत्तर निकाय मे सम्राट मिलिन्द के प्रश्नो के उत्तर मे भिक्षु नागसेन कहते है[७]—'राजन्'! कर्मों के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नही होते। भगवान ने भी कहा है कि मानवो का सद्भाव कर्मों के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी है। कर्मों के अनुसार ही योनियो मे जाते है। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है और वह जीव का उच्च और नीच रूप मे विभाग करता है।

यही नही भारत के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों मे कर्म सिद्धान्त की महत्ता तथा प्रकृति का यथा सम्भव उल्लेख मिलता है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि—प्राणी को कर्म का त्याग नही करना चाहिये, किन्तु कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। प्राणी का अधिकार कर्म करने मे ही है, फल मे नहीं।[८] महाभारत मे भी आत्मा को बाधने वाली शक्ति को कर्म कहा है।[९] गोस्वामी तुलसी दास ने भी रामचरित मानस मे कर्म को प्रधान कहा है,

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन मे कर्म सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है। लगभग सभी दर्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त के विषय मे अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रकट कर इसे जीवन दर्शन का प्रमुख आधार माना है।

जैन कर्म दर्शन—

जैन दर्शन मे कर्म सिद्धान्त का जितना सविस्तार विवेचन किया गया है, वह अन्य दर्शनो मे कर्म सिद्धान्त के विवेचन से कई गुना है। जैन वाङ्मय मे इस सम्बन्ध मे विपुल साहित्य भण्डार उपलब्ध है। प्राकृत भाषा का जैन ग्रन्थ 'महाबन्ध'' कर्म सिद्धान्त पर विश्व का सबसे वृहद ग्रन्थ है, जिसम चालीस हजार श्लोक है। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार तथा क्षपणासार आदि कर्म सिद्धान्त विषयक वृहद ग्रन्थ है। इस प्रकार जैन दर्शन मे कर्म को विशेष महत्व दिया गया है, तथा उसकी सूक्ष्म विवेचना की गई है।

'कर्म' का अर्थ—

मौलिक अर्थ की दृष्टि से तो कर्म का अर्थ वास्तव मे क्रिया से ही सम्बन्धित है। मन, वचन एव काय के

---

५. नचाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं कर्म विनश्यत्
कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति।
अत: कर्मणो व सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य
वा पूर्वावस्था अपूर्वनामास्तीति तर्क्यते।
शा. भा. ३।२।४०

६. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. ४०

७. 'महाराज कम्मानं नानाकरणेन मनुस्सा न सब्बे समका। भासितं एतं महाराज भगवता कम्मस्स कारणेन माणवसत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी, कम्मबन्धु कम्मपरिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनप्पणीततायीति।' —अगुत्तर निकाय

८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
—भगवद्गीता २।७

९. 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते',
—महाभारत-शान्तिपर्व (२४०।७)

द्वारा जीव जो कुछ करता है, वह सब क्रिया या कर्म है। मन, वचन और काय ये तीन उसके माध्यम हैं। इसे जीव कर्म या भावकर्म कहते हैं यहाँ तक कर्म की धारणा सभी को स्वीकार है। यह धारणा केवल संसारी जीवों की क्रिया पर ही विचार करती है, अर्थात् केवल चेतन की क्रियाएं ही इसकी विषय वस्तु है, जड़ की क्रियाओ अथवा जड़ एवं चेतन की क्रियाओं मे सम्बन्धो पर अन्य धारणाओ मे विचार नही किया जाता, जैन दर्शन इन दोनों के सम्बन्ध में भी गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस कारण उससे कर्म की व्याख्या अधिक व्यापक एव विस्तृत है। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की भौतिक व्याख्या करते हैं।

परिभाषा एवं व्याख्या

श्री क्षु० जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार[10] "भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड पुद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशो मे प्रवेश पाते है और उसके साथ बंधते है, यह बात केवल जैनागम ही बताता है। यह सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते है और रूप रसादि धारक मूर्तीक होते है। जैसे कर्म, जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बधते है और कुछ काल पश्चात परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय मे आते है उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते है। यही उनका फलदान कहा जाता है सूक्ष्मता के कारण वे दृष्ट नही है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक यह मानते है कि यदि 'कर्म' भौतिक स्वरूप का है, तो 'कारण' भी भौतिक स्वरूप का होगा। अर्थात् जैन धर्म यह मानता है कि चूकि विश्व की सभी वस्तुयें सूक्ष्म स्कन्धो या परमाणुओ से बनी है, अतः परमाणु ही वस्तु का 'कारण' है और चूंकि परमाणु भौतिक तत्व है, अतः वस्तुओ के 'कारण' भी भौतिक तत्व है, इस सम्बन्ध में आलोचकों की इस आपत्ति का कि "अनेको क्रियाएं, यथा-सुख, दुःख, पीड़ा आदि विशुद्ध रूप से मानसिक है, इसलिये उनके कारण भी मानसिक होने चाहिए, भौतिक नहीं।" उत्तर देते हुए कहा कि—ये अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नही है, क्योंकि सुख-दुःख इत्यादि अनुभव उदाहरणार्थ—भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक सत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नही होता, जैसे कि आकाश के साथ। अतः यह माना गया है कि—इन अनुभवो के पीछे 'प्राकृतिक कारण' है, और यही कर्म है। इसी अर्थ मे सभी मानवीय अनुभवों के लिये सुखद या दुखद तथा पसन्द या नापसंद कर्म जिम्मेदार है।[12]

इसी कारण विभिन्न जैन दार्शनिको ने जीव के रागद्वेषादिक परिणामो के निमित्त से जो कार्माणवर्गणा रूप पुद्गल-स्कन्ध जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हे कर्म कहा है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार—"जब रागद्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों मे प्रवृत्त होता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानवरणादि रूप से आत्म-प्रदेशो मे प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है[13]। श्री अकलंक देव ने कर्म की सोदाहरण व्याख्या करते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार पात्र विशेष मे रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्पतथा फलों का मदिरा रूप में परिणमन होता है; उसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायो तथा मन, वचन और काय योग के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे स्थित पुदगल परमाणुओ का कर्मरूप में परिणमन होता है।'[14]

---

१०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १ जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० २५

११. 'कर्म ग्रन्थ' ३

१२. जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, वाईली ईस्टर्न लि० पृ० १५१

१३. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोस जुदो। त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि॥
—प्रवचनासार ९५

१४. यथा भोजन विशेषे प्रक्षिप्ताना विविधरसबीज पुष्पलतानांमदिराभावेन परिमाणः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् परिणामो वेदितव्यः।
—तत्वार्थवार्तिक, पृ० २४६

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने कर्म की विशद एवं सूक्ष्म व्याख्या की है जो अन्य दर्शनों में की गई व्याख्याओं से नितान्त भिन्न है। जहाँ अन्य दर्शन परिणमन-रूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कह कर केवल परिस्पदन रूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, वहा जैन कर्म-सिद्धान्त इन दोनों को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन मे कर्म की यह व्याख्या अत्यन्त व्यापक है।

कर्म और आत्मा—

लगभग सभी दर्शन, जो कर्म की धारणा पर विचार करते है। कर्म को आत्मा मे सम्बन्धित अवश्य मानते है। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा अनादिकाल से कर्म बंधन से युक्त है कर्म बधन जन्म-जन्मान्तर मे आत्मा को बाँधे रहते है, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु एक दृष्टि से वह सादि भी है; जिस प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि है, और पर्याय की अपेक्षा मे वह सादि है, इसी प्रकार कर्मबधन सन्तान या उत्पत्ति की दृष्टि से अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि है। जैनदर्शन मे कर्म और आत्मा के सम्बन्ध मे इस व्याख्या के कारण ही आगे चलकर उसे वैज्ञानिक रूप दिया है जिस कारण वह अन्य दर्शनों से अलग है। जैन दर्शन कर्मबधन को अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि मानकर ही आगे यह और व्याख्या करता है कि—पर्याय की दृष्टि से सादि होने के कारण पूर्व के कर्मबंधनों को तोडा भी जा सकता है। कोई भी सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त नही हो जाते, विरोधी कारणों का समागम होने पर अनादि सम्बन्ध टूट भी जाते हैं, जिस प्रकार बीज और वृक्ष का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी, पर्याय विशेष मे सादि होता है, और पर्याय विशेष मे किसी बीज विशेष के जल जाने पर, अर्थात् विरोधी कारणों से समागम के कारण उसमे अंकुर उत्पन्न नही होता। इस विषय मे आचार्य अकलंक देव तत्वार्थराजवार्तिक (२/७) मे ऐसा ही दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल जाने पर अंकुर नही उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।

यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वभाव की सकारात्मक व्याख्या करते हुए उसे विशुद्ध एवं असीम क्षमताओं वाली कहा है। उनके अनुसार कर्म के दुष्ट प्रभाव के कारण वह अपने को सीमित अनुभव करती है। कर्म के इस दुष्ट प्रभाव से आत्मा को मुक्त करा पाने पर ही सद्कर्मों की उत्पत्ति होती है, सद्कर्मों से कर्मबध टूटते है और कर्मबन्धों से पूर्ण मुक्ति पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष की धारणा का विकास, कर्म दर्शन के विकास पर ही आधारित है।

कर्म के भेद—

जैन दार्शनिकों ने कर्म की वृहद् व्याख्या करते हुए कहा है कि—मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।[१५] इस प्रकार कर्म को दो आधारो भौतिक तथा मानसिक के आधार पर दो भेद किये गये है—'द्रव्य कर्म' एवं 'भाव कर्म'। द्रव्य कर्म का अर्थ है। जहा द्रव्य का आत्मा मे प्रवेश हो गया हो अर्थात् जहां रागद्वेषादि रूप भावो का निमित पाकर जो कार्माण वर्गणारूप पुदगल परमाणु आत्मा के साथ बँध जाते है उन्हें द्रव्यकर्म कहते है। यह पौद्गलिक है, और इनके और भी भेद किये गए है।

भावकर्म आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक है। इनमें इच्छा तथा अनिच्छा जैसी मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। अथात् ज्ञानारणादि रूप द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग द्वेषादि रूप भावों को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पारस्परिक कार्यकारण-परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इन दोनो मे नैमित्तिक सम्बन्ध है। भावकर्म का निमित्त द्रव्य कर्म है और द्रव्य कर्म का निमित्त भावकर्म है। रागद्वेषादि रूप

१५. मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीवं तहेव अण्णाण।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।
समयसार-मूल। ८७ प्र० अहिंसा मंदिर प्रकाशन, दिल्ली

भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बँधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा मे रागद्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है।[१६]

कर्म बन्ध

जैन दर्शन के अनुसार दोनो ही प्रकार के कर्मों से उत्पन्न कर्माणु विभिन्न कालावधियों के लिए मनुष्य को बांधकर रखते है। इस प्रकार कर्मबन्धन कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न अवस्था मे है। यह अवस्था कषाय एवं योग के कारण उत्पन्न होती है आचार्य गृद्धपिच्छ ने कहा है कि[१७] "जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म योग्य पुदगलों को ग्रहण करता है। इसी का नाम बन्ध है। शुद्ध आत्मा मे कर्म का बंध नही होता है, किन्तु कषायवान आत्मा ही कर्म का बँध करता है। आचार्य जिनसेनाचार्य ने भी कर्मबँध की लगभग ऐसी ही व्याख्या करते हुए कहा है कि—'यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट सकल्प द्वारा वस्तु मे प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है, इससे रागद्वेष उत्पन्न होता है और रागद्वेष से कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार रागद्वेष के निमित्त से ससार का चक्र चलता रहता है।[१८]

इस प्रकार रागद्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बँधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा मे रागद्वेष रूपी भावकर्म उत्पन्न होता है। इन कर्मों से उत्पन्न परमाणु प्रत्येक समय बँधते रहने से अनन्तानन्त होते है। यह बंध केवल जीवप्रदेश के क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं का होता है, बाहर के क्षेत्र मे स्थित कर्म परमाणुओं का नही। आत्म-प्रदेशों मे होने वाला बध यह सम्भव नहीं हैं कि किसी समय किन्ही आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो और किसी समय अन्य आत्म प्रदेशो के साथ।

कर्मफल—ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को कर्म का फल दाता मानते है। उसके अनुसार यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुःख मे असमर्थ है। यह जीव ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में या नरक मे जाता है।[१९] जैन दर्शन के अनुसार कर्म स्वय अपना फल देते है, किसी के माध्यम से नही। इसी कारण कहा है कि उस कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख दुःख कर्मफल है।[२०] कर्मफल कर्म की प्रकृति से प्रभावित होता है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ एवं अशुभ भावो से किये गए, कर्मों मे जीव पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, अतः इन भावो का प्रभाव कर्म परमाणुओ पर ही होता है और इसी के अनुसार वे कर्म अपने उदय के अवसर पर तदनुरूप सुख और दुःख प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन मे कर्म सिद्धान्त की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विषद तथा वैज्ञानिक विवेचना की गई है जो यह बतलाती है कि मनुष्य स्वय अपने कर्म का सृष्टा एव भाग्य विधाता है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति न तो उसके कर्म को निर्धारित करती है न ही उसके फल को। यही नही ईश्वरीय या अन्य कोई ऐसी शक्ति उसे बुरे कर्मों के उदय या फल भोगने से मुक्त भी नही करा सकती। कर्मों से मुक्ति के लिए कर्ता द्वारा स्वय कर्मक्षय करना आवश्यक है। कर्मक्षय से कोई भी जीव शुद्ध अवस्था अर्थात् मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि न तो कोई लक्ष्मी देता है और न कोई इसका उपकार करता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते हैं।

णय को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्य कुणई उवयारं
अवयार कम्मं पि सुहासुह कुणदि॥

१६. जैन कर्म सिद्धांत और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त पृ० ४७

१७. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुदगलानादत्ते स बन्धः। —तत्वार्थसूत्र ८।२

१८. संकल्पवशो मूढ़ः वस्त्विष्टानिष्टता नयते
रागद्वेषौततस्ताभ्यां बन्ध दुर्मोचिमश्नुते। —महापुराण २४।२१

१९. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयो।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्वर्ग वाश्वभ्रमेव वा॥
महाभारत वन पर्व ३०।२८

२०. तस्य कर्मणो यान्निष्पाद्यं सुख दुःख तत्कर्म फलम।
—प्रवचनसार त.।प्र.। १२४

जयपुर पोथीखाने का संस्कृत जैन साहित्य

□ डा० प्रेमचन्द रावका, मनोहरपुर

विद्वानो मे इस विषय पर मतभेद है कि भारत मे संस्कृत राजकाज की अथवा बोलचाल की भाषा थी। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इसको दोनों ही वर्गों मे सम्मानित स्थिति रही है। वेद-वेदांग, श्रुति-स्मृति, पुराणादि विविध विषयक ग्रन्थो की प्रतियां लिपिबद्ध कराकर संगृहीत और सुरक्षित करने मे मध्ययुगीन और मध्यान्तर कालीन नरेशों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। साथ ही उन्होंने नवीन साहित्य के सृजन मे भी विद्वानो, पण्डितो, कवियो और लेखको को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देने की परम्परा निभाई है। उन्ही के अनुकरण मे सामन्त वर्ग तथा अन्य सम्पन्न लोगो ने भी इस प्रवृत्ति को अपनाया है। फलतः हमारे देश का बहुत-सा साहित्य इन घरानों मे किसी प्रकार बचा रहा। जबकि अन्यान्य सामान्य गृहो मे उपेक्षा एवं अज्ञान के कारण इससे भी अधिक सामग्री नाश को प्राप्त हुई। इस ग्रंथ-सुरक्षा दृष्टि से जैन मन्दिरो के शास्त्र-भण्डारो का योगदान स्तुत्य एवं अविस्मरणीय है।

जयपुर नगर की स्थापना से बहुत पूर्व आमेर राजधानी मे ही यहां के राजवंश मे विद्यानुराग और विद्वत् समादर की भावना विद्यमान थी। जयपुर राजवंश का पोथीखाना इस तथ्य का साक्षी है। यह 'पोथीखाना' जयपुर राजघराने के शासको द्वारा अपने राज्य की आन्तरिक शासन व्यवस्था के सम्यक् संचालन की दृष्टि से विभिन्न विभागो के रूप मे स्थापित ३६ कारखानों मे से एक है। इसमे आमेर एवं जयपुर राज्य के तत्कालीन शासकों द्वारा समय-समय पर संगृहीत भिन्न-भिन्न भाषाओ मे लिखित भिन्न-भिन्न विषयो की पाण्डुलिपियां सुरक्षित है।

जयपुर राजवंश का पोथीखाना विगत सात सौ वर्षों मे सृजित एवं लिपिबद्ध अमूल्य साहित्य को अपने मे समाविष्ट करता है, जो उक्त शासकों के साहित्यानुराग का प्रतीक है। इसमें आमेर एवं जयपुर राज्य के भू० पू० शासको मे मिर्जा राजा जयसिंह (वि० स० १६७८-१७२४) से लेकर अन्तिम महाराजा मानसिंह द्वितीय (वि० सं० १९७९-२०२७) तक के समय में रचित साहित्य सुरक्षित है।

अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित महत्वपूर्ण ग्रन्थ संग्रह को सुव्यवस्थित एवं पृथक् विभाग का रूप देने का श्रेय महाराजा सवाई जयसिंह (सन् १७०० से १७४३ ई०) को है। अपनी नवीन राजधानी सवाई जयनगर की स्थापना के पश्चात् विद्या, कला और राजकीय उपकरणों के संग्रह, सुरक्षा एवं वृद्धि के लिये ही उन्होंने ३६ कारखाने स्थापित किये थे। उनमें पोथीखाना अनन्यतम एवं गणनीय है। इसके तुरन्त बाद ही महाराजा ने देश-विदेश से हस्तलिखित एवं मुद्रित दुर्लभ ग्रंथ उपलब्ध किये एवं प्राचीन जीर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थो की प्रतिलिपियां करवाने, उन्हे सुरक्षित रखे जाने तथा कुछ को चित्रित करने के लिये आवश्यक पण्डितों, सुलेखकों और चतुर चित्रकारो की नियुक्तियां की। तब से यह प्रवृत्ति जयपुर राज घराने मे किसी न किसी रूप मे सक्रिय है।

पोथीखाने मे संस्कृत भाषा में लिखे ग्रन्थ सर्वाधिक हैं। जो प्रायः सभी विषयों से सम्बद्ध हैं। यह विपुल ग्रन्थ राशि संस्कृत-क्षेत्र मे एक उज्ज्वल कीर्तिमान के रूप मे विद्यमान है। महाराजा सवाई जयसिंह, रामसिंह, प्रतापसिंह आदि स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान् और स्वयं सवाई प्रतापसिंह ने जो ब्रजनिधि के नाम से विख्यात है, भर्तृहरि के शतकत्रय का ने हिन्दी पद्य अनुवाद किया है।

पोथीखाने की सामग्री निम्न तीन संग्रहो मे विभक्त है:—(१) खास मोहर संग्रह, (२) पोथीखाना संग्रह, और (३) पुण्डरीक संग्रह। एक और अन्य संग्रह प्राचीन मुद्रित ग्रन्थो का है। खास मोहर संग्रह मे ७८०० ग्रन्थ है। यह संग्रह आमेर के शासको का निजी संग्रह है। इस संग्रह मे महत्वपूर्ण अतिप्राचीन पाण्डुलिपियां हैं। यह राजाओ के निजी अधिकार मे रहता था। पोथीखाना संग्रह के ग्रन्थों

की संख्या २३५० है। इस संग्रह के कुछ ग्रन्थ तो खास मोहर संग्रह से स्थानान्तरित हुये है। इसके अलावा इसमे पोथीखाने के कर्मचारियों द्वारा लिखित, अन्य लेखकों, पण्डितों, कवियों आदि द्वारा भेंट मे प्राप्त एव अन्य श्रोतों से उपलब्ध ग्रन्थ हैं। तृतीय पुण्डरीक संग्रह में २८५१ ग्रन्थ है जो सवाई जयसिंह प्रथम (वि०सं० १७५६-१८००) के गुरु रत्नाकर पुण्डरीक और उसके विद्वान उत्तराधिकारियों द्वारा सकलित है। चतुर्थ मुद्रित ग्रन्थों की संख्या ३,००० के लगभग है। इस प्रकार पोथीखाने के विभिन्न सग्रहो मे कुल १६००० ग्रन्थ है जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, बंगला, मराठी, राजस्थानी और गुजराती आदि भाषाओं मे वेद, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र, इतिहास, वेदान्त, न्याय, योग, मीमासा, बौद्ध, जैन, स्तोत्र, तंत्र, आगम, मंत्र-शास्त्र, काव्य, नाटक, चम्पू, व्याकरण, निघण्टु, कोष, छन्द-शास्त्र, रस, अलंकार, आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र आदि से सम्बद्ध है।

'खास मोहर सग्रह' के ग्रन्थों की सूची का प्रकाशन "Literay Heritage of the Rulers of Amber & jaipur" नामक पुस्तक मे श्री गोपालनारायण बहुरा के सम्पादकत्व में हो चुका है। जैन संस्कृत ग्रन्थो की सूची इसी के आधार पर यहाँ दी जा रही है :—

पोथीखाने के 'खास मोहर सग्रह' मे २५० के लगभग जैन ग्रन्थ उपलब्ध होते है; जिनमे १२२ हिन्दी भाषा के और शेष सस्कृत के है। हिन्दी ग्रन्थो की सूची वीरवाणी एवं महावीर जयन्ती स्मारिका १९७८ मे मेरे प्रकाशित लेख "जयपुर पोथीखाने का हिन्दी जैन साहित्य" मे दी जा चुकी है। सस्कृत ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है:—

१. अकलंक स्तोत्रम्
२. अनेकार्थ कोश
३. अनेकार्थ ध्वनि मंजरी, क्षपणक
४. ,, ध्वनि मजरी हेमचन्द्र
५. ,, नाम माला, हेमचन्द्र
६. ,, नामवृत्ति
७. ,, मजरी-सटीक
८. ,, शब्द संख्या कोश
९. ,, संग्रह, हेमचन्द्र
१०. अनेकार्थ संग्रह टीका
११. अभिधान नाममाला, हेमचन्द्र
१२. अभिधान चिन्तामणि नाममाला
१३. अर्जुन पताका
१४. आचारांग सूत्र प्रदीपिका जिनहंस सूरि
१५. आदि पुराणम्
१६. आप्त मीमासालंकृति
१७. एकाक्षरी नाममाला कोश, वररुचि
१८. एकीभाव स्तोत्रम् वादिराज
१९. औचित्य विचार चर्चा, क्षेमेन्द्र
२०. कर्म ग्रन्थ (कर्म विपाक व्याख्या), देवेन्द्र सूरि
२१. कर्म विपाक
२२. कल्याण मन्दिर स्तोत्रम
२३. कल्याण मन्दिर, कुमुदचन्द्राचार्य
२४. कल्याण मन्दिर सभाष्यम्, अखैराज श्रीमाल
२५. कैवल्य कल्पद्रुम (स्वराज्य सिद्धि व्याख्या)
२६. ग्रह भाव प्रकाश (भुवन दीपक पद्मप्रभ सूरि)
२७. चतुर्विंशति जिनस्तोत्रम्
२८. चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तोत्रम्
२९. चन्द्रप्रभ स्तोत्रम्
३०. चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्रम्
३१. छन्दोऽनुशासनम्, हेमचन्द्राचार्य
३२. जिन तीर्थंकरा:
३३. जिन पंजर स्तोत्रम्
३४. जिनराज स्तव
३५. जिन सहस्रनाम स्तोत्रम्, आशाधर
३६. जिन स्तवन सग्रह
३७. जिन स्तुति (समाचारि)
३८. जिन स्तुति, अभय सूरि
३९. जिन स्तोत्र संग्रह
४०. जैन मंत्र पाठ
४१. जैन मंत्र सग्रह
४२. जैन यंत्र लेखन विधि
४३. जैन स्तोत्रादि संग्रह
४४. ज्ञाता धर्म कथा सूत्रम्
४५. ज्ञाता धर्म कथा सूत्रम् सटब्बार्थम्

४६. ज्ञानार्णव (नित्यातंत्र)
४७. विश्वलोचनकोश मुक्तावली, श्रीधरसेन
४८. ज्योतिष सारोद्धार, हर्षकीर्ति
४९. तत्वार्थाधिगम मोक्षसूत्रम्
५०. तत्वार्थागम सूत्र टिप्पणकः प्रभाकर
५१. तीर्थंकर चरित्रम्
५२. कर्म ग्रन्थ : कुन्दकुन्दाचार्य
५३. देवागमस्तोत्रवृत्ति, वसुनन्दाचार्य
५४. देशी नाम महत्त कोश
५५. धर्म रसायन सूत्रम्
५६. धर्मशर्माभ्युदय-काव्यम्
५७. धर्मोपदेश माला पद्मनन्दि
५८. धातु पाठः (सारस्वत व्याकरणे)
५९. धातु-पाठः (हेमचन्द्र)
६०. नमस्कार महात्म्यम्
६१. नमस्कार स्तोत्रादयाः
६२. नवतत्व प्रकरणम्
६३. पंचाक्षर महामंत्र
६४. पद्मपुराणम्
६५. पद्मावती स्तोत्रम्
६६. पार्श्वनाथ स्तोत्रम्
६७. प्रतिक्रमण सूत्रम्
६८. प्रत्याख्यान विवरणम्
६९. प्रव्रज्या विधिः
७०. भक्तामर स्तोत्रम्, मानतुंगाचार्य
७१. भक्तामर स्तोत्रम् सटीका
७२. भक्तामर स्तोत्रम् सभाष्यम्
७३. भक्तामर स्तोत्रम् भाषार्थ सहितम्
७४. भुवन दीपकम्, पद्मप्रभसूरि
७५. भुवन दीपकम् वृत्ति, सिंहतिलक सूरि
७६. भूपाल चतुर्विंशतिका
७७. भूपाल जिन स्तोत्रम्
७८. महावीर स्वामी स्तोत्रम्
७९. मृत्यु महोत्सव स्तोत्रम्
८०. योग चिन्तामणि (आयुर्वेद)
८१. रामचन्द स्तोत्रम्
८२. विवेक विलास, जिनदत्तसूरि
८३. विषापहार स्तोत्रम्
८४ विषापहार स्तोत्रम् सभाष्यम्
८५. विहरमान स्तोत्रम्
८६. वीतराग स्तोत्रम्
८७. शान्तिनाथ चरित्रम्, सकलकीर्ति
८८. शांतिनाथ स्तोत्रम्
८९. श्रावकाचार, सकलकीर्ति
९०. षट्पद-काव्य वृति, जिनप्रभसूरि
९१. षट्-पाहुड-ग्रन्थः, कुन्दकुन्दाचार्य
९२. षट्-दर्शन-समुच्चय, हरिभद्रसूरि
९३. सज्जन-चित्तवल्लभ-स्तोत्रम्
९४. साधु-संग्रहणी-प्रकरणम्
९५. सामयिकाप्रकरणम्
९६. सारस्वत-चन्द्रिका-चन्द्रकीर्तिसूरि
९७ सारस्वत व्याकरणम्
९८. सिन्दूरप्रकरस्तव सटीकम्, सोमप्रभाचार्य
९९. सुप्रभात-स्तोत्रम्
१००. सूक्तिमुक्तावलि ,सोमप्रभाचार्य
१०१. सोमनाथ-स्तोत्रम्
१०२. स्नान-विधि (जैनपुराण)

उक्त संग्रह मे जैन व्याकरण, स्तोत्र एवं सुभाषित ग्रन्थो का संकलन अधिक है। □

चतुर्थ विश्व पुस्तक मेले में वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों की प्रदर्शनी

वीर सेवा मन्दिर ने नई दिल्ली में २९ फरवरी, १९८० से ११ मार्च, १९८० तक हुए चतुर्थ विश्व मेले में जैन तत्वज्ञान विषयक अपने प्रकाशनों का स्टाक लगाया था जो जैन धर्म विषयक पुस्तकों का एक मात्र स्टाक था। पुस्तकों की पर्याप्त बिक्री हुई एवं इस कार्य की सर्वत्र सराहना की गयी।

ऋषभदेव : सिन्धु-सभ्यता के आराध्य ?

□ श्री ज्ञानस्वरूप गुप्ता

मोहनजोदडो व हडप्पा, विश्व के सबसे प्राचीन नगर, विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता सिन्धुघाटी सभ्यता के आदि केन्द्र थे। ईसा से ३००० वर्ष से भी अधिक पहले ये समृद्धिशाली थे। इनके नागरिकों की संस्कृति धर्म, राजनीतिक रूप क्या था यह आज भी रहस्य मे डूबा हुआ है यद्यपि पुरातत्ववेत्ताओं के आह्वान पर इन्होंने लगभग ढाई हजार मिट्टी की बनी हुई आग मे तपी हुई मुद्रायें उपलब्ध की है जिन पर तरह-तरह के चित्र व दृश्य बने हुए है। इन मुद्राओं से भारतीय जीवन म रम हुए धार्मिक चिह्न ओम्, स्वस्तिक, नवग्रह व वह चिह्न जिसे दशहरे या दीवाली पर सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे आटे या गोबर से बनाकर पूजा जाता है और जिसे अयोध्या का प्रतीक माना जाता है, प्रचुरता से पाये जाते हे।

इतना होते हुए भी इतिहासज्ञ इस सभ्यता को भारतीय संस्कृति, धर्म व सभ्यता का मूल आधार मानने को इसलिये तैयार नहीं थे क्योंकि इन मुद्राओं पर अंकित चिह्न व दृश्य एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते थे। उनका मानना है कि यह सभ्यता कोई अन्य सभ्यता थी, जिसे १६वी शताब्दी ईसा पूर्व म बाहर से आने वाली आर्य जाति ने समाप्त कर दिया। परन्तु अब कुछ ऐसे तथ्य सामने आये है व इन मुद्राओं के चिह्नों का पुनः अध्ययन करने से पता लगता है कि इन मुद्राओं पर अनेकों चित्र भगवान विष्णु के अवतार व जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवजी के कथानक की मुख्य घटनायें—श्री ऋषभदेव का चित्र, उनके ज्ञान प्राप्ति के बाद का प्रथम भाषण (समवसरण), उनके पुत्र सम्राट भरत का बाल्यकाल का चित्र भी इसमे पाया जाता है। इस कथानक को देखने से यह सभ्यता न केवल रहस्यमय युग से बाहर आ जाती है, परन्तु भारतीय इतिहास के अन्धकारमय युग को भी आलोकित कर देती है।

ऋषभदेव का चित्रण

भारतीय इतिहासज्ञ इस बात को मानकर चलते थे कि वैदिक युग की हिंसाओं को देखकर व उनसे दया से प्रेरित होकर जैन धर्म व बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, अतः इन दोनों धर्मों को छठी शताब्दी ईसा पूर्व से अधिक प्राचीन न मानते हुए उन्होंने सिन्धु घाटी सभ्यता के आराध्य देव शिव या रुद्र को माना है। परन्तु इन मुद्राओं पर अन्य कोई चित्र शिव या रुद्र से सम्बन्धित नहीं पाया गया व इस तरह एक सूत्र मे सम्बद्ध नहीं हो पाया। अब जो तथ्य सामने आये है जिनमे उपरोक्त मुद्रायें भी शामिल है, यह पता चलता है कि कदाचित् ऋषभदेव उपादेय व उनकी आराधना ही प्राचीन भारत का धर्म था जो धर्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे महावीर व गौतम बुद्ध के अनुयायियों मे बँट गया, व मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ ही वह भी समाप्त हो गया। उसका स्थान लिया वैष्णव धर्म ने, जिसके पूज्य देवता वामनावतार अदिति के पुत्र त्रिविक्रम विष्णु थे जो जनभाषा मे विक्रमादित्य कहे जाते है। इस प्रकार इन धर्मों का क्रम उल्टा मानने से जैन धर्म प्राचीन हो जाता है और उसके मूल सिद्धान्तों की झलकें सिन्धुघाटी सभ्यता की उत्खनित मुद्राओं पर एक ही सूत्र मे सम्बद्ध पाई जाती है। आइये, इन मुद्राओं पर चित्रण का अध्ययन करें।

सिन्धुघाटी सभ्यता के क्षेत्र से निकली हुई मुद्राओं मे से मोहनजोदडो से निकली मुद्रा नम्बर ४२० (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदडो) इस रहस्य की कुंजी है। अतः इसी को आधार मानना उचित रहेगा। इस मुद्रा पर एक दैवी पुरुष की आकृति है जिसके सिर पर सिंगो के आकार का एक मकुट है। शरीर के ऊपरी भाग में कोई वस्त्र या कवच पहना हुआ है जो ताड़ के पत्ते का भी आभास देता है। देखने से इसका मुख कुछ विचित्र प्रकार का नजर आता है। सर जोन मार्शल,(जिनकी देखरेख मे हडप्पा और मोहनजोदडो का उत्खनन हुआ था) का विचार है कि इस चित्रण मे वह व्यक्ति है जिसके तीन मुख हैं। केदारनाथ शास्त्री, जो हड़प्पा के उत्खनक रहे है, का विचार है कि यह एक पशु मुख है, शायद भैंसे का। देखने से यह पशु मुख नजर आता है परन्तु भैंसे का न होकर बैल का मुख प्रतीत होता हैं। यह व्यक्ति एक आसन पर बैठाया गया है जिसके तीन या चार पाये हो सकते हैं।

इस आसन के नीचे दो हिरनों को आमने-सामने खडे हुए पीछे की तरफ मुड़कर देखते हुए दिखाया गया है। इस मूर्ति के एक तरफ गेण्डा और भैंसा बने हुए है और दूसरी तरफ एक हाथी और शेर और मानव का भी प्रतीकात्मक चित्रण किया हुआ है। इस व्यक्ति को सर जौन मार्शल ने पशुपति नाथ शिव बनाया है जबकि केदारनाथ शास्त्री के अनुसार यह शिव न होकर वेदो मे वर्णित रुद्र का रूप होना चाहिये।

इस मूर्ति को, जो इस सभ्यता की प्राण है, जानने के लिये एक बार पुन: प्रकाश मे लाना उचित रहेगा। सबसे पहले इस मूर्ति के सिंगाकार मुकुट को देखा जाय व उसका अध्ययन किया जावे। अगर हम इसके मुकुट को जो मुद्रा नम्बर ४२० मे बना है, देखें और अन्य मुद्राओ को भी देखे तब हम पायेंगे इसमे बना हुआ यह मुकुट अधूरा है। मोहनजोदडो से उत्खनित मुद्रा नम्बर ४३० (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदड़ो-मैके) को देखें तो उसके अन्दर इस मुकुट का पूर्ण रूप आया है जिससे इस त्रिशूलाकार मुकुट के नीचे एक पूछ लटक रही है जो मूर्ति के बायी तरफ और देखने वाले के दायी तरफ झुकी हुई है। अगर इस मुकुट को पूरे को ही निकाल कर अलग रख लिया जाय तो यह एक अनूठा दृश्य दिखाता है क्योंकि बाहर निकालकर अगर इसे ९० डिग्री के कोण पर बांयी तरफ मोड दिया जाय तो यह हिन्दुओ के सबसे पवित्र चित्र ॐ [ओम्] का आकार ले लेता है, क्योंकि हिन्दुओ व अन्य धर्मावलम्बियों के समस्त धार्मिक चिह्न सिन्धुघाटी सभ्यताओं की मुद्राओ पर पाये जाते है इसलिए इसे ओम् मानने मे हमे झिझक नही होनी चाहिए। ओम् रूपी चिह्न को मुकुट रूप मे पहनने के कारण यह व्यक्ति देवी माना जाना चाहिये। इसे पूर्णरूप से समझने के लिये हमे पौराणिक कथाओ का अध्ययन कर उनकी सहायता से इस व्यक्ति की जानकारी लेना उचित रहेगा। हमारी पौराणिक गाथाओ मे ओम् सदा ही विष्णु से सम्बन्धित रहा है शिव और रुद्र से नही, अत: यह व्यक्ति वह होना चाहिए जो कालान्तर मे विष्णु का अवतार माना गया हो।

विष्णु के अवतारो मे सोलह मानवावतार है जिनमे ऐसे व्यक्ति जो ऋषि हों और जिनका बैल से सम्बन्ध रहा हो केवल दो ही हैं। संकरक्षण बलराम और ऋषभ। संकरक्षण बलराम का चिह्न हल है और ऋषभ का मतलब बैल है व इनका चिह्न बैल है, अत: यह निश्चित करना होगा कि इन दोनो मे से यह व्यक्ति कौन हो सकता है। दोनों ही प्राचीन पौराणिक व्यक्ति है। अगर हम इस मुद्रा को देखें इस व्यक्ति के नीचे दो हिरनो की जोड़ी पायी जाती है। अगर गौतम बुद्ध की मूर्तियोंको देखा जाय तो उसमेभी उनके आसन के नीचे दो हिरनो की जोडी पायी जाती है। जैन तीर्थंकर २४ हुये है और सबकी मूर्तियों के नीचे हिरनों की जोड़ी एक विशिष्ट प्रतीक है। दिगम्बर रहना और ससार के समस्त जीवो से दया और मित्रता का व्यवहार रखना जैन धर्म का मूल विचार है। अत: यह मूर्ति ऋषभ देव जो विष्णु के आठवें अवतार व जैनियो के प्रथम तीर्थंकर है, की हो सकती है। दूसरी तरफ इस मुद्रा मे बैठा व्यक्ति एक ऊपरी भाग मे एक ऐसा वस्त्र पहने हुए है जो ताड़ के पत्ते की तरह से नजर आता है। ताड़ का पत्ता बलराम का प्रतीक है, जिसे तालध्वज भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक सील में इसी तरह का एक व्यक्ति बैठा हुआ दिखाया गया है जिसके आसन के नीचे दो हिरन है और ओम का मुकुट है और उसके दोनो तरफ दोनो घुटनो के बल बैठे हुए व्यक्ति उसे दो प्रतीक भेट कर रहे है। उनके पीछे एक-एक बड़े सर्प फन फैलाये हुये खड़े है। बलराम को शेषावतार माना जाता है और अगर यह दोनो व्यक्ति जो उसे नमस्कार कर रहे है, वास्तव मे सर्प है, तब यह व्यक्ति बलराम हो सकता है। भारतीय पौराणिक गाथा के अनुसार, अगर साप किसी व्यक्ति के ऊपर छत्री की तरह से फन फैलाता है तो वह राजा माना जाता है। अत: अगर यह दोनो व्यक्ति राजा हैं तब यह प्रतीत होता है कि यह उन स्थानो के राजा होंगे जो आज के दिन हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नाम से जाने जाते हैं और वह एक धार्मिक अध्यक्ष को नमस्कार कर रहे है। अगर हम मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा का अध्ययन करें, तो इसके अन्दर एक तरफ एक विचित्र प्रतीक बना हुआ है और दूसरी तरफ एक घुटनों के बल बैठा हुआ व्यक्ति एक वृक्ष को प्रतीक भेंट कर रहा है। यह विचित्र प्रतीक इस प्रकार का चिह्न है जिस प्रकार का प्रतीक समस्त उत्तरी भारत मे लोम

दशहरे या दिवाली के दिन आटे या गोबर से बनाकर पूजा करते हैं। यह प्रतीक अयोध्या का है, जैसा अथर्ववेद से भी पता लगता है। इसमे दूसरी तरफ घुटनो के बल बैठा हुआ व्यक्ति एक दूसरा प्रतीक का वृक्ष को भेंट कर रहा है। वह इस प्रकार का प्रतीक भेंटकर रहा है, जैसा प्रतीक पूर्व मुद्रा में दैवी व्यक्ति को भेंट कर रहा था। एकसा ही प्रतीक एक दैवी व्यक्ति को और एक वृक्ष को भेंट करना महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है। यह यही दिखाता है कि यह वृक्ष सिन्धुघाटी सभ्यता के दैवी पुरुष का भी प्रतीक है और अलग-अलग मुद्राओं पर वहा हम इस तरह से वृक्ष को पाते हैं, हमे यह मानना चाहिये कि यह इसी पुरुष को बता रहे हैं।

§निर्वाण अयोध्या में

इस बात से इसकी और पुष्टि होती है कि मुद्राओं मे इस वृक्ष के साथ दोनों तरफ वही हिरनो का जोड़ा मिलता है जो इस दैवी पुरुष के आसन के नीचे पूर्व मुद्राओं पर देखा गया था। इन मुद्राओ पर क्योंकि इस दैवी पुरुष के प्रतीक है, इसलिए यह माना जा सकता है कि इस दैवी पुरुष का अयोध्या से भी सम्बन्ध है। हम यह देखते हैं कि जैन पौराणिक गाथाओ के अन्दर ऋषभ का §निर्वाण अयोध्या में हुआ था। हम यह भी पाते है कि महान् पुरुषों को वृक्षो से प्रतीकात्मक रूप मे सदा ही बताया जाता रहा है। हम यह पाते है कि प्रारम्भिक काल में गौतम बुद्ध को बोधि वृक्ष से ही मूर्तियो पर बताया जाता था व केवल बाद मे ही उनकी मूर्ति बनने लगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह दैवी चित्रण बलराम का न होकर ऋषभ का ही है।

जैन समवसरण का संकेत

इस सबके बाद अन्य मुद्राओ को देखना उचित होगा। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर १३ मे मुद्रा की तीन दिशायें है। उस दिशा पर एक पेड़ है जिसक दोनो तरफ हिरन है जो इस बात को बताते है कि यह वृक्ष दैवी पुरुष का प्रतीक है। दूसरी तरफ तीन जानवरों का—एक शृंग, हाथी और गैण्डा का जुलूस है जो दैवी वृक्ष की तरफ जा रहा है। तीसरी तरफ एक पेड़ है, आखिरी डाली पर एक व्यक्ति बैठा हुआ है जिसके नीचे एक शेर पीछे की तरफ देखता खड़ा है। यह दृश्य बहुत अधिक मुद्राओं पर पाया जाता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर १४ में भी तीन दिशायें हैं, एक दिशा पर वृक्ष है जिसके दोनों तरफ हिरनों का जोड़ा है और एक तीन सिर वाला जानवर है, इसकी अन्य दोनो दिशाओं पर १० जानवरों का एक जुलूस मे है। इस जुलूस दो मगर भी हैं जो अपने मुंह में एक-एक मछली लिये जा रहे है। ऐसा प्रतीत होता है कि मछलियां क्योकि पृथ्वी पर नही चल सकती है इसलिये मगर के द्वारा ले जाई जा रही है। इस प्रकार मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर ४८८ मे चार पशुओं का, तीन मगर व तीन पशुओं का जुलूस है, मगर मछलियां मुंह में लिये जा रहा है और यह जुलूस बहुत आदरपूर्वक जा रहा है। इन तीन मुद्राओं पर जानवरो के जुलूस को दैवी पुरुष की तरफ श्रद्धापूर्वक जाते हुए दिखाया गया है। इसका क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? इससे यही प्रतीत होता है कि यह उस दैवी पुरुष के जीवन का कोई ऐसा विशिष्ट क्षण है जब समस्त जीव जिनमे पशु और पक्षी भी सम्मिलित थे, उसे नमस्कार करने के लिए और उसे सुनने के लिए भी जा रहे थे। हिन्दू पौराणिक गाथाओं मे कोई ऐसा जिक्र नही आता है जबकि पशु और पक्षी किसी दैवी पुरुष के पास गये थे, परन्तु जैन कथाओं मे ऐसी कहानी पायी जाती है। ऋषभ, जो पहले तीर्थंकर थे, को जब केवल ज्ञान प्राप्त हुआ तब उन्हें भाषण देना आवश्यक हुआ। एक बहुत विशाल भाषण देने का स्थान बन गया जिसे जैन मान्यता के अनुसार समवसरण कहते हैं व समस्त देवता और समस्त जीव-जन्तु सुनने गये थे। इन उपरोक्त मुद्राओं पर कदाचित् इन घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है और अगर यह सत्य है तब यह दैवी पुरुष ऋषभदेव होना चाहिये और सिन्धुघाटी सभ्यता जैन सभ्यता होना चाहिये।

ऋषभ देव के पुत्र सम्राट भरत

हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा नम्बर ३०८ मे एक पुरुष दिखाया हुआ है, जिसके दोनो तरफ एक-एक शेर खड़े हैं। इसी दृश्य का चित्र मोहनजोदड़ो की प्राप्त चार मुद्राओ पर भी पाया जाता है। हिन्दू पुराणों मे भरत को बचपन से ही शेरों के साथ दिखाया गया है परन्तु यह

---

§ विद्वान् लेखक ने अयोध्या को ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि माना है किन्तु जैन मान्यतानुसार अयोध्या उनकी जन्मभूमि है तथा निर्वाण भूमि तो अष्टापद है। —सम्पादक

भरत शकुन्तला का पुत्र था। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि भरत जो चक्रवर्ती सम्राट थे वे ऋषभ के पुत्र थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु सभ्यता के पतन के बाद जब छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे जैन धर्म समाप्तप्राय हो गया और वैष्णव धर्म प्रारम्भ हुआ तब भी जनमानस मे भरत और शेरो मे साथ बराबर बना रहा, परन्तु क्योकि जनमानस जैन राजाओ को भुलाना चाहता था इसलिये शकुन्तला के पुत्र भरत के साथ गलती से इन शेरो का सम्बन्ध बना दिया गया। अत: हमे यह मानकर चलना चाहिये कि यह राजा ऋषभ के पुत्र भरत होगे।

अन्य चित्र

कुछ अन्य मुद्राओ पर कुछ और दृश्य काफी संख्या मे मिलते है, परन्तु उनका अर्थ वर्तमान समय मे समझ मे नही आता है। एक दृश्य बहुत आता है। वह है देवी पुरुष के प्रतीक वृक्ष की सबसे नीचे की शाखा पर एक मनुष्य बैठा हुआ दिखाया है जिसके नीचे एक शेर पीछे की तरफ देखता हुआ खडा है। यह अकेला मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा ३५७ और ५२२ (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदडो-मैके) और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० २४८ ३०८ (एक्सकेवेशन एट हड़प्पा-वत्स) मे पाया जाता है। अन्य मुद्राओं पर अन्य दृश्य के साथ पायी जाने वाली मुद्रायें नम्बर १, १३, २३ और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० ३०३ पर पाया गया है। वह एक देवी पुरुष ओम् रूप का मुकुट पहने हुए पीपल के पेड़ की भूमि से निकली दो शाखाओं के बीच मे खडा है। उसके सामने एक अन्य देवी पुरुष ओम् रूपी मुकुट पहने एक पैर पर बैठा है और उसकी पूजा कर रहा है और उस बैठे हुए व्यक्ति के पीछे या आगे एक अजीब सा जन्तु दिखाया गया है जिसके शरीर के अग अलग-अलग जानवरो के शरीर के अंगों से मिलकर बने हैं। इनके साथ किसी मुद्रा पर सात व्यक्ति, किसी मे पाच, किसी मे एक भी नही दिखाया गया है। यह दृश्य मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा न० ४३० (फरदर एक्सकेवेशन—मैके) और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० ३१६ और ३१० (एक्सकेवेशन एट हड़प्पा-वत्स) मे पाया जाता है। यह उन देवी पुरुषो के जोड़ हो सकते है जो कि पौराणिक गाथाओ मे अक्सर साथ पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ नर-नारायण, कृष्ण-बलराम या ऋषभ और उनके पुत्र भरत जो ऋषभ के जीवन काल में ही सम्राट् बना दिये गये थे। एक और दृश्य जो बहुत अधिक मुद्राओं पर पाया गया है वह एक ऐसे जानवर का है जिसके शरीर के अग विभिन्न जानवरों के शरीरों के अंगों से मिलकर दिखाये गये है, परन्तु हर मुद्रा पर अलग-अलग रूप मे दिखाये गये है। यह कदाचित् सब जन्तुओं मे एक ही आत्मा का चित्रण है जो कि जैन धर्म का एक प्रमुख अग है।

सिन्धु घाटी सभ्यता का जैनधर्म नर्म ?'

इस प्रकार हम देखते है कि सिन्धु घाटी सभ्यता जो कि आज से ५००० वर्ष पूर्व फली-फूली थी और जो आज तक समझ मे नही आ पाई है, वह भारतीय संस्कृति और इतिहास की आधार के रूप मे देखी जाये तो स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगती है। हम यह भी देखते है कि भारत का प्राचीनतम धर्म जैनधर्म इस सभ्यता में प्रारम्भ होकर फला-फूला और उसके मुख्य आधार इस सभ्यता की मुद्राओं पर प्रतिबिम्बित होते हैं। गौतम बुद्ध के समकालीन, ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे महावीर स्वामी जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर हुए थे। अगर दो तीर्थंकरों के बीच में औसतन १५० वर्ष का समय माना जाए तो ऋषभदेव का समय ईसा पूर्व ४००० वर्ष का हो जाएगा जो कि सिन्धु घाटी सभ्यता का लगभग आदि काल था। इसलिए यह पुष्टि हो जाती है कि ऋषभदेव जी सिन्धु घाटी सभ्यता के पूजनीय पुरुष थे और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाए सिन्धु घाटी से उत्खनित मुद्राओ पर चित्रित दृश्यो मे प्रतिबिम्बित हो रही है। जो दृश्य अभी समझ मे नही आ रहे है वे कदाचित उनके या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो के जीवन की उन घटनाओ को चित्रित करते हैं जिन्हे हम इतने युग बीत जाने पर भूल गए। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता का धर्म जैन धर्म था और सिन्धु घाटी सभ्यता जैन सभ्यता थी। यही कारण था कि जब जैन धर्म को हटाकर ईसा से ५६ वर्ष पूर्व वैष्णव धर्म, नवीन भारत के धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ तो उसने भी ऋषभदेव जी को भगवान विष्णु का आठवा अवतार माना।

□□□

जैन पत्र : एक अध्ययन

☐ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम० ए०

[पत्र की भाँति समस्यायें मिला करती हैं।
मौत बैरंग लिफाफे की तरह आती है।।
सुश्री ज्ञानवती सक्सेना की ये पंक्तियां जैन पत्रों पर भी चरितार्थ होती हैं।]

सामाजिक धार्मिक और कभी-कभी राष्ट्रीय जीवन की झलक देने वाले अन्य माध्यमों की तरह जैन पत्र भी एक सशक्त माध्यम हैं। वे हमारे पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और सूचना तथा मनोरजन के भी श्रेष्ठ साधन हैं परन्तु दुःख का विषय यह है कि अधिकाश जैन पत्र, धर्म और समाज का न तो सही चित्र प्रस्तुत करते है और न समुचित सामयिक दिग्दर्शन ही करते है केवल इतना ही नही बल्कि रचना और समाचार मूलक स्वस्थ स्वच्छ पठनीय मननीय सामग्री भी अपने पाठको-ग्राहको को नही दे पाते है।

पत्र प्रकाशन के नाम पर घटिया छपाई सामान्य कागज साधारण रचनायें अस्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टि अदूरदर्शी सम्पादकीय घिसी पिटी नवीनता विहीन बातें अनाकर्षक समाचार लगभग सब बेकार और बेगार सा लगता है। जैन पत्र समाज-सुधार की अपेक्षा आत्म उद्धार की चर्चा मे विशेष रस लेते है। कभी-कभी बेसिर-पैर के समाचार और निबन्ध भी छाप देते है। कालान्तर मे पूर्वापर विचारक प्रौढ़ विद्वानो के प्रतिवादात्मक वृत्त-निबन्ध भी प्रकाशित कर देते है। एक से अधिक बार जो नही छापना चाहिए, जिससे पत्र/पत्रिका की छवि बिगडती है, वह छप जाता है और जो छपना चाहिए, वह पत्र की फाइल मे वर्षों दबा रहता है या रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया जाता है।

जैन पत्र प्राय: 'चले चलन दो ढला चला' वाली नीति लिये रहते हैं। जैन पत्रो का निकलना और बन्द होना एक साधारण-सी बात है। वे बिजली की अनियमितता मुद्रणालय के कर्मचारियो की अकृपा, प्राकृतिक प्रकोप बाढ़, सम्पादक के प्रयास से परेशान होकर अनियमित भी हो जाते है। कभी-कभी देश काल भूल जाते हैं। साप्ताहिक से मासिक, मासिक से त्रैमासिक तक हो जाते हैं। जैन पत्रों के सभी सहयोगी प्राय: कबीर के शब्दों में 'जो घर फूके आपना होहु हमारे साथ' सदृश होते हैं, उनमें कार्य करने की क्षमता का प्रादुर्भाव हो नही पाता है। जैन पत्रो के सम्पादक ही जब अवैतनिक होते है तब लेखको/कवियो के लिए रचना वाले पत्र की प्रति भिजवा दे तो बहुत समझो। जो पत्र कुछ लेखकों/कवियो को नि:शुल्क पत्र भेजते हैं वे उन्हे अपने वर्ग की परिधि मे ही देखना चाहते है। यदि वे कृत्रिम लक्ष्मण रेखा का उलघन करते हैं तो पत्र और पत्र व्यवहार तक बन्द कर देते है। कोई धूर्त कुशल पत्रकार तो पुरस्कार देने की घोषणा करके भी स्वयं ही पचा जाते है और पुरस्कार साफ बचा जाते हैं। ऐसे पत्र पाठको को भ्रम मे डाले रहते हैं कि वे लेखको/कवियों को उनको रचनाओं का पारिश्रमिक दे रहे है इस अमोघ उपाय द्वारा वे समाज से सम्पत्ति अवश्य बटोर लेते है। सम्बाददाता को तो शायद ही पत्र की प्रति मिलती हो। महासमिति के बुलेटिन मे भी स्वय सेवा भावी संवाददाता चाहे गये थे। औसतन जातीय पत्रों की सख्या अधिक होने पर भी स्तर अवनत ही रहता है।

जैन पत्र दो प्रकार के है :—१. व्यक्तिगत २. सस्थागत। समाज दोनों में कोई भेदभाव नहीं करती है। समान रूप से सहायता देती है, ग्राहक बनती है। जो व्यक्तिगत पत्र हैं वे सामाजिक की अपेक्षा व्यवसायिक अधिक हैं। कारण उनसे सम्पादक का नाम ही नहीं बल्कि दाम भी जुड़ा है और जो संस्थागत पत्र हैं, वे भी नीति के नैतिक बन्धन में तो हैं ही। जब समान स्वार्थ में भी

धार्मिक-सामाजिक संस्थायें एक नहीं हो पाती है तब उनके पत्रों और सम्पादकों-लेखकों-कवियों का एक मेक होना कैसे सम्भव है ? अतीत मे एक दो बार सम्पादक लेखक की अखबारी चर्चा हुई। सम्मेलन हो भी जाता तो वह सभाओं के सम्मेलन सदृश सर्कस बन कर रह जाता। व्यक्तिगत पत्रकार तो समाज के सम्पर्क मे रहकर भी उससे सुदूर रहते है, शायद उन्हें भय है कि कहीं कोई अन्य हस्तक्षेप न करने लगे या उन पर छा जावे। कोई प्रचारको द्वारा, कोई लाटरी द्वारा ग्राहक सख्या बढाना चाहते या जो ग्राहक है, उन्हे बनाये रखना चाहते है। चूकि सभी पत्रकार अपने लिए बहुत बडा मानते है। 'हम किसी से कम नहीं समझते है। अतएव वे पत्रकारिता की दिशा मे विशेष परिश्रम करना तो दूर रहा, कोई समझदार उन्हे सकेत करें तो वे उसकी अवहेलना करते है। सुझाव-सम्पत्ति मांगते है पर छापते वही है जो उनके अनुकूल हो। प्रतिकूल छापकर प्रतिवाद करना जैन पत्रो को लगभग नही आता है।

जैन पत्रो मे धार्मिक-सामाजिक चर्चा की आड मे कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेप मूलक बातें भी बिना पूर्वा-पर विचार किये छाप दी जाती है। जैन पत्र परायो की निन्दा और अपनो की प्रशसा करने मे कुशल है। किसी भी विरोधी की सही बात को छापने के लिए न तो वे साहस जुटा पाते है और न छापकर तत्काल उसका सतर्क सटीक उत्तर भी दे पाते है। कानजी अकानजी, तेरहबीस पन्थ, महासभा। सिद्धान्त संरक्षिणी। परिषद जातीय सज्ञक जैसे विविध वर्ग रहते है। प्रत्येक पत्र अपने लिए सर्वोपरि शीर्षस्थ समझता है। नवोदित पत्रकार तक पूर्वाग्रह लिए अन्य अनुभवियो के अनुभवो से लाभान्वित होने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नही करते है। सामयिक सुझाव आने पर भी नही मानते है। नवीन आन्दोलन तब तक नही छेड़ते हैं जब तक वह सिर पर आ ही न पड़े। क्या जैन पत्रो मे वास्तव मे जैन जन की झांकी मिलती है ? जैनत्व की झलक पत्र के नाम अथवा उद्देश्य की उक्ति तक ही तो सीमित नही है ? जैन संस्कृति के आधार सदृश सहधर्मी बन्धुओं के सहयोग बाबत कोई सूचना भी निकलती है ? या पर्यूषण पर्व और अष्टाह्निका के अवसर पर, मंदिर-वेदी-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और गजरथ-सम्मेलन-अधिवेशन के सीमित अवसर पर ही समन्तभद्राचार्य के शब्दो में 'न धर्मो धार्मिकैर्बिना' की भावना की इतिश्री हो जाती है। जो जैन दरिद्रता की परिधि मे है, जो जैन पिता अपनी कन्याओ के विवाह की चिन्तायें लिए हुए हैं, जो जैन युवक काम-नाम-दाम के लिए अधीर आतुर है ? उनके लिये भी जैन पत्र क्या व्यवस्था मूलक सहयोग देते है? कोई जैनेतर हमारे जैन पत्रो को देख-देख कर क्या धारणा बनावेगा ? यही कि जैन परस्पर लडाकू है, आत्म प्रशंसा प्रिय है, प्रीति भोजो के इतने शौकीन हैं कि प्रतिष्ठाओं मे भी नही भूलते है। वे कार्य की सफलता, प्रस्ताव और प्रतिक्रिया तथा परिणाम से नही, जमाव से मानने लगे है।

जैसे रामानन्द सिंह ने खण्डवा मे कहा था—हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने मे आज का साहित्यकार समुचित योगदान देने मे लगभग असफल रहा है। अध्ययन एव चिन्तन की कमी स साहित्यकारो मे कल्पना एव सृजन शक्ति का क्रमिक ह्रास होता जा रहा है वैसे ही जैन पत्र : एक अध्ययन निबन्ध के पाठको से मुझे निवेदन करना है कि जैन धर्म और समाज को समुन्नत बनाने मे जैन पत्र- पत्रकार, लेखक-कवि-कहानीकार भी असफल रहे है। जैन समाज समृद्ध सम्पन्न है और जैन साहित्यकारो मे प्रतिभा का अभाव नही है पर सुयोग्य संयोजक और आर्थिक प्रोत्साहन के अभाव मे जैन साहित्यकार आगे बढ़ नही पाते है और स्वर्गीय भगवत्स्वरूप भगवत के शब्दो म सोचना पड़ता है—आज कहानी के इस युग मे जैन कथा-उपवन सूना क्यो ? जैन पत्रों की सख्या अधिक है पर उनमे "अनेकान्त" जैसे उच्च कोटि के और 'तीर्थंकर' सदृश सजग कितने है ? जबकि जैन पत्रो के सपादन म कुशलता का और प्रकाशन मे सुरुचिपूर्णता का समावेश नहीं होता है, जब तक उनके कवि-लेखक समुचित पारि-श्रमिक तो दूर रहा। सामान्य पोस्टेज भी नहीं पाते है और सवाददाता पत्र की प्रति की प्रतीक्षा म अपनी आँखें पथरा रहे है जब तक पाठको की स्थिति से न पत्र सन्तुष्ट होते है और न सामान्य पाठक के लिए वे सन्तुष्टि देते है तब तक जैन पत्र मेरी दृष्टि मे उस वर्षा के समान है जो न हो तो अनावृष्टि का सकट और हो तो अतिवृष्टि

का संकट, दोनों ही स्थितियां सुखद नहीं होकर दुःखद हैं। जैन पत्र भी दैनिक जीवन धारा में जुड़ें। आदर्शवादी धार्मिक चर्चा मे इतने तन्मय नहीं हो जावें कि यथार्थ की वसुधा के जीवन की इतिश्री ही हो जावे। वे हल्के सस्ते छिछले उबाऊ, वातावरण से बचें। अपनी ही रंगीन सपनीली दुनियां में विचरण नहीं करते रहें बल्कि वास्तविक जैन जन की झांकी प्रस्तुत करें। जिनका दुश्चरित्र विख्यात है, जो सट्टा जुआ शराबखोरी तस्करी वृत्ति के लिए हैं। जो मांसाहारी भोग विलासी हैं, ऐसे व्यक्ति भले तीर्थंकर के माता-पिता भी पचकल्याणक प्रतोष्ठा मे क्यों न बने पर उनके वृत्त-चित्र न छापे तो जैन पत्र सार्थक हो। यदि वे आर्थिक प्रलोभन मे फँसे तो पग-पग पर खतरा है। सेवा और मेवा दोनो पृथक् है। यदि जैन पत्र ऐसे लोगों के चरित्र-चित्र निकालते है, जो समाज के लिए सत्य-प्रेरणा नही देते है तो कहना होगा कि वे हाथी के दाँत हैं। उनके आँसू मगर के आसू है, वे अपनों का भले भला कर लें पर समाज का नही कर सकते है।

'जैन पत्र : एक अध्ययन' निबन्ध का उद्देश्य जैन पत्रों की समीक्षा मात्र करना नही है बल्कि उनकी प्रत्यक्ष दुर्बलतायें बतलाकर उन्हें उन्नति की ओर जाने के लिए प्रेरणा देना है। जैन पत्र जिस स्थिति मे निकल रहे हैं और उनके सम्पादक-प्रकाशक उन्हे जिस स्थिति मे निकाल रहे है, वह तो स्तुत्य और श्लाघ्य कार्य है पर दीर्घकाल तक पुरानी ही परम्परा का निर्वाह किये जाना और बीसवी-सताब्दी मे भी अठारवी सदी जैसी बातें करना कोई बुद्धिमानी नही हैं। जैन समाज समृद्ध सम्पन्न समाज है, उसके पत्र आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो, यह बड़ी विडम्बना का विषय है। जैन कवि-लेखक भी प्रतिभा सम्पन्न है परन्तु आर्थिक सामाजिक प्रोत्साहन के अभाव में उनकी प्रतिमा की प्रतिभा बन नही पाती है। आशा है समाज के सभी सदस्य इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार विनिमय करेंगे। जैन पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकेगा कि—

(१) जैन पत्र पत्रिकायें कम निकलती हैं. कार्यों में डूबे हुए समाज के लिए निकलती है, अविकसित पाठकों के लिए निकलती है, एकरूपता के लिए निकलती है, अतएव उन्हें बाहर से ही देखकर पहचाना जा सकता है।

(२) जैसे कुछ लोग बगीचा लगाते, ग्रन्थालय बनाते, कार खरीदते, सट्टा लगाते—प्रतिष्ठा बढ़ाते वैसे ही जैन पत्र शौक लिए निकलते, शौक पूर्ण होते ही शोक लिए समाप्त होते है। व्यक्ति-सभा-सस्थागत सभी पत्रो का लगभग यही हाल है कि वे बेहाल होकर निहाल होने करने का दम्भ करते है।

(३) जैन पत्रों के प्रकाशन का उद्देश्य व्यावसायिक आर्थिक लाभ अत्यल्प रहता है पर साहित्य और समाज में प्रतिष्ठित होने का भाव अधिक रहता है। जो कविता-कहानी-निबन्ध-नाटक लेखन मे निपुण नही हो पाते वे सम्पादक बन जाते है, अवैतनिक सम्पादक होकर पत्र को मिली धनराशि से अपना कार्य-व्यापार बढ़ाते है और लेखकों व कवियों को पत्र का घाटा बतलाते हैं।[1]

(४) पत्र-पत्रिका निकालने या आलोचना-प्रत्यालोचना मे उलझने से भी उतनी अराजकता नहीं फैलती है, जितनी अराजकता व्यक्तिगत राग-द्वेष और ईर्ष्या-असहिष्णुता के प्रदर्शन से फैलती है। इसलिए जैन पत्र बातें वीतरागता की करते है परन्तु अपना आध्यात्मिक क्रोध नही छोड़ते हैं।

(५) जो लोग बाहर से जैनत्व के लिए मर-मिटने की प्रेरणा देते हैं, वे ही लोग भीतर से अपने आचरण से सिद्ध करते है कि धर्म सस्कृति नही है बल्कि गन्दी खतरनाक राजनीति है। इसलिए दूसरों को उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा करना ही धर्म और समाज, साहित्य

१. "दिगम्बर जैन पत्र तो बहुधा घाटे में चलते है। पारिश्रमिक देने की स्थिति मे नही है। एक ही पत्र सम्पन्न है सन्मति सन्देश, क्योंकि उसके बारह हजार ग्राहक है और स्थायी सदस्य बनाकर एक लाख रुपया प्राप्त कर लिया गया है। लेखक ने पुरस्कार योजना चालू की थी सो वह मात्र अप्रैल तक चली। फिर मई, जून, जुलाई के अंकों मे नही दिखाई दी। लाटरी निकालकर ग्राहकों को प्रतिवर्ष रुपये देते हैं उसमे फर्क नहीं पड़ता और लेखको को एक वर्ष भी नहीं दे सके।' एक स्वर्गीय मित्र के २२ जुलाई १९७१ के पत्र का अंश, जिन्होंने मेरी तरह सम्मति सन्देश में काफी लिखा था।

और संस्कृति की सेवा करना समझा जाता है।

(६) जैसे कुछ कवि और अभिभूत पंडित भी कविता सुनाने या धार्मिक प्रवचन देने की बात सुन कर सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही जैन पत्र रचना युग की बात भुलाकर वक्तव्य युग मे फूल जाता है। पत्र से पाठक को भले असन्तोष हो पर कवि-लेखक-सम्पादक को तो सन्तोष रहता है कि रचना छप गई।

(७) जैन-पत्र सहयोगी, पारिश्रमिक पर दृष्टि नहीं डालते हैं। निःशुल्क सम्पादन-लेखन मे निःशुल्क अर्थ-अनर्थ होता रहता है। जैन-पत्र शब्द की गेंद को चाहे जब चाहे जैसा उछालते हैं। इसलिए कभी लालबहादुर बालबहादुर, तेजकुमारी सेजकुमारी, कापड़िया कीपड़िया, जयपुर जमपुर होकर हास्य रस की सृष्टि करता है। वैसे किसी भी जैन पत्र ने कभी भूले-भटके भी हँसी की रचना छापी हो, मुझे स्मरण नही आता।

(८) मतभेद भुला कर एक होना चाहिए, सभी दलों सहयोगी को होना चाहिए। यह कहने वाले भी दिगम्बर श्वेताम्बर कानजी अकानजी, तेरह-बीस पन्थ की बातें भूल-भुला नहीं पाते है और ऐसे लोग शायद कहना चाह रहे हैं कि हम मतभेद कर रहे है पर मतभेद और मन भेद मत करो तो जानें।

(९) अधिकाश जैन पत्र-पत्रिकायें धर्म प्रधान होती हैं। वे प्रथम और चतुर्थ (धर्म और मोक्ष) पुरुषार्थ को आशा से भी अधिक महत्व देती है पर द्वितीय और तृतीय (अर्थ और काम) पुरुषार्थ को अतीव नगण्य समझती है, इसलिए समाज के युवक समुचित काम और गृहिणी नही पाते हैं तथा समाज मे धनिक वर्ग दहेज-दम्न से ही अपने गौरव की परम्परा को आंकने मे लगा है। एक वाक्य मे धन देव हो गये और धर्म दास हो गया है।

(१०) जैन पत्र अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के गीत वर्षों से गाते आ रहे पर विस्मय का विषय यही है कि वे बिखरी समाज को सही अर्थों मे एकता का सन्देश नहीं दे सके, वे मन्दिरों और मूर्तियों को पूर्णतया अपरिग्रही नहीं बना सके, वे अनेकान्तवाद की सूक्ष्म व्याख्या-विवेचन प्रस्तुतीकरण भले कर सकें हों पर जीवन में समन्वयवादी अनेकान्तवादी अस्तित्ववादी नहीं बन सके।

(११) जैनपत्र आदर्शवादी आसमान में चाहे जितनी देर तक रहे हों परन्तु यथार्थ की धरती पर वे निष्क्रिय ही रहे हैं। जैसे आज के युवक भूखे होकर भी गल्ले के गोदाम पर छापा नहीं मारेंगे बल्कि सिनेमा घर मे या रेलगाड़ी अथवा मोटर में मुफ्त यात्रा करना चाहेंगे वैसे ही जैन पत्र औसतन जन-जीवन से दूर रहे हैं और अपने लिए तीसमारखा समझते रहे हैं।

जैन पत्र बहुत बड़ी शक्ति हैं। अनुबन्ध इतना है कि वे अपना दायित्व समझें समाज को समता-ममता-क्षमता सिखावें। समय श्रम सम्पत्ति का सही दिशा में सदुपयोग करना वे ही सिखा सकते हैं। □□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओम प्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओम प्रकाश जैन प्रकाशक

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १२-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ३-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन २-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १४-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण २

अप्रैल-जून १९८०

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भारतीय विश्वविद्यालयों में जैन-शोध

संस्था का नाम	निर्देशक का नाम	क्र. संख्या	शोध स्नातक का नाम	विषय	अभ्युक्ति
श्री देवेन्द्रकुमार जैन ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, आरा (मगध विश्वविद्यालय गया से मान्यता प्राप्त)	डा० राजाराम जैन मानद निर्देशक, श्री देवकुमार जैन ओरियंटल रिसर्च, इंस्टीच्यूट, आरा बिहार तथा रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० जैन कालेज (आरा)	१	डा० कमलकुमारी सिंह अध्यक्ष—संस्कृत विभाग म० म० महिला महाविश्वविद्यालय आरा	संस्कृत वराङ्ग चरितम् महाकाव्य का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन	फरवरी ७८ मे उपाधि प्राप्त।
"	"	२	श्री नेमिचन्द जैन एम० ए०, आचार्य, शोध स्नातक आरा	आचार्य समन्तभद्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व	शोध कार्य चल रहा है।
"	"	३	प्रो० (श्रीमती) विद्यावती प्राध्यापिका-हिन्दी विभाग, म० म० महिला महाविद्यालय आरा	महाकवि सिंह एवं उनके अद्यावधि अप्रकाशित प्रद्युम्नचरित का समीक्षात्मक अध्ययन	टंकण कार्य चल रहा है। परीक्षणार्थ शीघ्र ही प्रस्तुत किया जाने वाला है।
"	"	४	श्री रामकृष्ण तिवारी, एम० ए० शोध स्नातक आरा	अभिमान मेरु पुष्पदन्त उनके साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन	शोध कार्य चल रहा है।
"	"	५	श्री सुरेन्द्रकुमार जैन एम. ए. शोध स्नातक आरा	महाराष्ट्री प्राकृत कथा साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	शोध कार्य चल रहा है।
"	"	६	श्रीराय हनुमानप्रसाद एम. ए. शोध स्नातक आरा	महाकवि स्वयम्भू एव उनके पउम चरिउ का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन	शोधकार्य प्रगति कर रहा है।
"	"	७	श्री बाबूलाल जैनएम. ए. आचार्य शोध स्नातक, आरा	जीवन्धर चम्पू काव्य का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन	शोधकार्य समाप्त हो चुका है। अंतिम संशोधन चल रहा है।
"	"	८	श्री प्रो० वाल्मीकि प्र० सिंह हिन्दी विभाग, हर प्रसाद दि० जैन कालेज, आरा	महाकवि बनारसी दास व्यक्तित्व एवं कृतित्व	रूपरेखा तैयार कर स्वीकृत हेतु विश्वविद्यालय को प्रेषित
"	"	९	श्रीमती प्रमिला श्रीवावास्तव शोध स्नातक, आरा	मुगल कालीन कुछ हिंदी जैन काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन	"
"	"	१०	प्रो० द्वारिकाप्रसाद श्रीवास्तव	ज्ञाता धर्म कथा साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	"

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०६, वि० सं० २०३७ | अप्रैल-जून १९८०

नमः समयसाराय

सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया स्वगुणपर्यायान् अयन्ति-प्राप्नुवन्ति ते समयाः पदार्थाः तेषु मध्ये सारः परम-आत्मा तस्मै नमः ।'-

जो त्रिकालावच्छिन्न स्वगुण और पर्यायों को प्राप्त होते है—उन्ही में विचरण करते हैं, वे समय कहलाते है अर्थात् पदार्थ । उन पदार्थो में—समयों में जो सारभूत पदार्थ है आत्मा—परम आत्मा। ऐसे समयसार शुद्ध आत्मा को मेरा नमस्कार है ।

ये सम्यक् स्याद्वादात्मकं वस्तु अयन्ति जानन्ति-सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषाय-पर्यन्ता जीवाः तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै नमः ।'—

जो सम्यक् स्याद्वादात्मक वस्तु को जानते है ऐसे सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के जीव, उन जीवों में जो पूज्यपने से सारभूत हैं ऐसे 'जिन' भगवान है । ऐसे जिन भग-वान को मेरा नमस्कार है ।

'समं साम्यं यान्ति प्राप्नुवन्ति ते समयाः योगिनः तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी तस्मै नमः ।'-

जो साम्यभाव को प्राप्त होते है वे समय है—अर्थात् योगी है । उन योगियों में ध्येय होने से सिद्धपरमेष्ठी सार है (यतः योगियों के ध्येय सिद्धपरमेष्ठी हैं) उन सिद्धपरमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'सम्यक् अयनं गमनं यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं येषां ते समयाः योगिनः तेषुमध्येसारः आचार्यः । तस्मैनमः ।'

जो सम्यक् यत्नाचार पूर्वक आचरण करते है वे समय —योगीगण हैं, उन योगियों में सारभूत—उत्तम आचार्य हैं । उन आचार्य परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'समयः सिद्धान्तः स्रियते प्राप्यते यैस्ते समयाः—तेषु मध्ये सारः—उपाध्यायः । तस्मै नमः ।'—

जिनके द्वारा समय अर्थात् सिद्धान्त प्राप्त किया जाता है वे समय है । उन समयों मे जो सार-भूत हैं वे है उपाध्याय परमेष्ठी । उन उपाध्याय परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'समयेषु कालावलिषु सारः साधुः ।'—

कालावलियों में जो सार हैं वे है साधु । उन साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'स सम्यक्त्वं, अयो ज्ञानं, रणं सारः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि इत्यर्थः तेभ्योनमः ।'—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र समयसार हैं । इन्हे मेरा नमस्कार है ॥

□□□

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की १५वीं गाथा मे गृहीत 'अपदेस' शब्द के अर्थ को लेकर चर्चा उठ खड़ी हुई है और इस शब्द को आत्मा का विशेषण मानकर इसका अर्थ अप्रदेश यानी आत्मा अप्रदेशी है ऐसा भी किया जा रहा है। जो सर्वथा—सभी नयो से भी किसी भाँति उचित नहीं है। आत्मा तो सर्वथा असंख्यात प्रदेशी ही है। तथाहि—

१. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलंविरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥
—नियमसार १८१

सप्रदेशत्वादि स्वभावगुणा भवन्ति इति' – टीका।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, केवलदर्शन, अमूर्तिकपना, अस्तित्वभाव तथा सप्रदेशीयता अर्थात् असख्यात प्रदेशीपना है। ये सभी स्वाभाविक गुण होते है—जो पृथक नहीं हो सकते हैं।

२. आत्मा की गणना अस्तिकायों मे है और अस्तिकाय मे एक से अधिक प्रदेश माने गए हैं। काल द्रव्य जो अस्तिकाय नही है उसे भी किसी अपेक्षा, कम से कम एक प्रदेशी तो माना ही गया है।—

असंख्येया. प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्।
आकाशस्याऽनताः।
सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम्॥"—तत्त्वार्थसूत्र ५

३. प्रवचनसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धजीव का अस्तिकाय और सप्रदेशी कहा है। गाथा १/४१ की टीका मे जयसेनाचार्य स्पष्ट करते है—'अपदेस अप्रदेश—कालाणुपरमाण्वादि, सपदेस शुद्धजीवास्तिकायादि पचास्तिकायस्वरूपम्।'—अर्थात् कालाणु परमाणु आदि अप्रदेश हैं, शुद्धजीवास्तिकायादि सप्रदेश हैं।

४. आत्म को अप्रदेशी मानने पर उसका अस्तित्व ही नही रह सकेगा—वह शून्य—खरविषाणवत् ठहरेगा—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अभाव होने से भी सत्ता का सर्वथा अभाव होगा। कहा भी है—

'जस्स ण सति पदेसा पदेसमेत्त तु तच्चदो णादं।
सुण्णं जाण तमत्थं ...। प्रवचनसार २/५२॥
'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्त सत्'।
सद्द्रव्यलक्षणम्॥'—तत्त्वार्थसूत्र ३

५. यदि येन केन प्रकारेण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे एक प्रदेशी (कालवत) भी माना जायगा तो आत्मा को सिद्धावस्था मे परमाणु अवगाहमात्र आकाश प्रदेश को अवगाह करके ही रहना पड़ेगा और जैसा कि सिद्धान्त है—सिद्धात्माए 'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धाः' धनुषो क्षेत्र परिमाण आकाश को घेरकर विराजमान है—का व्याघात होगा।

६. आत्मा मे प्रदेशत्व गुण नही बनेगा, जबकि प्रदेशत्वगुण का होना अनिवार्य है—'प्रदेशवत्त्व तु लोकाकाशप्रदेश परिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति।'—अर्थात् एक आत्मा लोकाकाश जितने (असंख्यात) प्रदेश वाला होता है।'—न० भा० सि० वृ० २/८

७ प्रदेशत्व शक्ति की सिद्धि नही होगी, जबकि आत्मा के इस शक्ति की अनिवार्यता है—

'आससार सहरण-विस्तरणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीरपरिमाणवस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणानियतप्रदेशत्वशक्तिः।'

— समयसार कलश स्याद्वादाधिकार/२६३ टीका

८. प्रवचनसार मे 'तिर्यक्प्रचय' और 'ऊर्ध्व-प्रचय' नामक दो प्रचय बतलाए है और कहा है कि, प्रदेशो के समूह का नाम 'तिर्यकप्रचय' है। वह 'तिर्यकप्रचय' काल के अतिरिक्त सभी द्रव्यो और मुक्तात्मद्रव्य मे भी है। इससे शुद्धनय से भी शुद्ध आत्मा बहुप्रदेशी ही ठहरता है। 'प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः'—अमृतचन्द्राचार्य।

'स च प्रदेशप्रचयलक्षणास्तिर्यक्प्रचयो
यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं
विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशसख्या—
नुसारेण शेषद्रव्याणां स सभवतीति
तिर्यक्प्रचयो व्याख्याता।'

☐☐☐

श्री अगरचन्द नाहटा और उनकी साहित्य साधना

□ डा० मनोहर शर्मा

सिद्धान्ताचार्य, संघ रत्न, जैन इतिहास रत्न, राजस्थानी साहित्य वाचस्पति, विद्यावारिधि, साहित्य वाचस्पति (हि० सा०) श्री अगरचद नाहटा देश के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे कला के महान् प्रेमी व मर्मज्ञ पुरातत्व और इतिहास के गभीर अनुसधानकर्ता, प्राचीन साहित्य और प्राचीन ग्रन्थो के अध्यवसायी अन्वेषक, सग्राहक एव उद्धारक, मातृभाषा राजस्थानी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के श्रेष्ठ सेवक और अग्रणी साहित्यकार; मननशील विचारक, विशिष्ट साधक, सफल व्यापारी और कर्मठ कार्यकर्त्ता है। उनका जीवन 'सादा जीवन और उच्च विचार' इस उक्ति का श्रेष्ठ निदर्शन है। वे भारत के गौरव है ऐसे विशिष्ट महापुरुष को यह अभिनदन ग्रन्थ समर्पित करते हुए हमे गर्व का अनुभव हो रहा है।

श्री नाहटाजी का जन्म आज से ६७ वर्ष पूर्व वि० स० १९६७ सन् (१९११ ई०) की चैत्र बदि ४ को राजस्थान के बीकानेर नगर मे सम्पन्न जैन परिवार मे हुआ था। पारिवारिक परिपाटी के अनुसार आपकी स्कूली शिक्षा अधिक नही हुई। पाँचवी कक्षा की शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् सं० १९८१ में जब आपकी अवस्था १४ वर्ष की थी, पैत्रिक व्यवसाय-व्यापार मे दीक्षित होने के लिए आपको बेलपुर कलकत्ते भेज दिया गया। स्कूली शिक्षा अधिक न होने पर भी अपनी अद्भुत लगन और अपने अध्यवसायपूर्वक निरन्तर अध्ययन के फलस्वरूप आपने अपने ज्ञान की परिधि को बहुत विस्तृत कर लिया।

स० १९८४ मे, १७ वर्षकी अवस्था मे, आप श्री आचार्यप्रवर श्री कृपाचन्द्रसूरि के सम्पर्क में आये। यह आपके जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड साबित हुआ। उसने आपके सामने आत्म शोध और साहित्य शोध का नया क्षेत्र खोल दिया। व्यापार से आपने मुंह नही मोड़ा पर अध्ययन और अनुसन्धान ही अब जीवन का मुख्य ध्येय बन गया। इस क्षेत्र मे भी आप सफलता की चोटी पर पहुंचने मे समर्थ हुए। चार सौ (४००) से ऊपर पत्र-पत्रिकाओं में ४००० से ऊपर लेख लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। आपने सहस्रश: ग्रन्थों का तथा शतश: प्राचीन साहित्यकारों का अन्धकार से उद्धार किया।

नाहटा की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज

पिछले पचास वर्षों मे नाहाटा जी ने सेकडों ज्ञात और अज्ञात हस्तलिखित ग्रथ-भडारों की छानबीन की और सहस्रश प्राचीन, नये और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का पता लगा कर उनका उद्धार किया है। इनमें अज्ञात ग्रन्थ भी है ज्ञात ग्रन्थो की विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ भी, जिनमें पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव-रास ढोलामारू रा दूहा, बेलि किसन रुकमणी री जैसे पूर्व ज्ञात ग्रन्थो की अनेक महत्वपूर्ण नव प्रतियो, सूरसागर, पदमावत, बिहारी सतसई जैसे ग्रन्थ की प्राचीनतम प्रतियो तथा चंदायन, हम्मीरायण बयामख रासो एव छिताईचरित जैसे अभी तक अज्ञात अथवा क ज्ञात ग्रन्थों की विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतियो के नाम गिनाये जा सकते है।

नाहटाजी जब यात्रा में जाते है तो गतव्य स्थानों पर जहाँ किसी हस्तलिखित ग्रन्थ-भडार की सूचना उन्हें मिलत है वहाँ पहुचकर उसको अवश्य देखते हैं और वहाँ विद्यमान महत्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण सकलित करके उसको प्रकाशित करवाते है।

हस्तलिखित ग्रन्थभंडारों की सूचियों का निर्माण

नाहटा जी ने ग्रन्थभण्डारों की विवरणात्मक सूचि भी प्रस्तुत कीं।

३. अभयजैन ग्रन्थालय नाम से हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल भंडार की स्थापना

अपने स्वर्गीय बड़े भ्राता अभयराजजी नाहटा की स्मृति में अभयजैन ग्रंथालय और अभय जैन ग्रंथमाला की स्थापना की गई।

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ से ही नाहटा जी ने हस्तलिखित प्रतियों की खोज और संग्रह के काम का श्रीगणेश कर दिया था। धीरे-धीरे उन के ग्रंथालय में लगभग पैंसठ हजार हस्तप्रतियों का संग्रह हो गया। ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी, कन्नड़, तमिल, अरबी, फारसी, बंगला, अंग्रेजी, उड़िया आदि विविध भाषाओं के और विविध विषयों के हैं। अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ दुर्लभ भी हैं। अनेक ग्रंथ तो अन्यत्र अलभ्य ही हैं। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन और उत्तरकालीन पुरालेखों (विविध प्रकार के दस्तावेज, पत्र, व्यापारिक पत्र, पट्टे-परवाने, बहियाँ आदि कागजपत्रों) का बड़ा भारी संग्रह भी ग्रंथालय में एकत्रित है।

४. अभय जैन ग्रन्थालय के अन्तर्गत मुद्रित पुस्तकों का संग्रह

इसमें शोधकार्य के लिए आवश्यक सन्दर्भ-ग्रन्थों, और शोधोपयोगी प्राचीन इतिहास, पुरातत्व, कला, साहित्य आदि विविध विषयों की पुस्तकों का बृहत् संग्रह है। ग्रन्थों की संख्या ४५ हजार से ऊपर है।

उक्त दोनों ही लक्षाधिक ग्रन्थों के संग्रहो से शोध-विद्वान् और शोध-छात्र भरपूर लाभ उठाते हैं।

५. पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों का संग्रह

अभय जैन-ग्रन्थालय में विविध विषयो की पत्र-पत्रिकाओं की विशेषतः शोधपत्रिकाओं की, पुरानी फाइलें बड़े परिश्रम के साथ प्राप्त करके संगृहीत की गयी है। ये फाइलें शोध-विद्वानों के बड़े काम की हैं क्योंकि साधारणतया पत्रिकाओं के पुराने अंक सहज ही प्राप्त नही होते।

६. शंकरदान नाहटा कलाभवन की स्थापना

नाहटा जी अद्वितीय संग्राहक हैं, उन्होने अपने पिताजी की स्मृति में एक महत्त्वपूर्ण कलाभवन की स्थापना की। इसमें प्राचीन चित्र, मूर्तियाँ, सिक्के आदि छोटी-बड़ी कलाकृतियों तथा अन्यान्य संग्रहणीय वस्तुओं का अच्छा संग्रह किया गया है। व्यक्तिगत संग्राहलयों में यह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है।

७. विविध विषयों पर ४००० से ऊपर शोधपरक एवं अन्यान्य निबंधों का लेखन और प्रकाशन—

इन निबंधों की क्षेत्र-सीमा बहुत विस्तृत है। उनमे विभिन्न भाषाओं के विभिन्न ग्रन्थकारो और उनके ग्रन्थों, तथा पुरातत्व, कला, इतिहास साहित्य, लोक साहित्य, लोक-संस्कृति आदि विविध विषयो के विभिन्न पक्षों पर नयी-से-नयी जानकारी दी गयी है। इन निबंधों को मुख्यतया चार विभागो मे बाँटा जा सकता है—

१. पुरातत्व, कला इतिहास।

२. साहित्य— संस्कृतसाहित्य, अपभ्रंश साहित्य, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती एवं हिन्दी साहित्य, ग्रंथकार और उनके ग्रंथ।

इन निबन्धों की सूची शीघ्र ही प्रकाशित की जायेगी।

३. लोकजीवन, लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य।

४. धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार-विचार, लोक व्यवहार।

ये निबंध देश के विभिन्न स्थानो से प्रकाशित होने वाली ४०० से ऊपर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुए है। इतने अधिक एवं विविध विषयक शोध-निबंध विश्व मे शायद ही किसी दूसरे विद्वान् ने लिखे हो।

८. बीकानेर राज्यभर के जैन अभिलेखो (शिलालेखो, मूर्तिलेखों, धातुलेखो) का विशाल संग्रह और प्रकाशन।

९. अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो का विस्तृत प्रस्तावनाओं के साथ संपादन।

१०. शोधार्थियों का तीर्थस्थान

नाहटा जी का स्थान शोधविद्वानो और शोधछात्रो के लिए मानो कल्पवृक्ष ही है। यही कारण है कि उनके यहाँ शोधार्थी लोग बराबर आते रहते हैं। शोधार्थियो को जो सहायक सामग्री, ग्रंथ आदि चाहिए वह अधिकतर उनके पुस्तकालय मे उपलब्ध हो जाती है। यदि नही होती है तो ज्ञान के विश्वकोश-रूप नाहटाजी से सहज ही पता लग

---

१. इन निबन्धों की सूची शीघ्र ही प्रकाशित की जायेगी।

जाता है कि कहाँ-कहाँ उपलब्ध हो सकती है। वे स्वयं भी अनेक बार अन्यान्य स्थानों से शोधार्थी के लिए व्यवस्था कर देते हैं। कोई मुद्रित पुस्तक प्राप्त नहीं होती है तो पुस्तक को अपने पुस्तकालय में मंगवाकर उसे सुलभ कर देते हैं। अनेक बार नाहटा जी अपनी निजी प्रतियाँ भी उपयोग के लिए शोधार्थियों को भेज देते हैं। शोधार्थी विद्वानों और छात्रों को उनके यहाँ शोध-सामग्री ही नहीं प्राप्त होती किन्तु निवास और भोजन की व्यवस्था भी व प्रायः स्वयं ही अपने यहाँ कर देते है।

शोध-छात्रों के साथ नाहटा का व्यवहार अतीव उदारतापूर्ण और सहानुभूति-पूर्ण होता है। वे उनकी सब प्रकार की सहायता करने को सदा तत्पर रहते हैं। नाहटा जी से उन्हें शोध-सामग्री और आवश्यक पुस्तकें ही प्राप्त नहीं होतीं किन्तु विषय-निर्वाचन से लेकर अन्त तक निर्देशन भी मिलता है। छात्रों के घर चले जाने के बाद भी अनेक बार पत्र द्वारा उनकी प्रगति का हाल पूछते हैं और यदि नयी जानकारी ज्ञात होती है तो उसकी सूचना भी तुरन्त देते है। शोधविद्वान और शोधछात्र नाहटा के पुस्तकालय को इच्छाफल-दाता तीर्थस्थान मानते हैं। ऋषि तुल्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने उन्हें औढरदानी बतलाया है।

११. अद्भुत स्मृति कोष

अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी श्री नाहटाजी जिस ग्रंथ का भी एक बार अवलोकन कर लते है उसके वाक्यांशों तक का सदर्भ उनके मानस पलट पर स्थायी रूप से अंकित हो जाता है। फलस्वरूप श्री नाहटा जी ने जहाँ अलभ्य ग्रथों का संग्रहालय स्थापित किया है। वहाँ वे स्वयं भी एक चलते-फिरते ज्ञान भंडार, ज्ञान कोष बने हुए है। यह प्रकृति की आपको अनुपम देन है।

१२. महान आत्मसाधक

साहित्य शोध के साथ-साथ श्री नाहटाजी आत्मानुभूति के क्षेत्र में भी सतवत् ऋषितुल्य महान् साधक है। प्रतिदिन प्रातः २-३ बजे से आपका स्वाध्याय, ध्यान, मनन, चिन्तन का साधनापरक क्रम प्रारम्भ होता है जो दिनचर्या की अन्य गतिविधियों के साथ निर्बाध रूप से रात्रि शयन तक चालू रहता है। अनुभूतिकी यह स्थिति विरल साधको को ही प्राप्त होती है।

१३. जन-जन के प्रेरणा स्रोत

श्री नाहटाजी ने स्वयं तो अपनी कर्मठता और अध्यवसाय से अतुलनीय उपलब्धि की ही है पर साथ ही सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को नानाविधि प्रेरणा देकर चिन्तन, अध्ययन, लेखन, शोध आदि किसी न किस विशिष्टकार्य की ओर प्रवृत्त किया है।

१४ सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों के लाडले सपूत

प्राय यही देख पाया जाता है कि सरस्वती के आराधको पर लक्ष्मी की कृपा कम ही रहती है एवं लक्ष्मी के उपासको पर सरस्वती का वरद हस्त मूक ही रहता है पर नाहटा जी इसके विरल अपवादी है, आप दोनों देवियो के समान रूप से लाडले सपूत हे। साहित्य तपस्वी के साथ-साथ कुशल व्यापारी भी हैं।

१५. इधर साहित्य सेवियों मे आध्यात्मिक साधक विरल होते हैं पर नाहटाजी दोनों क्षेत्रों मे समान रुचि, गति एवं अधिकार रखते हैं। धर्म और दर्शन भी उनके जीवन-प्राण हैं। प्रातः २-३ बजे से सामायिक स्वाध्याय, भजन-पूजन, व्रत-नियम की आराधना-साधना का प्रवाह चालू होता है। साथ ही साहित्य सेवा भी चलती रहती है। नाहटा जी लेखक के साथ-साथ गंभीर चिन्तक एव मनीषी है। निरन्तर स्वाध्यायशील, अन्वेषक एवं साधक है।

१६. नाहटा जी को विद्यावारिधि, सिद्धान्ताचार्य साहित्य वाचस्पति जैसी सर्वोच्च उपाधियाँ सस्थाओं की ओर से स्वयं प्रदान है। पर आप अपने नाम के साथ किसी भी उपाधि का उपयोग नही करते। यह बहुत ही उल्लेखनीय एव महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रकार १६ कलाओं वाले पूर्णचन्द्र प्रकाशित हो रहे हैं।

ऐसा विरल एव विलक्षणव्यक्तित्व, बहुमुखी प्रतिभा, अनेकानेक विशेषताओं का सुभग संयोग बहुत ही कम पाया जाता है।

ऐसे साहित्य तपस्वी, आत्मनदी साधक का अभिनन्दन एक गुणपुज विभूति का अभिनन्दन है।

पिता—सेठ शकर दास जी नाहटा। माता—चुन्नी देवी
जन्म वि० सं० १९६७ चैत्रबदी ४ बीकानेर (सन् १९११)

(शेष पृ० ६ पर)

जागरण

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

अज्ञान ही हार है और ज्ञान ही विजय है। नीद में हमें को कभी पता नहीं लगता कि आप कब सोये। यह तो जागकर ही पता चलता है कि आप कब सोये और नीद का अनुभव जागने पर ही होता है। जो लोग सोये हुए हैं। मूर्छा में पड़े हुए है, उनको अवस्था का तब पता लगेगा जब वे जान जायेंगे कि वे सोये थे अथवा मूर्छित थे वास्तव मे व्यक्ति कभी-कभी ही जागता है। वह कोई खास क्षण होता है। मान लो अचानक किसी की छाती पर छूरा रख दिया जाए तो उस क्षण वह जाग जाएगा, उस क्षण वह सोया नही रह सकता। छूरे का एक-एक क्षण नीचे सरकना उनकी जानकारी मे हो रहा होगा परन्तु उस समय भी वह उसी क्रिया मात्र के लिए जाग रहा होगा। वह अपने आप मे जागा नही है। अपने आप मे जागना तब कहलाएगा जब उसको यह अनुभव हो जाए कि वह जानने वाला है और दुनिया के सारे पदार्थ सारी चीजे जो है वे उसके समक्ष दृश्य है। ज्ञानी कहते है विवेक से चलो। उसका मतलब है कि जो क्रिया हो रही है, उसी मे जागो, प्रमाद न करो। ज्ञानी किसको कहा है जो किसी खास प्रकार की क्रिया करता है उसको ज्ञानी, नही कहते या जो नग्न साधु वेष धारण करता है उसको ज्ञानी नही कहते। ज्ञानी वह है जो सोया हुआ नही है। जो सोया हुआ है वह अज्ञानी है। कोई जागकर जी रहा है, कोई सो कर जी रहा है। अगर वह जागा हुआ है। कम-से-कम अपने आप मे, तो उसके जीवन मे ज्ञानीपना उतर आएगा। अगर वह अपने आप मे सो रहा है तो उसकी जिन्दगी मे असाधुता के सिवाय और कुछ भी नही हो सकता। अगर भीतर अपने आप मे सोया हुआ है तो बाहर से साधु बना रह सकता है परन्तु वह बना हुआ साधु ही होगा। और जो बने हुए साधु है वे असाधु से भी बदतर हालत में होते है।

परमात्मा को जानने के लिए स्वयं को जानना जरूरी है और सत्य को जानने के लिए पहले स्वय को पहचानना जरूरी है। वस्तु से जो परिचय है वह विज्ञान है और स्वय से जो परिचय है वह ज्ञान है। जो स्वय को नही जानता उसके लिए ईश्वर मृत है। चाहे वह कितनी ही पूजा करे और कितना ही दान करे। अगर उसने स्वयं को जानने का काम नही किया तो एक क्षण के लिए भी उसका परमात्मा से संबंध नही हो सकता। परन्तु स्वय को जानने का पुरुषार्थ कर पाने के लिए भी अपने अज्ञान का बोध चाहिए। यह समझ मे आना चाहिए कि मैं कुछ भी नही हू, मैं कुछ नही जानता हूं। लेकिन उसका अहकार कहता है कि मैं बहुत कुछ जानता हू। धन छोड़ देना बहुत आसान है, परन्तु ज्ञान का अहकार छोडना बहुत कठिन है। इसलिए जो लोग धन छोडकर भाग जाते है वे लोग भी ज्ञान का अहकार नही छोड पाते। आदमी सब घर-बार छोड देता है लेकिन अपनी जाति को नही छोडता। अगर वह जाति विशेष को नही छोड़ सकता तो स्पष्ट है कि अभी भी उसने कुछ पकड़ रखा है जो आत्मा की अपनी चीज नही है। धन बाहर की चीज है। उसे छोड़ा जाए तो जो उपलब्धि होगी वह भी केवल बाहर की होगी। ज्ञान का अहकार भीतर है अगर वह छोड़ दिया जाता है तो जो उपलब्धि होगी वह भीतर की होगी। सम्पूर्ण दुनिया मे दो ही मुख्य चीजे है— ज्ञान तथा धन। और दो ही तरह के लोग है—ज्ञान को इकट्ठा करने वाले अथवा धन को इकट्ठा करने वाले धन के संग्रह से तथा पद और सम्मान से यह भाव होता है कि मैं कुछ हू। ज्ञान का भी अहकार होता है कि मैं कुछ हूं। क्या यह नही हो सकता कि 'मैं' चला जाए? यह हो सकता है। यह जो 'मैं' है वह परमात्मा और मनुष्य के बीच रुकावट है। जब जीव अपने

आप को जानने लगेगा, अपने आप मे जागृत हो जाएगा, तो यह दूसरा नकली 'मैं' एक दिन विलीन हो जाएगा। इसे छोड़ना नहीं पड़ेगा, वह अपने आप छूट जाएगा। ऐसा लगेगा 'मैं' तो था ही नही। जिस दिन यह दिखाई पड़ेगा कि वह 'मैं' नही हूं, उसी दिन दिखाई पड़ेगा कि वह जो है उसका नाम ही परमात्मा है।

जब जीव जागरण को प्राप्त होता है तो वह धर्म को भी प्राप्त होता है। जो जागरण का मार्ग है वही ज्ञान का मार्ग है। दमन का मार्ग ज्ञान का मार्ग नहीं। जागरण भोगों के दमन का, मिथ्या आडम्बर का मार्ग नहीं, वास्तविक जीवन का, ज्ञान का, मार्ग है। उसके प्रवर्तन मे सदाचरण के फूल खिलते है। अचेतन वासनाओं का अभाव होने से मुक्ति होती है। सदाचरण सम्बन्धी भय नही, वास्तविक जीवन पैदा होता है। जाग्रत व्यक्ति किसी आवरण को ओढ़ता नही है। उसमे अन्तर की क्रान्ति है। उसके बाहर-भीतर अपने आप परिवर्तन हो जाता है। जागरण से ज्ञान ही नही होता परिवर्तन भी होता है। असल मे निरीक्षण ज्ञान लाता है और ज्ञान से परिवर्तन आता है। उसी निरीक्षण से, जागरण से वासना की मृत्यु हो जाती है। अतः जागरण ही क्रान्ति है। इसलिए जागरण ही शुभ है। मूर्छित अवस्था अशुभ है क्रोध या काम मूर्छा मे ही जीव को पकड़ते है। असल मे तो मूर्छा ही पाप है। शुभ और अशुभ का निर्णय न करें, बस द्रष्टा बन जायें, साक्षी बन जाएँ, देखने वाले बन जाएं। जैसे मैं दूर खड़ा हू, जानने देखने के अतिरिक्त मेरा और कोई प्रयोजन नही है। जैसे ही प्रयोजन आ जाता है, वैसे ही निरीक्षण बन्द हो जाता है। जब कोई ऐसी जगह से गुजरता है जहाँ मरने का डर है, सकट का क्षण है तो उस भय के प्रति वह पूर्ण जाग्रत होता है। उसको अपने एक-एक कदम का ज्ञान बना रहता है। कोई व्यक्ति ऐसी सकरी सड़क से पार हो रहा हो जिसके दोनो तरफ खाई है। बर्फ जमी हुई है, पोह का महीना है, वह जानता है कि अगर एक भी कदम टेढ़ा रखा गया तो नाले मे चला जाएगा और बर्फ से ठंडा हो जाएगा। वह जो भी कदम रखेगा वह बड़ी सावधानी से रखेगा, जागते हुए रखेगा और एक-एक कदम की आवाज तक उसको सुनाई देगी। उससे पूछा जाए कि वह नाला जिसको तुमने पार किया कितना लम्बा था तो वह बता सकता है कि इतने कदम लम्बा था। जबकि शायद वह नही बता पाए कि उसके अपने मकान मे कितनी सीढ़ी है जिन पर वह सैकड़ों दफा चढ़-उतर चुका होगा। उस भांति का जागरण अपने आप मे होना चाहिए, केवल किसी एक क्रिया विशेष के लिए नहीं।

सत्य की अनुभूति एक बात है और उसकी अभिव्यक्ति दूसरी बात। व्यक्ति यदि मात्र तप और सयम करता है तो उसमे कोई आन्तरिक फर्क नही पड़ता केवल बाहरी व्यवस्था बदल जाती है। सवाल संयम और तप का नहीं है। सवाल है चेतना के रूपान्तरण का, चेतना के बदल जाने का। चेतना के बदलने के लिए बाहरी कार्यक्रमो का कोई भी अर्थ नही है। चेतना को बदलने के लिए भीतर की मूर्छा का भागना आवश्यक है। प्रश्न उसी का है। चेतना के दो रूप है। एक मूर्छा और दूसरा अमूर्छा। वैसे ही क्रिया के दो रूप है : सयम और असयम। एक बाहरी दृष्टि है एक अतरग। ज्ञान की अवस्था अतरंग बात है और आचरण की अवस्था बाहरी। जीव हर एक कार्य मे, प्रत्येक स्थिति मे, चेतन हो, जागृत हो, मूर्छित नही, इसी को अप्रमाद कहा गया है और जागते हुए भी, सोते हुए भी भीतर जो एक मूर्छित अवस्था चल रही है, उसको प्रमाद कहा गया है।

इसकी फिक्र नहीं कि पाप को पुण्य मे कैसे बदलें, हिंसा को अहिंसा मे कैसे बदले, असयम को सयम मे कैसे बदलें, कठोरता को कोमलता मे कैसे बदलें। सवाल यह नही है कि हम क्रिया को कैसे बदलें। यदि कर्त्ता बदल जाता है तो क्रिया अपने आप बदल जाएगी क्योंकि कर्त्ता ही तो क्रिया को करता है। कर्त्ता ही क्रिया करने मे समर्थ होता है। भीतर से कर्त्ता बदला, चेतना बदली। पाप वह है जो सजग व्यक्ति नही कर सकता। पुण्य वह है जो एक सजग व्यक्ति को करना पड़ता है। कर्म को बदलने पर विचार नही करना है बल्कि कोशिश करनी है। चेतना को बदलने की। चेतना बदल जाती है तो कर्म भी बदल जाता है। जब जीव चेतना मे जाग्रत होता है तो सयम के, दया के, करुणा के फूल खिलने लगते है और वास्तविक,

स्वाभाविक परिवर्तन आता है, ओढ़ा हुआ आचरण नही।

अपने चेतन स्वभाव में जागरण किसी की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे एक दिया जल रहा है और उससे रोशनी चारों तरफ फैल रही है। उसके पास से कोई भी गुजरता हो वह दिया अपनी रोशनी कम या ज्यादा नही करता। उसे इस बात की फिक्र नही कि उसके पास से कौन गुजर रहा है : सम्राट या गरीब भिखारी। कोई भी उसके पास से होकर जाए उसकी रोशनी निरन्तर बिखरती रहती है। सच तो यह है कि दिए का जलाना दूसरे पर निर्भर नही करता। दिए का जलना उसकी अन्तर्वस्तु है। वह स्वय मे जागृत है।

धर्म की साधना भी जागरण से हा आती है। धर्म साधा नही जाता, वह तो जागरण से क्रियाओ मे रूपान्तर होता है।

मूर्छा टूटने का मतलब यह नही कि चीजे हट जायेंगी, मूर्छा टूटने का मतलब है कि चीजें तो रहेंगी लेकिन उनसे लगाव छूट जाएगा। चीजें हो या न हों, सवाल यह नही है जो परिग्रह या अपरिग्रह का सवाल है वह बाहरी चीजो का है वह भीतर नही है। जहाँ विवेक होगा वहाँ आचरण स्वय उपस्थित हो जाएगा, करना नही पड़ेगा। अगर करना पड़ रहा है तो वह इस बात की खबर दे रहा है कि वहाँ अन्तर-विवेक नही है। अन्तर विवेक की अनुपस्थिति मे आचरण अन्धा है, चाहे वह कितना ही नैतिक क्यो न हो। वह समाज के लिए ठीक हो सकता है परन्तु आत्म-कल्याण के लिए नही।

फिक्र इसकी करनी चाहिए कि जीव जो भी है उसमे जागे, इसकी नही कि उसे क्या करना है और क्या होना है। होने की चिन्ता छोड़ दें। वह जो जागना है वही वीतरागता मे ले जाएगा और वीतरागता एक बिल्कुल भिन्न बात है।

व्यक्ति सोकर स्वप्न मे सब कुछ ग्रहण कर लेता है। लेकिन सुबह हँसता है क्योकि वह जाग गया है। स्वप्न में जिसको ग्रहण किया था वह जाग्रत होने पर नही रहा। सोचना नही पड़ता कि मैं कुछ करूं परन्तु जहाँ मूर्छा गयी वहाँ अपनापना भी गया।

अगर कोई स्वय मे जाग जाता है तो उस द्वार पर पहुच जाता है जहाँ से ज्ञान की शुरूआत होती है। स्वयं में जाग जाना पहला बिन्दु है। वहीं से यात्रा भीतर की ओर हो सकती है। व्यक्ति या तो राग में होता है या द्वेष मे होता है और स्वय के बाहर होता है। रागद्वेष होने का अर्थ है स्वयं के बाहर होना। चाहे मित्र पर हो चाहे शत्रु पर, लेकिन चेतना कहीं और होगी राग में भी द्वेष में भी। जो आदमी धन इकट्ठा करने मे पागल है उसका ध्यान भी धन पर होगा और जो आदमी धन को अनिष्ट मान रहा है उसका ध्यान भी धन पर ही होगा। धन पर ही दृष्टि बिन्दु होगा उन दोनो का और अपने प्रति सोए होगे। परन्तु जो स्वय मे जागृत हो जाता है उसकी सब बिन्दुओ मे दृष्टि घूम कर अपने आप पर खड़ी हो जाती है। वह चुपचाप देखने लगता है। यह रहा त्याग, यह रहा क्रोध। न मैं भोग करता हू, न मैं त्याग करता हूं। मैं अलग खड़ा देखता हूँ ऐसी स्थिति मे स्वयं का द्वार खुल जाता है जहाँ से ज्ञान की प्रथम भूमिका में जाया जा सके। तब वासना की डोर टूट जाती है। कर्मकृत खेल फिर भी चलता रहता है। परन्तु फिर उस खेल से क्या बिगड़ता है ? साक्षी उसमे अलग खड़ा हो जाता है।

जागृति दो तरह से हो सकती है, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी जागृति होगी तो अन्तर अन्धकार-पूर्ण हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति मूर्छित हो जाएगा अगर जागृति अन्तर्मुखी है तो बाहर की तरफ मूर्छा हो जाएगी। अन्तर्मुखता का अगर विकास हुआ तो जो तीसरी स्थिति होगी वह भी जागृति की उपलब्धि होगी जहाँ अन्धकार मिट जाता है और सिर्फ प्रकाश रह जाता है। वह पूर्ण जागृत स्थिति है लेकिन बहिर्मुखता से कभी कोई एक तीसरी स्थिति में नही पहुंच सकता। तीसरी स्थिति में पहुचने के लिए अन्तर्मुखता जरूरी है। बाहर से लौट आना है और फिर अपने से भी ऊपर चले जाना है। मूर्छा का अर्थ है कि बाहर है। बाहर का मतलब है कि स्वयं अपना ध्यान बाहर है। और जहाँ अपना ध्यान है वहां

शक्ति है और जहाँ अपना ध्यान नही है वहां मूर्छा है। ऐसी अन्तर्मुखता का नाम ही जागरण है। जो पूरी तरह जग गया वह साधु है जो सो रहा है वह असाधु है जागरण इतना गहन हो जाए कि न केवल बाहर की आवाज सुनाई पड़े, बल्कि अपना श्वास और हृदय की धड़कन भी सुनाई पड़ने लगे और अपनी आंख की पलक का हिलना भी पता चलने लगे। भीतर के विचार भी पता चलने लगें, जो भी हो रहा है वह सब चेतना मे प्रतिफलित होने लगे।

□□

(पृ० ५ का शेषांश)

नाहटाजी के प्रेरणा-स्रोत जीवनसूत्र

१. करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर परत निसान॥

२. काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब॥

३. एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय॥

४. रे मन। अप्पहु खंच करि, चिन्ता-जालि म पाडि।
फल तित्तउ हिज पामिसइ, जित्तउ लिहिउ लिलाडि॥

(श्रीपाल चरित्र)

नरोत्तमदास स्वामी
डा० मनोहर शर्मा

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन वीरसेवामन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी जैन परम्परा

☐ श्री कपूरचन्द जैन, खतौली

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य के दो भेद किये गये हैं। पहला श्रव्य काव्य जिसे पढ़ने अथवा सुनने से पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में आनन्दानुभूति होती है। दूसरा दृश्य काव्य[1] जिसमें श्रवणातिरिक्त पात्रों का का अभिनय, उनकी वेषभूषा, आकृति, भाव भंगिमा आदि के द्वारा सहृदय सामाजिकों के हृदय में आनंद का सचार होता है। चूंकि दृश्य अभिनेय होता है। और उसमें प्राचीन या काल्पनिक रामादि का नटादि पर आरोप किया जाता है अतः उसे रूपक कहा जाता है 'रूपा-रोपात्तु रूपकम्'[2] रूपक के नाटक प्रकरण आदि प्रमुखतः दस भेद हैं।[3] किन्तु रूपक का प्रथम और प्रमुख भेद होने के कारण सम्प्रति रूपक का स्थान नाटक ने ले लिया है और सामान्यतः दृश्य काव्य नाटक-शब्द-वाच्य हो गया है। प्रस्तुत निबन्ध में भी रूपक के स्थान पर नाटक शब्द का प्रयोग किया गया है।

नाटक का उदभव कब हुआ इस सम्बन्ध में न केवल भारतीय अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी भरपूर गवेषणा की है। भारतीय परम्परानुसार विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, कला, कौशल के उत्पत्ति स्थान वेद हैं। नाटकों की उत्पत्ति भी वेदों से हुई इसी कारण उसे 'चतुर्वेदाग-सम्भवम्' कहा जाता है। आद्य काव्याचार्य भरतमुनिप्रणीत नाट्शास्त्रानुसार—देवताओं ने जगत पिता ब्रह्मा के पास जाकर उनसे ऐसी वस्तु के निर्माण की प्रार्थना की जो कानों तथा नेत्रों को समान रूप से आनन्द दे सके। जो केवल द्विजातियों की ईर्ष्या सम्पत्ति न हो अपितु शूद्र भी जिसके अंशभागी हो सकें। ब्रह्मा ने देवताओं की प्रार्थना सुनकर ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामदेव से गीत यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर पंचम वेद नाट्यवेद की रचना की।[4]

रचनान्तर देव-वास्तुशिल्पी विश्वकर्मा को प्रेक्षागृह के निर्माण की तथा भरत को अपने शतपुत्रों के साथ उसमें अभिनय की आज्ञा दी। आशुतोष भगवान शंकर ने रौद्र व्यंजक ताण्डव तथा पार्वती ने सुकुमार एवं शृंगारिक लास्य नृत्य द्वारा इस नाट्य में योगदान किया और सर्व-प्रथम ब्रह्मा द्वारा निर्मित 'अमृतमन्थन' समवकार एवं 'त्रिपुरदाह' नामक डिम को प्रस्तुत किया।

नाट्य के भूतल पर स्थानान्तरित होने के सम्बन्ध में दो कथायें भी नाट्यशास्त्र के अंतिम अध्याय में दी गई है तदनुसार भरतपुत्रों को अपने नाट्य प्रयोग पर अभिमान हो गया और एक बार उन्होंने मुनियों के आक्षेपपूर्ण व्यंग्य का अभिनय किया जिससे क्रुद्ध हो मुनियों ने शाप दिया कि ऐसा नाट्य समाप्त हो जाये और भरत पुत्र शूद्र हो जायें। देवों के प्रार्थना करने पर मुनियों ने शाप में संशोधन किया कि नाट्यविद्या नष्ट तो नहीं होगी किन्तु भरत पुत्रों को शूद्र अवश्य होना पड़ेगा। शास्त्र के चरितार्थ होने में दूसरी कथा दी गयी है। तदनुसार जब इन्द्र का पद सम्राट नहुष को मिला तो भरत पुत्रों का अभिनय देखकर नहुष ने भूलोक पर अपने घर में वहीं

१,२. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्।
दृश्य तत्राभिनेय तदरूपारोपान्तुरूपकम्॥
विश्वनाथ साहित्यदर्पण ६/१

३. नाटकमथप्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥
साहित्यदर्पण ६/३

४. नाट्य शास्त्र १/१६

५. वही १/४-१७

अभिनय करने का अनुरोध किया। भरतपुत्र तैयार नहीं हुये, काफी विचार-विमर्श के बाद भरत ने अपने पुत्रों को समझाया कि ऐसा करने से ऋषि का शाप भी छूट जायेगा तब भरत पुत्र पृथ्वी पर आये। और नहुष के अन्तःपुर में नाट्य-प्रयोग किया तथा गृहस्थ होकर कुछ समय पृथ्वी पर बिताया। और स्वर्गलोक लौट गये, किन्तु वे अपनी सन्तति को नाट्य प्रयोग की शिक्षा दे गये थे। जिससे पृथ्वी पर नाट्य आया।[६]

पाश्चात्य विद्वानों जिनमे, श्री मैक्स मूलर, प्रो० सिल्वा लेवी, ओल्डेन बर्ग, डा० हर्टल आदि प्रमुख है— का मत है कि ऋग्वेद के सवादात्मक सूक्तों से नाट्योत्पत्ति हुई है ऋग्वेद मे यम यमी सवाद, सरमापणि सवाद, इन्द्र मरुत सवाद, अगस्त्य लोपा मुद्रा सवाद, विश्वामित्र नदी सवाद आदि अनेकों ऐसे सवादसूक्त हैं जिनमे नाटको का बीज विद्यमान है। मैक्समूलर का कथन है कि ऋत्विकगण इन सुक्तो का अभिनयात्मक पाठ करते थे यही नाट्य का बीज है डा० रिडिश, ओल्डेन बर्ग तथा पिशेल का अनुमान है कि ये सूक्त पहले गद्यपद्यात्मक थे अधिक रोचक एव कंठस्थ करने में सरल होने के कारण इनका पद्य भाग बच गया तथा गद्य भाग नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त ये आख्यात्मक भी थे तथा इन्हीं के अनुसरण पर गद्य पद्य के संवादात्मक तत्व का नाट्य मे मिश्रण हुआ। ऐतरेय-ब्राह्मण का शुनःशेप आख्यान तथा शतपथब्राह्मण का पुरुरवा-उर्वशी आख्यान इस प्रकार के अंश के प्रमाणभूत अविष्ट रूप है। अतः इन्हीं से नाट्य का उद्भव हुआ है[७] भारतीय विद्वान् डा० दास गुप्ता भी इस मत से सहमत है कि वेद मन्त्रो मे नाटकीय तत्व प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है और तत्कालीन जीवन के धार्मिक अवसरों, सगीत समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटकों का घनिष्ट सम्बन्ध था।[८]

प्रो० रिजवे का मत है कि नाटकों का उद्भव मृतात्मा के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की परम्परा से हुआ मृतात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की परम्परा सभी संस्कृतियों में हैं आज भी ऐसे विभिन्न अभिनयात्मक आयोजन (श्राद्ध) प्रचलित है।

डा० पिशेल का कथन है कि नाटकों की उत्पत्ति में पुत्तलिका नृत्य का महत्वपूर्ण योगदान है अतः उसे ही नाट्योत्पत्ति का मूल माना जाना चाहिये। उनका कहना है कि पुत्तलिका नृत्य सर्वप्रथम भारत में ही प्रारम्भ हुआ महाभारत तथा, कथा सरित्सागर में पुत्तलिकाओं का वर्णन है। इस नृत्य में एक सूत्रधार होता है जो पीछे से पुत्तलिकाओं को नचाता है उनका कथन है कि नाटक के उपस्थापक के लिये इसी कारण आज भी सूत्रधार शब्द का प्रयोग होता है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यूरोप में होने वाले मेपोल पर्व को नाट्योत्पत्ति का मूल माना है। यह पर्व मई मास मे होता है।

प्रो० हिलब्राण्ड का कथन है कि लोकप्रिय स्वांगो से नाटकों की उत्पत्ति हुई स्वांगों के साथ रामायण और महाभारत की कथाओं ने मिलकर नाटकों को जन्म दिया[९] इसी प्रकार प्रो० ल्यूडर्स का कथन है कि छाया नाटकों में जो छाया चित्रों का प्रदर्शन किया जाता है उससे नाटकों की उत्पत्ति हुई[१०] प्रो० वेबर भारतीय नाटकों का जन्म यूनानी प्रभाव से मानते है।

डा० कीथ के अनुसार नाटक का उद्भव प्राकृतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत करने की इच्छा की देन है। महाभाष्य मे निर्दिष्ट कंसवध नामक नाटक का अभिनय कीथ के मतानुसार इस मत की पुष्टि करता है।[११]

जैन परम्परानुसार नाटकों की उत्पत्ति दैविक है किन्तु बाद में चलकर तीर्थंकरो के पंचकल्याणको के अभिनय से

६. दे०—हिन्दी नाट्यशास्त्र, व्या० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री चौखम्बा वाराणसी १९७२ भूमिका पृष्ठ ४६
७. वही पृष्ठ ४७
८. डा० एस० एन० दास गुप्ता ऐण्ड एस० के० डे० : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर वाल्यूम ६ पृष्ठ ४८
९. दे०—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास: डा० कपिलदेव द्विवेदी पृ० २६६
१०. वही
११. दे० सं० सा० की रूपरेखा : व्यास तथा पाण्डेय १९७० पृ० ९४

उसका विकास हुआ। जिनसेन कृत आदिपुराण में उल्लिखित हैं कि भगवान ऋषभदेव के जन्म कल्याण मे इन्द्र अनेक देवताओं के साथ आया और भगवान को पाण्डुक शिला पर स्नान कराने के बाद अयोध्या नगरी मे लौटा तदनन्तर उसने नगरवासियों का आनन्द देखकर आनन्द नाम के नाटक में अपना मन लगाया।[१२] पहले उसने नृत्य किया इन्द्र स्वय प्रधान नृत्यकार था कुलाचलों सहित पृथ्वी रंगभूमि नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष दर्शक, ऋषभदेव आराध्य, धर्मार्थकाम तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल थे।[१३] पहले इन्द्र ने गर्भावतार सम्बन्धी, फिर जन्माभिषेक सम्बन्धी और फिर भगवान के पूर्व के महाबल आदि दशावतारों को लेकर नाटक किये। इन्द्र ने पहले मंगलाचरण, फिर पूर्व रंग फिर ताण्डव नृत्य नान्दी मंगल करने के बाद रंगभूमि मे प्रवेश[१४] किया इन्द्र के साथ अनेक देवियों ने भी नृत्य किया[१५] इन्द्र उसका सूत्रधार जैसा प्रतीत हो रहा था।[१६]

पुरुदेवचम्पू में भी ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है वहाँ इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक उत्पन्न किया और स्वयं उसका अभिनय देवताओं के साथ किया।[१८]

ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थंकरो के कल्याणकों पर जो इन्द्रादि देवता आते थे वे गाजे-बाजे के साथ भूतल पर कल्याणक मानकर और नृत्योत्सव करके चले जाते थे बाद में साधारण जन भी समय-समय पर मनोरजनार्थ कल्याणकों को मानते थे और वैसा ही अभिनयादि किया करते थे धीरे-धीरे इसी परम्परा ने आधुनिक नाटक का रूप ले लिया। आज भी जैन परम्परा में 'पचकल्याणक नाटक, (पंचकल्याणक नृत्य)' आदि नाटक स्थान-स्थान पर किये जाते हैं।

यहाँ वैदिक और जैन सिद्धान्त मे अनेक समानतायें दृष्टव्य हैं। वैदिक सिद्धान्तानुसार नाट्योत्पत्ति, ब्रह्मा (देव) ने की, उसका अभिनय भी भूतल पर सर्वप्रथम देवो द्वारा हुआ। शंकर ने ताण्डव नृत्य से और पार्वती ने लास्य से इसमें भारी योगदान दिया। जैन सिद्धान्त के अनुसार भी इन्द्र (देव) ने नाट्योत्पत्ति की प्रथम अभिनय देवों ने कल्याणकों पर किया इन्द्र ने ताण्डव और देवांगनाओं ने लास्य नृत्य से इसमे योगदान किया।[१९]

एक समानता और, उनके अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने मेपोल पर्व से नाट्योत्पत्ति मानी है। यह उत्सव मई के महीने मे होता है जिसमें एक स्तम्भ (पोल) गाडकर स्त्री पुरुष उसके चारों ओर नाचते हुये उत्सव मनाते है।

भारतीय विद्वान् प० रामावतार शर्मा ने भारतीय इन्द्रध्वज उत्सव को तथैव स्वीकार किया है।[२०] यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाये तो जैन परम्परा में भी इन्द्रध्वज विधान है जो सम्भवतः प्राचीन काल मे भारी उत्सव के साथ मनाया जाता था। इस विधान मे भी एक विशाल मण्डप बनवाकर उसके प्रांगण मे एक चबूतरे पर ऊंची विशाल ध्वजा का आरोहण किया जाता है[२१] हिन्दी इन्द्रध्वज विधान की रचना हाल मे ही आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती जी ने की है। ग्रन्थ सम्पादक श्री रवीन्द्रकुमार जैन की सूचनानुसार यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत मे है जिसके रचयिता भट्टारक विश्वभूषण जी हैं। इसकी प्रतियाँ झालरापाटन, इन्दौर, सरधना, दिल्ली, टीकमगढ आदि के भण्डारों मे हैं[२२] हमारी दृष्टि में अभी यह ग्रन्थ नहीं आया है। हो सकता है इस ग्रन्थ से इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश पड़े।

प्रवक्ता, संस्कृति विभाग
श्री के० के० जैन डिग्री कालेज,
खतौली (मुजफ्फर नगर)

---

१२. आदिपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ १४।९५
१३. वही १४।१००-१०१
१४. वही १४।१०३-१०७
१५. वही १४।१३२-१५२
१६. वही १४।१५४
१७. पुरुदेवचम्पु: भारतीय ज्ञानपीठ, पचम स्तबक गद्य संख्या ३४ से ४१ तक पृष्ठ २०७-२१२
१८. "...एकललेखाः सहर्षमानन्दनाटकं संभूय संपाद्य स्वभावनमभजन्त।" वही गद्य १०।६५ पृष्ठ ३७१
१९. आदि पुराण १४।१५५
२०. स० सा० की रूपरेखा : व्यास तथा पाण्डेय पृष्ठ ९४
२१. इन्द्रध्वजविधान, हस्तिनापुर १९७८, भूमिका पृ. २५
२२. वही सम्पादकीय पृष्ठ ७

आचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

प्रायः सभी मानते है कि आचार्य कुन्द कुन्द ने जैन शौरसेनी प्राकृत को माध्यम बनाकर ग्रन्थ निर्माण किए। कुछ समय से उनके ग्रन्थों मे भाषा की दृष्टि से सशोधन कार्य प्रारम्भ हो गया है और कहा जा रहा है कि इसमे लिपिकारों की सदिग्धता या प्रमादमानी रही है। ये कारण कदाचित हो सकते है और इनके फलस्वरूप अनेक हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों मे एक-एक शब्द के विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति मे जबकि आचार्य कुन्द-कुन्द की स्वयं की लिखित किसी ग्रन्थ की कोई मूल प्रति उपलब्ध न हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि अमुक शब्द का अमुक रूप ही आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपनी रचना में लिखा था। तथा इसकी वास्तविकता मे किसी प्राचीन प्रति को भी प्रमाण नही माना जा सकता, यत —'पुराणमित्येव न साधुसर्वम्।'

जहाँ तक जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा के नियम का प्रश्न है और कुन्दकुन्द की रचनाओ का प्रश्न है--उनकी प्राकृत मे उन सभी प्राकृतो के रूप मिलते है जो जैन शौरसेनी की परिधि मे आते हैं। उन्होंने सर्वथा न तो महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी अथवा अर्धमागधी को ही अपनाया। अपितु उन्होंने उन तीनो प्राकृतों के मिले-जुले रूपो को अपनाया जो (प्राकृत) जैन शौरसेनी मे सहयोगी है—जैनशौरसेनी प्राकृत का रूप निश्चय करने के लिए हम भाषा-विशेषज्ञो के अभिमत जान लें ताकि निर्णय मे सुविधा हो—

'मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिताः॥'

यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने जैन शौरसेनी को प्राकृत के मूल भेदों मे नही गिनाया, तथापि जैन साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बर साहित्य इस भाषा से वैसे ही ओत-प्रोत है। जैसे आगम श्वेताम्बरमान्य अर्धमागधी से। सम्भवत उत्तर से दक्षिण मे जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने इस (जैन शौर सेनी) को जन्म दिया हो--प्रचार की दृष्टि मे भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, पर यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है—उससे सिद्धान्त के समझने मे सभी को आसानी अनुभव हुई होगी और सिद्धान्त सहज ही प्रचार मे आता रहा होगा। यतः इस भाषा में सभी प्राकृतो के शब्दो का समावेश रहता है—शब्द के किसी एक रूप को ही शुद्ध नहीं माना जाता अपितु सुविधानुसार सभी रूप प्रयोगो में लाए जाते है—जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी किया है।

जैनशौरसेनी के सम्बन्ध मे निम्न विचार दृष्टव्य है और ये अधिकारी विद्वानो के विचार हैं—

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points abont some Digamber Prakirit works "He remarks that the language of there works is influenced by Ardhamagdhi, Jain Maharastri weich Approaches it and Saurseni.'

—Dr. A N. Upadhye
(Introduction of Pravachansara)

'The Praksit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this in exectly the nature of the language called 'Jain Saurseni.' —Dr. Hiralal
(Introduetion of षट् खंडागम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नाम चुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। वही बात जैन शौरसेनी के बारे मे और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा मे ऐसे रूप और शब्द हैं जो शौरसेनी मे बिल्कुल नही मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।'

—पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ३८

प्राचीन आगमों और आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं

में इसी आधार पर विविध शब्द रूपों के प्रयोग मिलते हैं–दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत नियम को लेकर नहीं चले अपितु उन्होंने अन्य प्राकृतों के शब्द रूपों को भी अपनाया। अतः उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से संशोधन की बात सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। आचार्यों के द्वारा अपनाए गए विविध शब्दरूपों की झलक पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है—

हमें आशा है कि पाठक तथ्य तक पहुँचेंगे।

दि० जैन आगमों मे एक ही आचार्य द्वारा प्रयुक्त विविध प्रयोग :—

षट्खंडागम [१,१,१,]

(महाराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया)—

उप्पजइ (दि) पृ० ११०, कुणइ पृ० ११०, वण्णइ पृ० ६८, परुवेइ पृ० ६६, उच्चइ पृ० १७१, गच्छइ पृ० १७१ ढुक्कइ १७१, भणइ पृ० २६६, संभवइ पृ० ७४

मिच्छाइट्ठि पृ० २०, वारिसकालो कओ पृ० ७१—इत्यादि।

(शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया)—

सुदपारगा पृ० ६५, वण्णेदि पृ० ६६, उच्चदि पृ० ७६, परुवेदि पृ० १०५, उपक्कमोगदो पृ० ८२, सदं (तं) पृ० १२२, णिग्गदो पृ० १२७,

('द' लोप के स्थान में 'य'[1] सभी प्राकृतों के अनुसार)

सुयसायरपारया पृ० ६६, भणिया पृ० ६५, सुयदेवया पृ० ६, सुयदेवदा पृ० ६८, वरिसाकालोकओ[2] पृ० ७१, णवयसया (ता) पृ० १२२ कायव्वा पृ० १२५, णिग्गया १२७, सुयणाणाइच्च (तिलोयपण्णत्ति) पृ० ३५ लोप मे 'य' और अलोप (दोनो)

कुन्द-कुन्द 'अष्टपाहुड' के विविध प्रयोग—

ग्रन्थ नाम **शब्द और गाथा का क्रम-निर्देश—**

ग्रन्थ नाम	होदि	होइ	होई	हवइ	हवदि	हवेइ
दर्शनपाहुड	२६	११,२७,३१	१४	२०	—	—
सूत्रपाहुड	६,२०	११,१४,१७	—	१६	२२	—
		२०,२४		—	—	३६
चरित्रपाहुड	—	१६,४५	—	३४,३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५,३६	११,२६			
भावपाहुड	—	—	४८,६५,७३			
			१२७,१४०	११६	२०	—
			१४३,१५१			५१,२८,७६
मोक्षपाहुड	७०,८३	५२,६०	हवइं	१४,१८,३८	५१,८४	८७,१००
	१०१,		५०	४७		
लिंगपाहुड	—	२,१३,१४	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	६	२१			
नियमसार	१८,२६,५४	२,४,३१	१०,१७२			
	५५,५८ ६४	५६,५७	१७३,१७६	—	११३,१४१	५,२०
	८२,८३,६४	१६६,१६८			१६१,१६२	१५०
	१०७,१४२	१६६ १७१				
		१७४,१७५				

१. 'जैन महाराष्ट्री मे लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन शौरसेनी मे भी होता है'—षट्खण्डागम भूमिका पृ० ८६

२. 'द' का लोप है 'य' नहीं किया।

इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द है जो विभिन्न रूपों मे दि० जैन आगमों में प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे—

'गइ, गदि। होइ, होदि, हवदि। णाओ, णादो। भूयत्थो, भूदत्थो। सुयकेवली, सुदकेवली। णायव्वो, णादव्वो। पुग्गल, पोंग्गल। लोए, लोगे। आदि:

उक्त प्रयोगों में 'द' का लोप और अलोप तथा लोप के स्थान में 'य' भी दिखाई देता है। स्मरण रहे केवल शौरसेनी को ही 'द' का लोप मान्य है— दूसरी प्राकृतो मे 'क ग च ज त द य ब' इन व्यन्जनों का विकल्प से लोप होने के कारण— दोनों ही रूप चलते है। जैन शौरसेनी मे अवश्य ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी औरशौर सेनी के मिले-जुले रूपों का प्रयोग होता है।

पुग्गल और पोंग्गल—

प्रवचनसार आदि मे उक्त दोनो रूप मिलते है। जैसे गाथा—२-७६, २-६३ और गाथा २-५८, २-६३

पिशल व्याकरण मे उल्लेख है—"जैन शौरसेनी मे पुग्गल रूप भी मिलता है" —पैरा १२४। इसी पैरा मे पिशल ने लिखा है "संयुक्त व्यजनों से पहले 'उ' को 'ओ' हो जाता है·········· ·········। मारकण्डेय के पृष्ट ६६ के अनुसार शौरसेनी मे यह नियम केवल 'मुक्ता' और 'पुष्कर' मे लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब ग्रथ करते है।" —पैरा १२४.

दूसरी बात यह भी है कि 'आतृ-सयोगे वाला (उ को ओ करने का) नियम सभी जगह इष्ट होता तो 'चुक्केज्ज' (गाथा ५) पुव्वकालह्मि (गाथा २१) वुच्चदि, दुक्ख (गाथा ४५ समयसार) आदि मे भी उकार को ओकार होना चाहिए। पर,ऐसा न करके दोनो ही रूपों को स्वीकार किया गया है—'क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः।'

लोए या लोगे—

षट्खंडागम मंगलाचरण-मूलमंत्र णमोकार में 'लोए' अक्षुण्णरूप में लिखा गया है जो आबाल-वृद्ध में बिना किसी भ्रांति के श्रद्धास्पद बना हुआ है। पिशल ने स्वयं लिखा है—प्राकृत में निम्न उदाहरण मिलते है—'एति' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए कहते हैं।'—पैरा १७६।

पैरा १७६ ही—जैन शौरसेनी की प्राचीनतम हस्त-लिपियाँ अ, आ से पहले और सभी स्वरों के बाद अर्थात् इनके बीच मे 'य' लिखती है'—

'वोत्तु' रूप जैन महाराष्ट्री का है और 'वत्तु' शौरसेनी का। पिशल ने लिखा है 'शौरसेनी मे 'वच' की सामान्य क्रिया का रूप कभी 'वोत्तु नही बोला जाता। किन्तु सदा 'वत्तुं ही रहता है।'—पैरा ५७०

उक्त पूरी स्थिति के प्रकाश में ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'जैन शौरसेनी' मे अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी इन तीनो प्राकृतो के प्रयोग होते रहे है, अतः आगमों मे आए (उक्त नियम से सबधित) सभी रूप ठीक है। यदि हम किसी एक को ठीक और अन्य को गलत मानकर चलें तब हमें पूरे आगम और कुन्द-कुन्द के सभी ग्रन्थों के शब्दों को (भाषादृष्टि से) बदलना पड़ेगा यानी हमारी दृष्टि मे सभी गलत होगे—जैसा कि हमें इष्ट नही और न जैन शौरसेनी प्राकृत को ही ऐसा इष्ट होगा। इसी सन्दर्भ मे यदि सभी जगह शौरसेनी के नियमानुसार 'द' रखना इष्ट होगा ता—

'पढम होइ' या 'पढम हवइ मंगल' के स्थान पर भी 'हवदि' पढना होगा जैसा कि चलन जैन के किसी भी सम्प्रदाय मे नही है, आदि। पाठक विचारें।

वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागज नई दिल्ली

□□□

क्या तिलोयपण्णत्ती में वर्णित विजयार्थ ही वर्तमान विन्ध्य प्रदेश है ?

□ डा० राजाराम जैन

यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ती शौरसेनी प्राकृत का अद्भुत काव्य ग्रन्थ है। उसका रचनाकाल विक्रम की ५वीं-६वी सदी के आसपास माना गया है। उसमे तीनों लोकों सम्बन्धी भूगोल एव खगोल-विद्या का सुन्दर वर्णन मिलता है। यद्यपि उसमे विन्ध्य का नाम स्पष्टरूपेण नहीं मिलता। वह विजयार्ध प्रदेश अथवा विजयार्ध पर्वत के रूप मे उल्लिखित है। किन्तु यदि वर्त्तमान विन्ध्य प्रदेश का विविध परिस्थितियो को ध्यान में रखकर उसका अध्ययन किया जाय तो तिलोयपण्णत्ती का विजयार्ध ही विन्ध्य प्रतीत होता है। इस दिशा मे सम्भवतः कोई कार्य नही हुआ है। अतः शोध-प्रज्ञो का ध्यान आकर्षित करने के लिए यहाँ कुछ तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे है :—

तिलोयपण्णत्ती मे बताया गया है कि भरतक्षेत्र के बहुमध्यभाग मे रजतमय और नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीक विजयार्ध नामक एक उन्नत पर्वत है, जो २५ योजन ऊंचा, ५० योजन प्रमाण मूल में विस्तार युक्त तथा ६$\frac{1}{4}$ योजन की नीव सहित है। वह पूर्वापर समुद्र को स्पर्श करने वाला तथा ३ श्रेणियों मे विभक्त है।[1] आचार्य जिनसेन[2] एव हेमचन्द्र[3] ने भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन किया है। जिनसेन के अनुसार वह गगा एव सिन्धु नदियों के नीचे स्थित है।[4]

वर्त्तमान विन्ध्यपर्वत को स्थिति भी विजयार्ध जैसी ही है। वह अपनी लम्बाई, चौडाई एवं ऊंचाई के लिए तो प्रसिद्ध है ही। वह विशाल ३ श्रेणियो मे विभक्त है। इन श्रेणियो के नाम है, मैकाल, सतपुड़ा एव पारियात्र[5]। पारियात्र विन्ध्यमाला का पश्चिमी छोर है, जो चम्बल के उद्गम स्थल से लेकर खम्भात की खाड़ी तक फैलता गया है।[6]

तिलोयपण्णत्ती मे बतलाया गया है कि विजयार्ध के पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर दक्षिणी सीमा पर ५० एवं उत्तरी सीमा पर ६० नगर बसे हुए है।[7]

१. भरहक्खिदिबहुमज्झे विजयड्ढोणाम भूधरो तुंगो।
रजदमओ चेट्ठ दि हु जाणावररयणरमणिज्जो ॥
पणुवीसजोयणुदओ वत्तो तद्दुगुणमूलविक्खमो।
उदयतुरिमसगाढो जलणिहि पुट्ठो तिसढिगओ ॥
तिलोय० ४/१०७-१०८

२-४. दे० आदिपुराण मे भारत - पृ० ११०

५-६. दे० प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (वा० सी० ला द्वारा लिखित) (लखनऊ, १६७३) पृ० ५०२-३

७. **दक्षिण श्रेणी के ५०** नगर—किनामित, किन्नरगीत, नरगीत, बहुकेतु, पुण्डरीक, सिंहध्वज, श्वेतकेतु, गरुडध्वज, श्रीप्रभ, श्रीधर, लोहार्गल, अरिंजय वज्रार्गल, वज्राढ्य, विमोचिता, जयपुरी, शकटमुखी, चतर्मुख, बहुमुख, अरजस्का, विरजस्का, रथनूपुर, मेखलाग्र, क्षेमपुर, अपराजित, कामापुष्प, गगनचरी, विजयचरी, शुक्रपुरी, संजयन्त नगरी, जयन्त, विजय, वैजयन्त, क्षेमंकर, चन्द्राभ, सूर्याभ, पुरोत्तम, चित्रकूट, महाकूट, स्वर्णकूट, त्रिकूट, विचित्रकूट, मेघकूट, वैश्रवकूणट, सूर्यपुर, चन्द्र, नित्योद्योत, विमुखी, नित्यवाहिनी एव सुमुखी।
उत्तर श्रेणी के ६० नगर—अर्जुनी, अरुणी, कैलाश वारुणी, विद्युत्प्रभ, किलकिल, चूड़ामणि, शशिप्रभ, वंशाल, पुष्पचूल, हंसगर्भ, बलाहक, शिवशंकर, श्रीसौध, चमर शिवमन्दिर, वसुमत्का, वसुमती, सर्वार्थपुर (सिद्धार्थपुर), शत्रुंजय, केतुमाल, सुरपतिकान्त, गगननन्दन, अशोक, विशाक, वीतशोक, अलका, तिलक, अंबरतिलक, मन्दर, कुमद, कुन्द, गगनवल्लभ, दिव्यतिलक, भूमितिलक, गन्धर्वपुर, मुक्ताहर, नैमिष, अग्निज्वाल, महाज्वाल, श्रीनिकेत, जयावह, श्रीनिवास, मणिवज्र, भद्राश्व, धनजय, माहेन्द्र, विजयनगर, सुगन्धिनी, वज्रार्द्धतर, गोक्षीरफेन, अक्षोभ, गिरिशिखर, धरणी, वारिणी (धारिणी), दुर्ग दुर्द्धर, सुदर्शन, रत्नाकर एवं रत्नपुर।

काल के प्रभाव से यद्यपि वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में अनेक प्रकार के भौगोलिक परिवर्तन हो गए हैं। नगरीय-विकास, संख्या परिवर्धन एवं नाम-परिवर्तन भी क्रमशः होता रहा फिर भी कुछ नगरों में नाम-साम्य अभी भी दृष्टिगोचर होता है। यथा :—

ति० प० में उल्लिखित नगर वि० प्र० के वर्तमान नगर अपने जिलों के साथ

मेखलाग्र—मैकाल (शहडोल)
सूर्यपुर—सूरजपुर (टीकमगढ़)
अलका—अकला—(पन्ना)
लोहार्गल—लोध या लोधर्री (शहडोल)
चित्रकूट—चित्रकूट
अग्निज्वाल—ज्वालामुखी (उमरिया, शहडोल)
अक्षोभ—खोह (शहडोल)
दुर्ग—दुगावर (शहडोल)
सर्वार्थपुर—सिद्धार्थपुर (सीधी)
जयावह—जियावन (सीधी)
श्री सौध—सिरमौर (रीवाँ)

तिलोयपण्णत्ती में विजयार्ध भूमि को उत्तम रत्नों एवं पद्मराग मणियों से समृद्ध बताया गया है। उसमें वज्रार्गल, वज्राढ्य, चन्द्राभ, सूर्याभ, चूड़ामणि, मणिवज्र, वज्रार्द्धतर, रत्नाकर, रत्नपुर जैसे मणिनामान्त या रत्न-मणि नाम वाले अनेक नगर उत्पन्न होते हैं। इससे उस भूमि को रत्नगर्भा होने के संकेत मिलते हैं।

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश के पन्ना एवं विजावर प्रक्षेत्रों में निस्सन्देह रूप में विविध प्रकार के रत्न आजकल भी उपलब्ध हो रहे हैं। पन्ना, विजावर, हीरापुर एवं आस-पास की अनेक खदानें स्वयं बतला रही हैं कि यह प्रदेश पन्ना हीरा एवं वज्रमणियो का अक्षय भण्डार है।[८] प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से विजावर तो शुद्ध प्राकृत नाम ही है। उसका संस्कृत नामान्तर 'वज्रपुर' रहा होगा, जिसका तात्पर्य श्रेष्ठ मणि वज्रमणि अथवा श्रेष्ठ वज्रमणि उत्पन्न करने वाला नगर रहा होगा। शताब्दियों की वर्ण-परिवर्तन की यात्रा के बाद वह वज्रपुर—वज्जउर—विज्जाउर—विजाउर—विजावर बन गया।

तिलोयपण्णत्ती में विजयार्ध के नगरों के विषय में बताया गया है कि वे दिव्यग्रामों से युक्त, महापट्टनों से रमणीक तथा कर्वट, द्रोणमुख संवाह एवं मडम्बों से परिपूर्ण थे।[९]

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश की नगरीय स्थिति का अध्ययन करने से तिलोयपण्णत्ती के उक्त कथन का प्रायः समर्थन होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के अनुसार ग्राम वह कहा जाता है, जहाँ काँटों की वाडी से घिरे हुए आवासों मे लोग निवास करते है। यथा—कण्टकवाटकावृतो-जनानां निवासो ग्रामः।[१०] विन्ध्य प्रदेश में ऐसे नगरों की कमी नही, जो उक्त परिभाषा वाले ग्रामों से घिरे हुए न हों। आचार्य जिनसेन के अनुसार बड़ागाँव वह कहलाता था जिसमें ५०० परिवार रहते हों तथा छोटा गाँव वह कहलाता था, जिसमे १०० कुटुब निवास करते हों।[११] ग्रामों का नामकरण वस्तुतः अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर किया जाता था, जैसे निश्चित परिधि से कुछ बड़ा होने अथवा किसी दृष्टि से बड़े लोगों के निवास करने के कारण बड़ा गाँव, नया बसाए जाने के कारण नया गाँव, मणियों अथवा मनको की भूमि वाला गाँव मनगवाँ और प्रचुर धन, धान्य वाला गाँव धनगवाँ या सतगवाँ आदि। विन्ध्य प्रदेश मे इस प्रकार के अनेक ग्राम

---

८. द० Dawn of freedom. [V.P. Rewa, Aug. 1953] P.P. 66-68.

९. बहु दिव्वगामसहिदा दिव्वमहापट्टणेहिं रमणिज्जा।
कव्वडदोणमुहेहिं संवाहमंडवएहि परिपुण्णा॥
रयणाणयायरेहिं विभूसिदा पउमरायपहुदीणं।
दिव्वणरेहिंपुण्णा धणधण्णसमिद्धिरम्मेहिं॥
ति० प० ४/१३४-१३५

१०. Otto Stein—Jinist Studies. Page 4

११. आदिपुराण—२६।१६५

१२. यत्र सर्वदिगभ्योजनाः पत्स्यागच्छन्तीति पत्तनमथवा पत्तनं रानरवनिरति लक्षणं तदपि द्विविध जलमध्य-वर्ति च Jinist Studiea Page 9.

मिलते हैं।

पट्टन अथवा महापट्टन वह कहलाता है जहाँ सभी दिशाओं से लोग जल एवं स्थल मार्गों से आकर एकत्रित होते हों तथा जहाँ के पार्श्ववर्ती प्रदेशों मे रत्नादि खनिज पदार्थ प्राप्त होते हों।[१२] आचार्य मलयगिरि के अनुसार गाड़ी, घोड़े आदि के द्वारा व्यापारिक सामग्रियो के आयात वाले स्थान को पत्तन तथा नौका आदि के द्वारा व्यापारिक सामग्रियों के आयात वाले स्थान को पट्टन माना जाता था।[१३]

उक्त सन्दर्भ के अध्ययन करने से यद्यपि यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि तिलोयपण्णत्ती काल मे विन्ध्य प्रदेश में कौन-कौन से पट्टन अथवा पत्तन थे। फिर भी विन्ध्य प्रदेश मे प्रवाहमान नदियो के किनारे पर बसे हुए विशेषत. वर्तमान पन्ना, विजावर एव शहडोल के प्रक्षेत्रों की नदियों के किनारे पर बसे हुए कुछ नगर पट्टन अथवा पत्तन के रूप में अवश्य ही प्रसिद्ध रहे होंगे। वतमान में पट्टन नामधारी अमरपाटन (सतना) एव पटनाकला (शहडोल) ही ऐसे नगर हैं, जो प्राचीनयुग को अपनी व्यापारिक समृद्धि की स्मृति दिलाते है।

कर्वट अथवा खर्वट वह स्थान कहलाता है जो चारों ओर पर्वतों से घिरा रहता है।[१४] यह स्थान अधिक विस्तृत नहीं होता। चारों ओर पर्वतों से घिरे रहने के कारण वह दुर्ग का कार्य करता है इसी लिए कौटिल्य [१५] ने इस दुर्ग के समान सुरक्षित कहा है। अनेक ग्रामो के व्यापार केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना की जाती थी।

नागरिक सभ्यता के विकास-क्रम में वर्तमान विंध्यप्रदेश में कर्वट या खर्वट नगरो में परिवर्तन होता गया, फिरभी अवस्थितियों के आधार पर प्रतीत होता है कि आधुनिक अमरकटक (शहडोल), ककरेहटी (पन्ना), खड़वड़ा (सीधी), सिरमौर (रीवां). चचाई, खैरद्वार (उमरिया) अजयगढ़ आदि के नाम लिए जा सकते है।

द्रोण अथवा द्रोणमुख वह कहलाता है, जो स्थल समुद्री किनारों से घिरा होता है। यथा—द्रोणारण्यं सिन्धुवेलावलयितम्।[१६] यहाँ समुद्र का अर्थ वस्तुतः जल बाहुल्य प्रदेश लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जल बाहुल्य प्रदेश से घिरा हुआ स्थल द्रोण या द्रोणमुख कहलाता था। यह पार्श्ववर्ती ४०० ग्रामो के मध्य में रहता था।[१७] और उनके जीवन की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करता था। इस दृष्टि से वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में द्रोणनामधारी द्रोणगिरि का नाम द्रोणमुख के रूप में विशेषरूप से लिया जा सकता है। अन्य द्रोणमुखों में रीवां, सतना, बिजावर, केवटी, शहडोल केनाम लिए जा सकते है।

कल्पसूत्र के अनुसार सवाह वह कहलाता है जहाँ समतल भूमि मे कृषि कार्य कर के कृषक लोग दुर्गभूमियो मे रक्षा-हेतु धान्य को सुरक्षित रखते थे। यथा—समभूमो कृषि कृत्वा येषु दुर्गभूमिषु धान्यानि कृषिवला. संवहन्ति रक्षार्थम्।

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में सवाह नामान्त नगरो के नाम नही मिलते। फिरभी उसमे ऐसे नगर उक्त श्रेणी में मान जा सकते है, जो गढ गढ़ो या वाड़ा नामन्त मिलते है। यथा—निवाडी, दिगौड़ा, (दिग्वाड़ा) अजयगढ आदि।

उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के अनुसार मडम्ब उसे कहते है, जिसकी सभी दिशाओं मे ३½ योजन की दूरी तक कोई भी ग्राम न हो।[१८] तात्पर्य यह है कि मडम्ब एक ऐसा ग्राम अथवा नगर था जिसके आस-पास ३½ योजन अर्थात १७-१८ मील के आस-पास कोई भी ग्राम न हो। विन्ध्य प्रदेश मे ऐसे मडम्बो की कमी नही है। वर्तमान विकासकालीन युग मे यद्यपि यह स्थिति लगभग बदल चुकी है, फिर भी खोज करने पर पन्ना, सीधी एवं शहडोल के जिलों मे ऐसे अनेक स्थान मिल सकते है।

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार विजयार्ध अथवा वैताढ्य पर्वत के भूमितल पर दोनो पार्श्वभागो मे दो गव्यूति प्रमाण विस्तीर्ण और पर्वत के बराबर लम्बे लम्बे वनखण्ड है।[१९]

उक्त तथ्य का समर्थन प्रयाग-प्रशस्ति के 'परिचायिकी

(शेष पृ० २४ पर)

१३. दे० व्यवहार सूत्र ३।१२७.

१४. दे० बृहत्कथाकोष ६४।१७.

१५. दे० कौटिल्य अर्थशास्त्र २७।१।३.

१६. Jainist Studies P. 11

१७. आदिपुराण १६।१७५.

१८. दे० Jinist Studies P. 17.

१९. P. 8.

२०. तिलोयपण्णत्ती ४।१७१.

पचराई और गूडर के महत्त्वपूर्ण जैन लेख

☐ कु० उषा जैन एम० ए०, जबलपुर

प्रस्तुत लेख मे पचराई और गूडर के दो महत्त्वपूर्ण लेखों का विवरण दिया जा रहा है। पचराई का लेख विक्रम सवत् ११२२ का है और गूडर का मूर्त्तिलेख विक्रम सवत् १२०६ का है। दोनों ही लेख उन स्थानों की शांतिनाथ प्रतिमाओ से सबंधित है। इन लेखो मे लम्बकञ्चुक और परपाट अन्वयो का उल्लेख है। गूडर के मूर्तिलेख में किसी राजवंश का उल्लेख नही है किन्तु पचराई का लेख प्रतीहार वश के हरिराज के पौत्र रणपाल के राज्यकाल मे लिखा गया था।

पचराई का लेख

यह लेख पचराई के शांतिनाथ मदिर मे है। इसकी लम्बाई साठ सेंटीमीटर और चौडाई बीस सेंटीमीटर है। लेख की लिपि नागरी और भाषा सस्कृत है। इसकी आठ पक्तियों में सात श्लोक है। अतिम पक्ति मे (विक्रम) संवत् ११२२ का उल्लेख है। प्रथम श्लोक मे सोलहवे तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ की स्तुति की गई है और उन्हें चक्रवर्ती तथा रति और मुक्ति दोनो का स्वामी (कामदेव और तीर्थकर) कहा गया है। द्वितीय श्लोक मे श्री कुदकुंद अन्वय के देशी गण मे हुए शुभनन्दि आचार्य के शिष्य श्री लीलचन्द्रसूरि का उल्लेख है। तृतीय श्लोक में रणपालके राज्य का उल्लेख है। उसके पिता भीम की तुलना पांडव भीम से की गई है और भीम के पिता हरिराजदेव को हरि (विष्णु) के समान बताया गया है। चतुर्थ श्लोक मे परपाट अन्वय के साधु महेश्वर का उल्लेख है, जो महेश्वर (शिव) के समान विख्यात था। उसके पुत्र का नाम बोध था। पञ्चम श्लोक मे बताया गया है कि बोध के पुत्र राजन की शुभ कीर्त्ति जिनेन्द्र के समान तीनों भुवनो मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। छठवें श्लोक मे उसी अन्वय के दो अन्य गोष्ठिको का उल्लेख है, जिनमे से प्रथम पचमास मे और द्वितीय दशमांश में स्थित था। स्पष्ट है कि यहाँ पचराई ग्राम के नाम को संस्कृत भाषा के शब्द मे परिवर्तित कर पंचमास लिखा गया है। तत्कालीन कुछ अन्य लेखों मे पचराई का तत्कालीन नाम पचलाई मिलता है। सातवें और अतिम श्लोक में प्रथम गोष्ठिक का नाम जसहड़ था, जो समस्त यशों का निधि था एव जिन शासन मे विख्यात था। अंतिम पक्ति मे मङ्गल महाश्री तथा भद्रमस्तु जिनशासनाय उत्कीर्ण है तथा अत मे संवत् ११२२ लिखा हुआ है।

राजा हरिराज बुन्देलखण्ड के प्रतीहार वश के प्रथम शासक थे। इस वश का सुप्रसिद्ध गुर्जर-प्रतीहार वश से क्या सबध है, यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका है। हरिराज के समय का विक्रम सवत् १०५५ का एक शिलालेख चन्देरी के निकट थूबोन मे प्राप्त हुआ है और उसका विक्रम सवत् १०४० का ताम्रपत्र लेख भारत कला भवन काशी मे जमा है। रणपालदेव के समय का विक्रम सवत् ११०० का एक शिलालेख बूढ़ी चन्देरी मे मिला है। प्रस्तुत लेख उस नरेश का द्वितीय तिथियुक्त लेख है। पचराई के इस लेख का मूलपाठ निम्न प्रकार है :—

मूल पाठ

१. ॐ[1] (श्री श्री मा (शा) तिनाथो रतिमुक्तिनाथः।[2] यश्चक्रवर्त्ती भुवनाश्च धत्ते ॥ (।) सौभाग्यराशिश्वरि-भाग्यराशि स्तान्मे वि

२. भूत्यै नमो विभूत्यै ॥ श्रीकू (कु) दकू (कु) द समान ।[3] गणे देसि (शि) के सञ्ज्ञके। सु (शु) भनंदिगुरो सि (शि) ष्यः सूरिः श्रीली—

३. लचन्द्रकः ॥ हरौ व भूत्या हरिराजदेवो बभूव भीमेश हि तस्य भीमः। सुतस्तदीयो रणपालनाम ॥[4]

१. ओम् को चिह्न द्वारा अकित किया गया है।

२. अनावश्यक है।

३. अनावश्यक है।

४. अनावश्यक है।

एतद्धिरा—

४. ज्ये कृतिराजनस्य ।। परपाटान्वये सु (शु) द्धे साधु-र्नाम्ना महेस (श) वरः। महेस(श्) वरेव विख्यातस्त-त्सुतो वो (बो) घ

५. संज्ञकः। (।।) तत्पुत्रोराजनोज्ञेयः कीर्तिस्तस्ये-मद्भुता। जिनेंदुवत्सुभात्यंतं।[५] राजते भुवनत्र

६. ये।। तस्मिन्नेवान्वये दित्ये गोष्ठिकावपरौ सु (शु) भौ। पंचमांसे (शे) स्थितो ह्येको द्वितीयो द

७. म (श) मांसके।। प्राद्यो जसहडो ज्ञेयः समस्त जससां निधिः। भक्तो जिनवरस्चायो विख्यातो

८. जिनसा (शा) सने।। मङ्गलं महाश्रीः।। भद्रमस्तु जिनशासनाय ।।W।। संवत ११२२

गूडर का मूर्ति लेख

गूडर, खनियाधाना से दक्षिण में लगभग आठ किलोमीटर की दूरी पर स्थित छोटा-सा गांव है। यहां के आधुनिक जैन मन्दिर की विपरीत दिशा में एक खेत मे तीन विशाल तीर्थंकर मूर्तियां स्थित है, जो शांतिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ की हैं। इनमें सबसे बड़ी प्रतिमा लगभग नौ फुट ऊंची है। इस प्रतिमा की चरण-चौकी पर विक्रम संवत् १२०६ का लेख उत्कीर्ण है। लेख की लंबाई चौतीस सेंटीमीटर एव चौड़ाई इक्कीस सेंटीमीटर है। सात पंक्तियों का लेख नागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा में है।

लेख के प्रारभ में श्री शांतिनाथ की स्तुति की गई है। आगे बताया गया है कि (विक्रम) सवत् १२०६ में आषाढ बदि नवमी बुधवार को, लम्बकञ्चुक अन्वय के मामे और धर्मदेव के पिता रत्ने ने पञ्चमहाकल्याणक महोत्सव का आयोजन कर शांतिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ (रत्नत्रय) की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई और वे प्रतिदिन उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते थे। इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा कर्मों के क्षय हेतु कराई गई थी। रत्ने की पत्नी का नाम गल्हा था। रत्ने के पिता सूपट थे, वे मुनियों के सेवक थे, सम्यक्त्व प्राप्त थे, तथा चतुर्विधदान दिया करते थे। सूपट के पिता का नाम गुणचन्द्र था और वे लम्बकञ्चुक (आधुनिक लमेचु) अन्वय के थे। इस लेख का मूल पाठ निम्न प्रकार है:—

मूलपाठ

१. ——।। जीयात्स्त्री (श्री) सा (शा)तिः——— पस्सघातघातकः। ———द्रतिर———

२. —पदद्वयः।। संवत् १२०६।। अषाढ़ व (ब) दि नवम्यां बु (बु) धे। श्रीमल्वंव(ब) कंचुकान्वय—

३. साधुगुणचद्र तत्सुतः साधुसूपट जिनमुनिपाद प्रणतो (त्तो)तमागः। सम्यकत्वर—

४. त्नाकरः चतुर्विधदानचितामणिस्तत्पुत्रसाधुरत्ने सति (ती) त्व व्रतोपेत (ता) तस्य भा—

५. र्या गल्हा तयौ पुत्रो मामेधर्मतेदेवो (वौ)। तेन विसि (शि) ष्टतर पुन्या (ण्या) वाप्तौ (प्तये) निज—

६. कम्म (र्म) क्षयार्थं च पंचमहाकल्याणोपेतं देवश्रीसां (शां) तिकुथंअरनाथरत्न

७. त्रयं प्रतिष्ठापित तथाऽहर्न्निसं (शं) पादौ प्रणमत्युत्त मागेन भक्त्याः (त्या)। ☐ ।। ✿

उपर्युक्त लेखों के अलावा अन्य कई लेख पचराई में उपलब्ध हैं, जिनमे देशीगण के पंडिताचार्य श्री श्रुतकीर्ति के शिष्य आचार्य शुभनन्दि और उनके शिष्य श्री लीलचन्दसूरि आदि के उल्लेख मिलते हैं।

२३५५/१, राइटटाउन, जबलपुर-२ (मध्य प्रदेश)

---

५. अनावश्यक है।

आगम सूत्रों की कथाएं इतिहास नहीं है।

☐ श्री श्रीचन्द गोलेछा

'अनेकान्त' वर्ष ३२ किरण ३-४ जुलाई—दिसम्बर, १९७९ के अंक में डा० देवसहाय त्रिवेद का 'बुद्ध और महावीर' लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे जैन और बौद्ध साहित्य मे आगत कथाओ मे व्यक्तियों के नाम, गोत्र, राजधानी, युद्ध आदि के वर्णन कर मिलान किया है और उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है कि इस वर्णन मे विसगति है अतः दोनो आचार्य बुद्ध और महावीर एक समय नही हुए।

किन्तु उपयुक्त आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं क्योंकि जैन साहित्य मे वर्णित कथाए इतिहास नही है ये भाव कथाए है, इन कथाओ में उल्लिखित नाम, गोत्र, राजधानी, माता-पिताओ के नाम भी जातिवाचक या व्यक्तिवाचक सज्ञाएं न होकर गुणवाचक—भाववाचक सज्ञाएं है। उदाहरण के रूप मे गोशालक की कथा मे प्रयुक्त सर्वानुभूति, सुदर्शन, सिह अणगार, हालाहला, का लिया जा सकता है। यह कथाए कर्म सिद्धान्त से संबधित नियमों व साधको के जीवन से सम्बन्धित आन्तरिक स्थितियो का रूपकात्मक व प्रतीकात्मक वर्णन है। यदि इन कथाओं को रूपकेन समझा जावे तो समाज मे बहु मान्यताप्राप्त भगवती सूत्र में आये हुए कथानक, घोड़ा खूं खूं क्यो करता है, दिशा क्या है, सूर्य क्या है, शालि वृक्ष किस गति मे जायेगा आदि अनेक प्रश्नोत्तर ऐसे है जिनका श्री महावीर व गौतम स्वामी के नाम के साथ जोड़ना अटपटा लगता है। ऐसे ही शिलाकण्टक सग्राम मे हाथी और घोड़ों के नरक मे जाने की वात किसी भी प्रकार बुद्धि गाह्य नही हो सकती।

इसी तरह उपासक दशांग मे देवो द्वारा श्रावको को दिया गया उपसर्ग और अनुत्तरोपपातिक मे वर्णित श्रेणिकके सभी पुत्रो की दीक्षा पर्याय और अनशन पर्याय २-३ समानकाल में वंधी होना ऐतिहासिक रूप मे बुद्धिग्राह्य नही हो सकती। यहीं यह कहना अनुपयुक्त नही होगा कि उपासक दशाग सूत्र का देव 'दैव हैं, पूर्वकर्मोदय का द्योतक है' अनुतरोपातिक का श्रेणिक, श्रेणिक करण करने वाला साधक हैं न कि श्रेणिक नाम का कोई व्यक्ति।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति मे भी कथित पर्वत, नदी, कुण्ड, चैत्य, दो सूर्य, दो चन्द्र आदि का वर्णन आज भूगोल के साधारण विद्यार्थी के गले नहीं उतरता। वास्तव में यह भी सब साधक के जीवन से सम्बन्धित आध्यात्मिक स्थितियों के प्रतीक है।

यही सब कारण है जो हमे ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि छोड़कर दूसरी दृष्टि से विचार करने को बाध्य करते हैं।

अभी तक विद्वद्वर्ग पूर्व से चली आ रही परम्परा व धारणा के बहाव मे बहते हुए व पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करते हुए शास्त्रो मे आगत कथाओं को ऐतिहासिक मानकर इनकी संगति बैठाने मे लगे रहे। इस बात पर विचार ही नही किया कि ये आध्यात्मिक साधना परक तथ्यों व कर्म सिद्धान्त की प्रतीक भी हो सकती है। उन्होने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया कि नन्दी सूत्र मे आगमो को शाश्वत कहा है तथा जिनभद्रगणि ने भी आगमो को शाश्वत सत्य कहा है। ऐतिहासिक घटनायें शाश्वत हो नही सकती है, प्राकृतिक नियम ही शाश्वत हो सकते हैं। इस ओर ध्यान न देने के कारण ही सगति नही बैठ पाई और अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं।

पूर्वाचार्यो ने टीकाओ मे इन कथाओ का भावात्मक निरूपण नही किया। इसका कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह तो निश्चित ही है कि श्वेताम्बर मूल अंग सूत्रो की कथाओ मे कर्म सिद्धान्त व साधना की प्रक्रिया के जीवन को प्रेरणा देने वाले सिद्धान्त—सम्मत व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रकट होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि कर्म सिद्धान्त सीधे शब्दो मे समझ सकना सरल न था अतः उन्हे दृश्यमान जगत के आश्रय से प्रतीकात्मक सांकेतिक भाषा द्वारा प्रस्तुत किया ताकि अन्य साधक भी उन्हें समझ सकें।

इस शैली मे जैन धर्म के और भी अनेक ग्रन्थ रचे हुए हैं।

सिद्धर्षि का उपमिति भव प्रपंच कथा ऐसा ही एक ग्रंथ है जिसमे उपन्यास के रूप मे अनेक उपाख्यानों द्वारा जैन दर्शन का सुन्दर वर्णन किया गया है। समयसार नाटक भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है।

पौराणिक कथाए भी इसी शैली मे लिखी गई हैं।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

जैन दर्शन का अनेकान्तवाद

□ डा० रामनन्दन मिश्र

(१)

प्रत्येक दर्शन के प्रवर्तक की एक विशेष दृष्टि होती है जैसी भगवान् बुद्ध की मध्यम-मार्ग दृष्टि, शंकराचार्य की अद्वैतदृष्टि, रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत दृष्टि, आदि। जैनदर्शन के प्रवर्तक महापुरुषों की भी उसके मूल में एक विशेष दृष्टि रही है। उसे ही अनेकान्तवाद कहते हैं। जैनदर्शन का समस्त आचार-विचार अनेकान्तवाद पर आधारित है। इसी से जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहलाता है और अनेकान्तवाद तथा जैन दर्शन शब्द परस्पर में पर्यायवाची जैसे हो गये है। वस्तु सत् ही है या असत् ही है या नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार की मान्यता को एकान्त कहते है और उसका निराकरण करके वस्तु को अपेक्षा-भेद से सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि मानना अनेकान्त है। अन्य दर्शनो ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है। किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि द्रव्यद्रष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय द्रष्टि से अनित्य है। मल्लिषेण ने लिखा है ---

'आदीपमाव्योमसमस्वभावः स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतांप्रलापाः॥'[१]

अर्थात् दीपक से लेकर आकाश तक सभी द्रव्य एक स्वभाव वाले है। यहबात नही है कि आकाश नित्य हो और दीपक अनित्य। प्रत्येक वस्तु नित्य तथा अनित्य दोनो हैं। वह द्रव्यदृष्टि से नित्य है तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य। कोई भी बात इस स्वभाव का अतिक्रमण नही करती क्योंकि सब पर स्याद्वाद या अनेकान्त स्वभाव की छाप लगी हुई है। जिन-आज्ञा के द्वेषी ही ऐसा कहते है कि अमुक वस्तु केवल नित्य ही है और अमुक केवल अनित्य ही है।

(२)

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का एक मौलिक सिद्धान्त है। जैन दर्शन वस्तुवादी तथा सापेक्षवादी अनेकवाद है। इसे अनेकान्तवाद या यथार्थता की अनेकता का सिद्धान्त कहते हैं। पुद्गल (जड़) तथा जीव (आत्मा) अलग-अलग और स्वतंत्र तथा निरपेक्ष तथ्व हैं। प्रत्येक परमाणु तथा प्रत्येक आत्मा के असंख्य पक्ष हैं। अनेकान्तवाद की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मक होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर मालूम होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्म है। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हरिभद्र ने लिखा है —"अनन्त धर्मक वस्तु"।[२] वस्तु अनेकान्तात्मक है। अन्त कहते हैं अंश या धर्म को। जैन दर्शन की दृष्टि मे प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनेक धर्मवाली है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मों का समूह है। प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसे द्रव्य कहते है। द्रव्य वह है जिसमे गुण और पर्याय हैं। उमा स्वामि ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्।'[३] वस्तु न सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है, न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तो का त्याग करके वस्तु का कथचित् सत् कथचित् असत्, कथचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है---'सदसन्नित्यानित्यादि-सर्वथैकान्त प्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।'[४] इस तरह अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्पर मे विरुद्ध प्रतीत होने वाले सापेक्ष अनेक धर्मों का समूह है।

(३)

भगवान् महावीर एक परम अहिंसावादी महापुरुष थे। अहिंसा की सर्वांगीण प्रतिष्ठा—मनसा, वाचा तथा कर्मणा, वस्तु स्वरूप के यथार्थदर्शन के लिए सम्भव न थी। उन्होंने विश्व के तत्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़तत्व अनन्त धर्मों का समूह है। उसके विराट स्वरूप को साधारण मानव पूर्ण रूप मे नही जान सकता। वह वस्तु के एक-

१. मल्लिषेणः स्याद्वादमंजरी, श्लोक ५।
२. हरिभद्रः षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ५५।
३. उमास्वामिः तत्वार्थसूत्र, ५/३८।
४. अष्टशती—अष्टसहस्त्री के अन्तर्गत, पृ० २८३।

एक अंश को जानता है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वह नित्य भी है और अनित्य भी। वह अपनी अनादि अनन्त सन्तान स्थिति की दृष्टि से नित्य है। किन्तु उसकी पर्यायें प्रतिक्षण में बदल रही है अत. वह अनित्य भी है। भगवान् बुद्ध की तरह भगवान् महावीर ने आत्मा के नित्यत्व-अनित्यत्व आदि प्रश्नो को अव्याकृत कह कर बौद्धिक निराशा की सृष्टि नही की बल्कि उन्होने सभी तत्त्वो का यथार्थ-स्वरूप बताकर शिष्यो को प्रकाशित किया। उन्होने बताया कि वस्तु को हम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हैं, वस्तु उतनी ही नही है। उसमे ऐसे अनन्त दृष्टि कोणो से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मिक है। हमे जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम पड़ता है उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु मे विद्यमान है। किन्तु वस्तु की सीमा और मर्यादा का उलघन नही होना चाहिए। यदि हम जड मे चेतनत्व खोजे या चेतन मे जडत्व, तो वह नही मिल सकता, क्योकि प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने निजी धर्म सुनिश्चित है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्त धर्मो मे चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन मे मिलेंगे और अचेतनगत अनन्तधर्म अचेतन मे। चेतन के धर्म अचेतन मे नही पाये जा सकते और न अचेतन के धर्म चेतन मे। कुछ ऐसे सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्य धर्म है जो चेतन और अचेतन मे पाये जा सकते है किन्तु सबकी सत्ता अलग-अलग है।

इस तरह जैन दर्शन के अनुसार वस्तु इतनी विराट है कि अनन्त दृष्टि कोणो से देखी और जानी जा सकती है। एक विशिष्ट दृष्टि का आग्रह करके दूसरे की दृष्टि का तिरस्कार करना वस्तु-स्वरूप के अज्ञान का परिणाम है। मानससमता के लिए इस प्रकार का वस्तु स्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इस अनेकान्त दर्शन से विचारो या दृष्टि कोणो मे वस्तु स्वरूप के आधार से यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वय दृष्टि प्राप्त होती है। वही समुचित दृष्टि है। सकुचित विरोधयुक्त दृष्टि अनुचित दृष्टि है; यह स्वल्पज्ञान का सूचक है। व्यापक या समन्वय दृष्टि ही समुचित दृष्टि है। अनेकान्त दर्शन पर आधारित समन्वय दृष्टि ही समुचित परिष्कृत दृष्टि है। यथार्थ ज्ञान का परिणाम है।

(४)

जैनाचार्य वस्तु की अनेक धर्मकता को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता बतलाते है। शब्दों मे यह सामर्थ्य नही है कि वह वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् कह सके। वह एक समय मे एक ही धर्म को कह सकता है। अत. उसी समय वस्तु मे विद्यमान शेष धर्मों को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त को 'स्याद्वाद' कहते है। 'स्याद्वाद' में 'स्यात' शब्द अनेकान्त रूप अर्थ का वाचक अव्यय है। अतएव स्याद्वाद का अर्थ अनेकान्तवाद कहा जाता है। यह स्याद्वाद जैन दर्शन की विशेषता है। इसीसे समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—'स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्'।[५] अर्थात् 'स्यात्' शब्द केवल जैन न्याय मे है, अन्य एकान्तवादी दर्शनो मे नही है। अनेकान्त दर्शन का ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली भाषा शैली को स्याद्वाद कहते है। 'स्याद्वाद' भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के सापेक्ष होने की सूचना देता है।

अनेकान्तवाद के दो फलितवाद है—स्याद्वाद तथा नयवाद। सर्वज्ञ या केवली केवल-ज्ञान द्वारा वस्तुओ के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलिए उस समय वह वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओ के इस आंशिक ज्ञान को जैन दर्शन मे 'नय' कहा गया है। सिद्धसेन ने लिखा है—'एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मत:।'[६] इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है। उसे भी 'नय' कहते है। किसी भी विषय के सम्बन्ध मे जो हमारा परामर्श होता है वह सभी दृष्टियो से सत्य नही होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है। अर्थात् जिस दृष्टि से किसी विषय का परामर्श होता है, उसकी सत्यता उसी दृष्टि पर निर्भर करती है। जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को नयवाद कहते है। अन्धे मनुष्यों तथा हाथी की प्रसिद्ध

---

५. समन्तभद्र स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १०२।

६. सिद्धसेन: न्यायावतार, श्लोक २९।

कथा इस बात का संकेत करती है कि हम दृष्टि-भेद भूल कर अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं। एक अंधा हाथी का पैर, दूसरा कान, तीसरा पूंछ और चौथा सूंड पकड़ता है। उनमे हाथी के आकार के सम्बन्ध मे पूरा मत भेद हो जाता है। प्रत्येक अंधा सोचता है कि उसी का ज्ञान ठीक है और दूसरो का गलत। किन्तु जैसे-ही उन्हे यह बताया जाता है कि प्रत्येक ने हाथी का एक-एक अंग ही स्पर्श किया है, उनका मत भेद दूर हो जाता है। दार्शनिको के बीच भी मतभेद इसीलिए होता है। कि वे किसी विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से आंकते है। इसी कारण भिन्न-भिन्न दर्शनो मे ससार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते है। जिस तरह प्रत्येक अंधे का हाथी-सम्बन्धी ज्ञान उसके अपने ढग से बिलकुल ठीक है उसी तरह भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हो सकते है। दृष्टिसाम्य होने पर मत भेद की सम्भावना नही रह जाती है।

अत: जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक नय के प्रारम्भ मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। स्यात् शब्द से संकेत मिलता है कि उसके साथ के प्रमुख वाक्य की सत्यता प्रसंग-विशेष पर ही निर्भर करती है। अन्य प्रसंगो मे वह मिथ्या भी हो सकता है। किसी घड़े को देख कर यदि हम कहे—'घड़ा है'—तो इससे अनेक प्रकार का भ्रान्त ज्ञान हो सकता है। लेकिन यदि हम कहें—'स्यात् घड़ा है'—तो इससे यह ज्ञात होगा कि घड़े का अस्तित्व काल-विशेष, स्थान-विशेष तथा गुण-विशेष के अनुसार है। स्यात् शब्द से यह भ्रम नहीं होगा कि घड़ा नित्य है, तथा सर्वव्यापी हैं। साथ-साथ हमे यह भी संकेत मिलेगा कि किसी विशेष रंग तथा रूप का घडा किसी विशेष काल और स्थान मे है। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद समुचित दृष्टि का परिष्कृत स्वरूप है। □□□

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वान श्री वासुदेव शरण का कथन इस प्रकार है - 'विश्व रचना के मूलभूत नियम ही वेदो की प्रतीकात्मक भाषा मे कहे गये है। इन्द्र और वृत्र किसी इतिहास विशेष के प्राणी नही है वे तो विश्व की प्राणमयी और भूतमयी रचना के दृष्टान्त ही है'।

विद्वानो से निवेदन है कि शब्दो की व्युत्पत्ति और निर्युक्तियो पर ध्यान रखते हुए इस विचारधारा से भी आगमो की कथाओं पर विचार करें और वास्तविक व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रकट करने का प्रयत्न करें जिससे नई पीढ़ी के लोगों को सन्तोष हो और उनका आगम पर विश्वास हो। यदि ऐसा नही किया गया तो वैज्ञानिक युग मे आगम सूत्र प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण के विरोधी कपोलकल्पित ग्रन्थ मात्र रह जायेंगे और लोग उनमे वर्णित अपूर्व सत्य ज्ञान से वंचित रह जायेंगे। □□□

(पृष्ठ १८ का शेषांश)

कृत सर्वाटविकराज्यस्य' उल्लेख से होता है, जिसके आधार पर डा० फ्लीट ने मध्य भारत को (जिसमें विन्ध्य प्रदेश भी सम्मिलित है), आटविक राज्य माना है। आर्यावर्त्त एवं दक्षिण विजय के बाद दोनों के बीच आवागमन की सुविधा के लिए समुद्रगुप्त (विक्रम की पूर्वी सदी का प्रारम्भ) ने आटविक राज्यों को जीता था।[१०]

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश का अपर नाम डाहल[११] या डभाल[१३] भी मिलता है। परिव्राजक हस्ती के ताम्रपत्र में डभाल राज्य को १८ आटविक राज्यों में सम्मिलित माना गया है।[१२]

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार विजयार्द्ध प्रदेश की विशेष पैदावार यवनाल (जुवार) बल्ल, तूवर (अरहर), तिल जौ, गेहू और उड़द है।

यथा—जमणाल बल्ल तुवरी तिल जव धूम्ममास पहुदीहिं।
सव्वेहि सुप्पण्णेहिं पुराइ सोहति भूमीहिं ॥ ४।१३३

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश की भी मुख्य पैदावार उक्त अनाजों की ही है।[१४]

उक्त भौगोलिक तथ्यो के आधार पर यह प्रतीत होता है कि वर्तमान विन्ध्य प्रदेश तिलोयपण्णत्ती काल में विजयार्द्ध के नाम से भी प्रसिद्ध था।

महाजन टोली नं० २, आरा (विहार)

२१. अभिलेखमाला—[समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख] पृ० ६६.

२२. Political History of Northern India (G.C. Chandhury) P. 252.

२३. अभिलेखमाला पृ० ८५.

२४. वही.

हुंबड जैन जाति की उत्पत्ति एवं प्राचीन जन गणना

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म मूलतः जातिवाद को नही मानता। भ० महावीर के समय सभी वर्ण और जाति वाले धर्मानुयायी थे, यह प्राचीन जैन आगमों से भलीभांति विदित है। पर आगे चलकर एक घर मे परिवार के लोग कई धर्मों के मानने वाले होने से खान-पान, व्यवहार मे बड़ी अड़चनें पड़ने लगीं। घर का कोई व्यक्ति मांसाहारी है तो शाकाहारी के साथ निभाव नही हो सकता। एक वैदिक धर्म को मानता है, दूसरा बौद्ध और तीसरा जैन धर्म को। तो उनके देवगुरू और धर्म तीनो की मान्यताओ मे अन्तर होने से परस्पर मे विवाद-वैमनस्य हुए बिना नही रहेगा। अत. जैनाचार्यों ने युग की माग व दिव्य दीर्घ दृष्टि से जैन धर्म को मानने वाले सब जैनी है, स्वधर्मी भाई है, उनके खान-पान और रोटी-बेटी के व्यवहार मे कोई भेद-भाव या अलगाव नही रहना चाहिए। चाहे वे किसी वर्ण या जाति के हो। इस तरह का जाति और धार्मिक सगठन बनाया। इससे बहुत बड़ा लाभ हुआ। आचार-विचार मे एक सूत्रता आई, भाई चारे का भाव और व्यवहार पुष्ट हुआ। परिवार मे सभी एक धर्म के मानने वाले होने से बहुत सी अड़चनें मिट गयी।

बहुत से जातियो के नाम स्थानो के नाम से प्रसिद्ध हुए मुख्य आजीविका खेती और व्यापारी हो जाने से वैश्य वर्ण वाले बन। चाहे पहले वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र कोई भी रहे हों। एक स्थान वाले जब व्यापार आदि के लिए दूसरे स्थानो मे गये, तो उन्हे उनके मूल निवास-स्थान के निवासी के रूप मे उन स्थानों के नाम से बतलाने व पहचानने लगे। जैसे ओसियां से जो व्यक्ति अन्यत्र गये, वे ओसवाल के नाम से प्रसिद्ध हो गये। खण्डेल के मूल निवासी खण्डेलवाल, पाली के पल्लीवाल, अग्रोवा से अग्रवाल, इस तरह ८४ जातियां प्रसिद्धि मे आयी।

जैनधर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय है, श्वे० और दिगम्बर जिस सम्प्रदाय के आचार्यों और विद्वानो ने जहा के क्षत्रियो आदि को प्रतिबोध देकर जैनी बनाया, वे उस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। संयोगवश दूसरे सम्प्रदाय वाले के सग या प्रभाव से कई जातियों वाले जो मूल श्वे० थे, वे दिगम्बर बन गये और दिगम्बर से श्वेताम्बर बन गये। इस तरह पल्लीवाल आदि कई जातियों के योग दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी अब भी पाए जाते है।

जैन जातियों मे हुबड जाति भी एक है। जो दोनों सम्प्रदायो के अनुयायी है। इस जाति की उत्पत्ति कब, कहा, किसके द्वारा हुई। इस सम्बन्ध मे कोई प्राचीन प्रमाण नही मिला। पर मुझे स० २००३ मे खतरगच्छ के जिनरत्नसूरि जी के प्रतापगढ म लिखा हुआ एक पत्र मिला। जो उन्होंने हुबड पुराण नामक किसी ग्रन्थ का आवश्यक अश नकल कर लिया भेजा था। हुंबड पुराण कब किसने लिखा पता नही। अतः उनकी खोज करके उसमे और क्या-क्या बाते लिखी हुई है? उन्हे भी प्रकाश मे लाना चाहिए। प्राप्त पत्र के अनुसार इस जाति की उत्पत्ति स० ८२० म धनेश्वर सूरि के प्रतिबोध से हुई और स० ११२१ म जिनवल्लभगणि ने पुनः प्रतिबोध दिया है। लिखित पत्र की नकल इस प्रकार है :—

"हुंबड वणीक जाति उत्पत्ति संक्षेपे लिख्यते"

"पूर्वे कोई ग्रामे चैत्यावासी संघे धनेश्वरने सूरिपद गुरू पासे थी। अपाव्यो, ते स्वतत्र रई, गुरूविमुखोया। आखर गुरू ए निज सघ कबजे करी धनेश्वर अणाबार कर्यो, स्वच्छदपणे विचरणा लागा। इस समे ८२० भिन्नमालवासी क्षेत्री दो भाई परस्पर वैमनस्य थी लड़वा लागा। प्रतापसिह १ भाणसिह नामे रखायतनो ने मोटो हतो, कब्जा ने घड़ी भूतपतसिह हार्यो, निज लस्कर लई पाटण पोतो, भाणसिहनी, आराचेल मारीए भूपतसिह नो लस्कर पीड़ित करयो। ए समय वि० ८२० धनेश्वर सूरि पारण मा भूपतसिह पासे उपाश्रय माग्यु। भूपतसिह निज कामे आपि, लस्कर मारी नो उपाश्रय दूर करवा धनेश्वर ते जाताया स्वार्थेहा भणी, शेत्रुंजा उपर ना सूरज-कुण्ड नो जल तथा रायण ना पता थी मार्गी निवारी २७ हजार जाप करी ते मभवाली श्रावक कर्या। क्षेत्री ब्राह्मण मली १८ हजार जैन धर्म मा दाखिल करया। भूपतसिह और ये हमारी जाति स्यापो, त्यारे धनेश्वरे निज मान रहो हुं बडो, हुबड जाति स्यापि। गुरू ने खबरि पड़ी न सघ

मां लिधा। चैत्य वास खुलो थयो। पाछल थी धनेश्वर संभात मांज स्थीर वास रह्या।

हुंबड जाति आजिवीकार्ये भिन्न भिन्न जगहाए गया। मेवाड़, बागड़, गुजरात आदि अनेक राज्यो मा पूर्वं दीवीयो ने भोम देता, तेनमेल्यो देवो कोपी, घणा नष्ट थया, शेष हीना चारी थया। नाथरा प्रमुख थी भ्रष्ट थया।

ए समए ११२१ जिनवल्लभ गणि ना सर्द्ध शिष्य पाछा प्रतिबोधि जैन धर्म स्थिरकरिया तथा धनेश्वर सूरि ना पाघला चार्यौ ए संभाल लीधी। ५ हजार स्व श्रावक कर्या। से मांथी पण बाकी दिगम्बरो ए स्व धर्म दाखिल कर्या, जे थी थोड़ा श्वे० छे।

दशा बीसा थया वस्तुपाल तेजपाल न संगे। इति लेखन प्रकाशित वी २००३ प्रताबगढ़े लि० हुंबड पुराण थी जैन रत्न सूरिणा।

''पत्र एक अभय जैन ग्रंथालय प्रति नम्बर ७७७०''

धनेश्वर सूरि नाम के तो कई आचार्य हो गये है। अत: सं० ८२० वाले किस गच्छ के किसके शिष्य थ ? नहीं कहा जा सकता पर ११२१ वाले जिनवल्लभ गणि तो नवाग वृत्तिकार ''अभयदेव सूरि'' के पट्टधर थे और खरतरगच्छ परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान हुए है। हुंबड जाति सम्बन्धी और किसी को जो भी विवरण ज्ञात हो, प्रकाश मे लायें।

हुंबड जाति वाले दिग० भाई गुजरात आदि मे काफी बसते है। डूंगरपुर आदि मे कुछ हुंबड के घर श्वे० आदि के भी हैं। हुंबड जाति के कुछ ग्रंथकार भी हुए हैं। जिनमे से भक्तामर वृत्ति की प्रशस्ति रतनचन्द्र या रायमल की नीचे एक दी जा रही है :—

''सकलचन्द्रोगुरो भ्रातुः, जस्ये तिवणिनः मनः।
पादस्नेहन सिद्धेय, वृतिसारसमुच्चया ॥३॥
चक्र वृतिमिमां स्नवस्य नितरा नत्वाऽत्र वादीन्दुकम ॥५
सप्तपूर्णयन्द्रि ते वर्षे, षोडशाख्ये हि सवते।
आषाढे श्वेतपक्षस्य पञ्चमया बुधवारके ॥६॥
ग्रीवापुरे महासिंहो—सत्षु (?) भागं समाश्रिते।
प्रोतुङ्ग दुर्ग सयुक्ते, श्री चन्द्रप्रभसद्मनि ॥७॥
वर्णिन: कर्मसीनाम्नो, वचनाम्मय काऽरचि।
भक्तामरस्य सद्वृत्ती, रत्नचन्द्रेण सूरिणा ॥८॥
कथा रूपीकृतं चेदं, भक्तामर प्ररूपणम।
श्लोका सहस्त्रमिद, रत्नचन्द्रेण जल्पितम ॥९॥

भक्तामर की यही टीका ब्र० रायमलकृत भी मानी जाती है। इस टीका का सार 'भक्तामरकथा' के नाम की श्री उदयलाल जैन ने हिन्दी साहित्य कार्यालय बम्बई से सन् १९१४ मे प्रकाशित करवाया था। उसमे इस टीका की प्रशस्ति का हिन्दी में सार इस प्रकार दिया है :—

'जैसे कि प्रेमवश हो, मैंने यह श्रेष्ठ और संक्षिप्त भक्तामर की कथा लिखी है।

श्री हुंबड वंशतिलक महानाम के एक अच्छे धनी हुए है। उनकी विदुषी भार्या का नाम चम्पा बाई था। वे बड़ी धर्मात्मा और श्रावकव्रत की धारक थीं। उनके पुत्र जिनचरणकमल के भ्रमरपूर्ण जिनभक्त, मुझ रायमल्ल ने वादिचन्द्र मुनि को नमस्कार कर उनकी कृपा से, यह भक्तामर की छोटी सी पर सरल और सुबोध कथा लिखी है।

ग्रीवापुर मे एक मही नाम की नदी है। उसके किनारे पर चन्द्रप्रभ भगवान का बहुत विशाल मन्दिर हैं। उसमें एक ब्रह्मचारी रहत है। उनका नाम है कर्मसी। उन्होंने मुझे भक्तामर की कथा लिख देने को कहा, उनके अनुरोध से मैंने यह कथा लिखी है।

यह कथा के पूर्ण करने का सं० १६६७ और दिन आसाढ़ सुदी ५ बुधवार था।

हुंबड जाति के सबसे बडे कवि ब्र० जिनदास है और उनके भ्राता सकलकीर्ति भट्टारक भी अच्छे विद्वान थे।

जनगणना—सन् १९१४ में प्रकाशित भारतवर्षीय दिग० जैन डायरेक्टरी' के पृष्ठ १४२० के अनुसार दशा हुंबड मध्यप्रदेश मे ४५, राजपूताना मालवा में १०६४५, बंगाल बिहार में ३, गुजरात महाराष्ट्र मे ७३९२ कुल जनगणना १८०९६ और बीसा हुंबड राजस्थान मालवा ८४६, गुजरात महाराष्ट्र में १७०९ कुल २५५५ जन सख्या थी। अर्थात कुल २०६३४ जनसंख्या थी। इस जाति के विशिष्ट व्यक्तियों और महत्व का इतिहास प्रकाश में आना चाहिए।

जैन जातियों में एक-एकजाति के हजारों-लाखों व्यक्ति

(शेष पृ० ३२ पर)

सीता-जन्म के विविध-कथानक

☐ श्री गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी

भारतीय वाङ्मय में 'सीता' का प्रमुख-स्थान है, किन्तु उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अतिप्राचीन काल से बहुत अधिक विवाद है।

वैदिक-साहित्य में हमें दो भिन्न 'सीताओं' का विवरण प्राप्त होता है, जिनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य-में बिखरा हुआ है। 'लागल-पद्धति की चर्चा तो अनेक स्थानों पर है ही; किन्तु उनमे सीता का मनुष्य रूप में चित्रण नहीं किया गया है। 'ऋग्वेद' से लेकर 'गृह्यसूत्रो' तक 'सीता' सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन कर हम निःसंकोच कह सकते है कि 'सीता' का व्यक्तित्व शताब्दियों तक कृषि करनेवाले आर्यों की धार्मिक चेतना में जीता रहा।

'ऋग्वेद' का सूक्त प्रायः एक ही देवता से सम्बन्ध रखता है, किन्तु जिस सूक्त मे 'सीता' का उल्लेख है, उसमे कृषि सम्बन्धी अनेक देवताओ से प्रार्थना की जाती है। बहुत सम्भव है कि प्रार्थनायें अनेक स्वतन्त्र-मन्त्रो का अवशेष हों जो किसी एक सूत्र मे सकलित हो जाने के पश्चात् चौथे मण्डल के अन्तर्गत रख गयी हो। उक्त छठे मण्डल के सातवें छन्द मे देवी सीता की प्रार्थना की गयी है :—

'हे सौभाग्यवती (कृपादृष्टि से) हमारी ओर उन्मुख हो। हे सीते। तेरी हम वन्दना करते है, जिसमे तू हमारे लिये सुन्दर फल और धन देनेवाली होवे।(६)॥

'इन्द्र' सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका संचालन करे। वह पानी से भरी (सीता) प्रत्येक वर्ष हमें (धान्य) प्रदान करती रहे॥ (७)॥

ऋग्वेदीय (तीनों) सूक्तों मे भी 'कृषि कर्मारिप' परिच्छेद के अन्तर्गत उक्त सूक्तों का उल्लेख हुआ है। 'सीता' के नाम को दूसरी प्रार्थना वैदिक साहित्य में मिलती है वह 'सीता पुजति' मत्र का अंश है। यह मत्र यजुर्वेदीय-सहिताओं मे भी है और अथर्ववेद मे भी।

वैदिक साहित्य मे जिन देवताओं का उल्लेख है, वे अधिकतर प्रकृति देवता हैं अर्थात् प्रभावशाली प्राकृतिक-शक्तियों में देवताओं के स्वरूप की कल्पना कर ली गयी है। इनके कार्य-क्षेत्रों के अनुसार ये तीन वर्गों में विभाजित हैं १. द्युलोक के, २. अन्तरिक्ष के और ३ पृथ्वी के, इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के देवताओं की कल्पना भी की गयी है, जिनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित माना गया है। इनमे क्षेत्रपति, वास्तोष्पति (घर का देवता), सीता, और उर्वरा (उपजाऊ भूमि) प्रधान है। ऋग्वेद के सबसे प्राचीन अंश (२-७ मण्डल) मे केवल एक ही सूक्त में कृषि सम्बन्धी शब्दो का प्रयोग है और वह सूक्त दसवें मण्डल के समय का माना जाता है (४-५७) यही "ऋग्वेद" का एक मात्र स्थल है जहाँ सीता मे व्यक्तित्व और देवत्व का आरोप किया गया है।

दूसरी 'सीता' का परिचय हमे केवल तैत्तिरीय-ब्राह्मण से प्राप्त होता है, जहाँ सीता सावित्री, 'सूर्य-पुत्री" और 'सोम' राजा का आख्यान विस्तार पूर्वक दिया गया है। 'कृष्णयजुर्वेद' मे भी यह कथा-प्राप्त होती है।

'कृषि' की अधिष्ठात्री देवी 'सीता' और सावित्री का अन्तर यह है कि एक तो उसमे देवत्व का आरोप है और दूसरा उसका उल्लेख आगे चलकर बराबर होता रहा है।

कोषकारो ने 'सीता' शब्द का अर्थ किया है :—(क) वह रेखा जो जमीन जोतते समय हल की फाल से पड़ती जाती है (कूंड)। (ख) हल के नीचे जो लोहे का फल लगा रहता है, उसे 'सीता' कहा जाता है। (ग) मिथिला के राजा 'सीरध्वज' जनक की कन्या, जो रामचन्द्र की पत्नी थी। (घ) वैदेही, जानकी।

वैदिक-ग्रन्थो के अनुसार "सीता' वस्तुतः 'जनक'-पुत्री नही थी उन्हें वह चाहे जिस रूप में भी प्राप्त हुई हो संयोग वश ही प्राप्त हुई थी। जैन-कथाकार उन्हें 'जनक' की औरस-पुत्री मानते है। बौद्ध जातक में वह दशरथ-पुत्री और 'राम' की सगी बहिन और पत्नी मानी गयी है।

'डा० रेवरेंड फादर कामिल बुल्के' ने अपने शोध ग्रन्थ 'राम-कथा'' मे 'सीता' की जन्मकथाओ को चार भागों मे विभक्त किया है—१. जनकात्मजा २ भूमिजा, ३. रावणात्मजा और ४. दशरथात्मजा। ये सभी विभाजन

सीता के जन्म परम्परा सम्बन्धी प्रारम्भिक तथ्यो के अभाव के कारण नाना प्रकार की कथाओं की सर्जना के आधार पर ही किये हैं, जनक, रावण और दशरथ, तीनों को कथाकारों ने सीता का पिता मान लिया है। डा० साहब ने 'सीता जन्म' के कथा-ग्रन्थो का विभाजन निम्न प्रकार से किया है :—

१. जनकात्मजा—महाभारत, हरिवश, पउमचरिय, आदिरामायण।

२. भूमिजा —(क) वाल्मीकि-रामायण, तथा अधिकाश राम-कथ.यें।

(ख) दशरथ व मेनका की मानसी-पुत्री (वाल्मीकि-रामायण के नत्तरीय-पाठ)

(ग) 'वेदवती' तथा लक्ष्मी का अवतार।

३. रावणात्मजा—(क) गुणभद्राचार्य कृत-उत्तर-पुराण (६वी ई० शती) महाभागवत पुराण।

(ख) कश्मीरी-रामायण।

(ग) तिब्बती-रामायण।

(घ) सेरतकाण्ड, सेरी समकापातानी पाठ।

(ङ) राम कियेन (रे आमकेर ?)

सीता व लका सम्बन्धित—पद्मजा, रक्तजा अग्निजा।

(क) 'पद्मजा'—दशावतार चरित, (११ वी० ई० शती) गोविन्दराज का वाल्मकि-रामायण-पाठ।

(ख) 'रक्तजा—अद्भुतरामायण (१५ वी० ई० शती)। सिंहलद्वीप की रामकथा, तथा अन्य विवि भारतीयष वृत्तान्त।

(ग) 'अग्निजा'—आनन्द-रामायण (१५ वी० ई० शती) पाश्चात्य वृत्तान्त।

४. दशरथात्मजा—दशरथ जातक। जावा के राम कलिंग। मलय के सेरी राम तथा हिकायतराम महाराज रावण।

"जनकात्मजा" की चार राम-कथायें पायी जाती है। किन्तु 'अयोनिजा-'सीता' के अलौकिक जन्म की ओर कही भी निर्देश नही किया गया है, सर्वत्र ही वह विशुद्ध जनकात्मजा ही है। 'रामोपाख्यान' के प्रारम्भ मे लिखा है कि "विदेहराजो जनक: सीता तस्यात्मजा विभो॥ 'हरिवंश' की राम-कथा मे भी सीता की अलौकिक उत्पत्ति का कोई भी उल्लेख नहीं है। 'पउमचरिय में तो स्पष्ट ही जनक की औरस पुत्री मानी गयी है। प्राचीन-गाथाओं तथा आदि रामायण में भी जनक की पुत्री ही औरस पुत्री मानी गयी है। "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता, सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधू।

"(बालकाण्ड)

'विष्णु-पुराण' (४-५-३०) तथा वायु पुराण' मे यज्ञ का क्षेत्र ठीक करते समय जनक को तीन नव जात शिशु दो पुत्र एक पुत्री प्राप्त होने का उल्लेख है।

'पउमचरिय' मे 'सीता' की जन्म-कथा इस प्रकार है :—यह ग्रन्थ वि स० ६० का आचार्य विमल सूरि रचित प्राकृत-भाषा का है। इस ग्रन्थ के अनुसार—महाराज 'जनक' की 'सीता' औरस पुत्री है। महाराज जनक की भार्या 'पृथ्वी देवी' रानी के गर्भ से युगल-सन्तान एक पुत्री व एक पुत्र—उत्पन्न होती है। पुत्र को पूर्व जन्म का वैरी सौरगृह से हरण कर ले जाता है। कन्या का लालन-पालन पृथ्वी देवी करती है। कन्या के युवती होने पर उसका विवाह दशरथ-पुत्र 'राम' के साथ होता है।

भूमिजा:—प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में भूमिजा सीता के जन्म का वर्णन दो बार मे कुछ विस्तार से मिलता है। एक दिन राजा 'जनक' जब यज्ञ-भूमि तैयार करने के लिये 'हल' चला रहे थे तो एक छोटी कन्या मिट्टी से निकली, उसे उन्होने उठा लिया और पुत्री रूप में उसका लालन-पालन हुआ तथा 'सीता का नाम रखखा।

'विष्णु-पुराण' के अनुसार 'जनक' पुत्रार्थ—यज्ञ-भूमि तैयार कर रहे थे। 'पद्म-पुराण के उत्तर खण्ड के बंगीय-पाठ में भी 'जनक' द्वारा पुत्र कामेष्टि यज्ञ की भूमि तैयार करने का लेख है। इस पाठ मे यह भी है कि उस भूमि से उन्हें एक स्वर्ण-धनुष भी मिला था, जिसे खोलने पर 'जनक' को एक शिशु-कन्या मिली जिसका नाम 'सीता' रखा गया।

गौड़ीय और पश्चिमी-पाठो मे भूमिजा सीता की जन्मकथा इस प्रकार है कि—"राजा जनक को कोई सन्तान न थी। एक दिन जब वह यज्ञ-भूमि के लिये 'हल' चला रहे थे तो उन्होने—आकाश मे लावण्यमयी अप्सरा 'मेनका' को देखा और मन मे सन्तानार्थ उसके साहचर्य की

अभिलाषा की तब इस प्रकार आकाशवाणी हुई कि "मेनका के द्वारा उन्हें एक पुत्री प्राप्त होगी, जो सौन्दर्य में अपनी माता मेनका सरीखी होगी। आगे बढ़ने पर भूमि से निकली कन्या को 'जनक' ने देखा। पुनः आकाश-वाणी हुई "मेनकायाः समुत्पन्ना कन्येयं मानसी तव।" अर्थात् मेनका से उत्पन्न यह 'कन्या तुम्हारी मानस-पुत्री है।

वाल्मीकि-उत्तर-काण्ड मे 'सीता' के पूर्व जन्म से सम्बन्ध जोड़ती एक कथा इस प्रकार से है:—ऋषि 'कुशध्वज की पुत्री 'वेदवती' नारायण को 'पति'रूप मे प्राप्त करने के लिये हिमालय पर तप कर रही थी। उसके पिता की भी यही अभिलाषा थी कि 'नारायण को वह 'वर' रूप मे प्राप्त करे। किसी राजा ने ऋषि से पत्नी रूप मे कन्या की माँग की। ऋषि के इन्कार करने पर क्रोधित हो राजा ने ऋषि की हत्या कर दी। एक दिन 'रावण' तप करती 'वेदवती' को देख कर उस पर मोहित हो गया और उसे अपने साथ ले जाने के लिये उसका झोंटा (केश) पकड़ा। वेदवती का हाथ कृपाण बन गया और वह उस कृपाण से अपना झोंटा काट लेती है। और अपने को रावण से मुक्त कर लेती है। वह 'रावण' को शाप देती है कि मैं तुम्हारे नाश के लिये अयोनिजा के रूप में पुनः जन्म लूंगी। इतना कह वह अग्नि में प्रवेशकर मृत्यु प्राप्त करती है। यही वेदवती जनक की यज्ञ-भूमि की जमीन से उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त कथानक कुछ ही परिवर्तन के साथ श्रीमद्देवी भागवत पुराण (९-१६) तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रकृत-खण्ड (अ० १४) में भी हैं। यह कथा इस प्रकार है कि—कुशध्वज और उनकी पत्नी मालवती लक्ष्मी की उपासना कर उन्हें पुत्री-रूप में प्राप्त करने का वर प्राप्त कर लेते हैं। जन्म लेते ही नवजात कन्या (लक्ष्मी) वैदिक-मन्त्रों का गान करती है, इसीलिये शिशु-कन्या का नाम वेदवती रक्खा जाता है। युवती होने पर नारायण के रूप को 'वर' (पति) रूप में प्राप्त करने के लिये वेदवती तपस्या करती है, रावण द्वारा अपमानित होने पर वह उसे 'शाप' देती है और भूमि से उत्पन्न हो 'सीता के रूप मे वह शाप पूर्ण करती है।

'रावणात्मजा':—'सीता' जन्म की कथाओं में सर्वाधिक—प्राचीन कथा में सीता को रावण की पुत्री माना गया है। भारत, तिब्बत, खोतान (पूर्वी तुर्किस्तान) हिन्दएशिया और श्याम में हमे यह कथा मिलती है। भारतवर्ष में हमें इस कथा का प्राचीनतमरूप गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण मे प्राप्त होता है। कथा इस प्रकार है:—

"अलकापुरी के राजा 'अमितवेग की पुत्री मणिमती' विजयार्ध पर्वत (विन्ध्य) पर तपस्या कर रही थी। 'रावण' उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। सिद्धि में विघ्न होने से मणिमती क्रुद्ध हो निदान-सहित (मरण समय की इच्छा) करती है कि मैं रावण की पुत्री उत्पन्न होकर उसका नाश करू।' मन्दोदरी के गर्भ से उसका जन्म होता है। लका मे भूकम्प आदि अनेक उपद्रव होते हैं। ज्योतिषियों के अनुसार-नवजात कन्या भविष्य में रावण की मृत्यु का कारण बनेगी।" सुन रावण 'मारीच' मंत्री को उसे दूर देश मे पृथ्वी मे गाड़ आने का आदेश देता है। मन्दोदरी परिचयात्मक एक पत्र व कुछ धन तथा कन्या को एक मञ्जूषा मे रख 'मारीच' को सौंप देती है। मारीच वह मञ्जूषा मिथिला की भूमि में गाड़ जाता है। कृषकों को मञ्जूषा उसी दिन मिलती है और वह उसे राजा जनक के पास ले जाते है। पृथ्वी से प्राप्त वस्तु सदा से नियमतः राजा की होती आयी है। मञ्जूषा से जनक को कन्या प्राप्त होती है जिसे जनक की रानी वसुधा अपनी कन्या जान उसका लालन-पालन करती है। (उत्तर-पुराण-पर्व ६८)

महाभागवत-देवीपुराण (१०वीं-११वीं श० ई०) मे भी इस कथा का उल्लेख इस प्रकार से है:—सीता मन्दोदरीगर्भे सभूता चारुरूपिणी, क्षेत्रजा तनयाप्यस्य रावणस्य रघूत्तम। (अ० ४२.६२।)

सोमसेन कृत जैन—रामपुराण में सीता को रावण की औरस-पुत्री माना गया है। मिथिला में गाड़ी गयी। जनक की रानी के नव-प्रसूत बालक को एक देव जिस दिन हरण करता है उसी दिन कृषकों द्वारा वह मञ्जूषा (जिसमे नवजात रावण-पुत्री थी) जनक को प्राप्त होती है।

'सीता' की कुछ जन्म-कथायें ऐसी भी प्राप्त होती हैं जिनके अनुसार मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न होने के बाद ही वह नदी में फेंकी जाती है। कश्मीरी रामायणानुसार रावण की अनुपस्थिति में मंदोदरी को एक पुत्री उत्पन्न होती है। जन्म-पत्रानुसार वह विवाहित होने पर वनवासी

होकर पिता के कुल का नाश करेगी, ऐसा सुनने पर मन्दोदरी नवजात शिशु बालिका को गले मे पत्थर बांध नदी में फिकवा देती है।

दूसरी एक कथानुसार 'रावण' स्वयं ही कन्या को मञ्जूषा में बन्द करवा कर समुद्र मे फिकवा देता है। जनक उसे समुद्र-तट पर पाते हैं।

जावा के 'सरेतकण्ड' की कथा इस प्रकार से है :— मन्दोदरी के गर्भ से श्री (देवी) का अवतार कन्या रूप मे होता है। मन्दोदरी को ज्योतिषियों ने पूर्व मे ही आगाह कर दिया था कि इस गर्भ से जिस कन्या का जन्म होगा उस पर रावण भविष्य में आसक्त होगा। मन्दोदरी नवजात को समुद्र मे बहवा देती है। मतिली निवासी 'कल' नामक ऋषि को वह मिलती है और वह उसका लालन-पालन करते हैं।

'पद्मा'-'श्याम' देश की 'राम जियेन' कथा इस प्रकार हैं—दशरथ के यज्ञ के 'पायस' का अष्टमांश भाग मदोदरी खाकर एक कन्या को जन्म देती है। यह कन्या यथार्थतः लक्ष्मी का अवतार थी। (आनन्द-रामायण अनुसार एक गिद्ध (गीध) कैकेयी के हाथ का पायस छीनकर उड़ गया था और वह उस पायस को अजनी पर्वत पर फेंक देता है।) ज्योतिषियों की भविष्य वाणी सुन रावण भयभीत हो नवजात कन्या को घड़े में रख विभीषण से नदी मे फिकवा देता है। नदी में कमल उत्पन्न हो घड़े का आधार बनाता है। लक्ष्मी अपनी दिव्य शक्ति के योग से उस घड़े को जनक के पास, जो उस समय नदी-तट तपस्या-रत रहते हैं, पहुंचा देती है। जनक घड़े को वन मे ले जाकर एक पेड़ के नीचे रखकर प्रार्थना करते हैं कि यदि यह कन्या नारायण के अवतार की पत्नी बनने वाली हो तो इस भूमि में एक कमल उत्पन्न हो प्रमाण दे। उसी क्षण वहाँ एक कमल उत्पन्न हो जाता है। जनक कमल पर घड़ा रख मिट्टी से ढँककर पुनः तपस्या करने चले आते हैं। तपस्या से सन्तोष न प्राप्त होने पर १६ वर्षों के पश्चात् वह उसी वृक्ष के नीचे जाकर घड़ा खोजते हैं। घड़ा न मिलने पर सेना बुला घड़े की खोज कराते है, फिर भी घड़ा नहीं मिलता अतः वह निराश हो लौट आते हैं। अ :एक दिन हल चलाते समय जनक को अपने आप घड़ा प्राप्त हो जाता है। घड़े के कमल पर एक रूपवती युवती प्राप्त होती है। हल की नोक से प्राप्त होने के कारण उस युवती का नाम सीता रखा गया।

रक्तजा—अद्भुत रामायण की कथा इस प्रकार है—दण्डकारण्य में गृत्समद नाम के ऋषि थे, उनकी पत्नी का आग्रह था कि उसके कुक्ष से स्वयं लक्ष्मी अवतरित हों, अतएव ऋषि पत्नी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए प्रति दिन थोड़े से दूध को अभिमन्त्रित कर उसे एक घड़े मे इकट्ठा करने लगे। एक दिन रावण राजस्व उगाहने ऋषि के आश्रम में आता है। राजस्व के रूप में वह ऋषि के शरीर में बाण की नोक चुभो-चुभोकर रक्त की बूंद उसी घडे में भर कर ले जाता है। घड़ा मन्दोदरी को सौंप बतला देता है कि घड़े का रस विष से भी तीव्र है। वह सावधानी बरते। रावण से किसी कारण असन्तुष्ट होकर मन्दोदरी उस घड़े का दूध मिश्रित रक्त पान कर प्राण देना चाहती है। वह मरती नहीं; बल्कि गर्भवती हो जाती है। पति की अनुपस्थिति मे गर्भ धारण हो जाने से भयभीत हो वह उस गर्भ को कुरुक्षेत्र जाकर पृथ्वी में गाड आती है, जोकि हल जोतते समय जनक को शिशु कन्या रूप में प्राप्त होती है। जनक महिषी कन्या को पालता है और सीता नाम रक्खा जाता है। (सर्ग ८) इस कथा का भाव भी सिंहलद्वीप राम-कथा के समान ही है।

एक भारतीय कथानुसार—मन्दोदरी केवल जिज्ञासा वश ही घड़े का रक्त पान कर लेती है। प्रतिफल एक कन्या को जन्म देती है। रावण के क्रोध के भय से वह नवजात कन्या को उसी घड़े में रख समुद्र में डलवा देती है। घड़ा जनक के राज्य में पहुंचकर कृषकों द्वारा जनक को प्राप्त होता है।

अग्निजा:—'आनन्द' रामायणानुसार राजा 'पद्माक्ष' लक्ष्मी की उपासना कर उन्हें पुत्री रूप में प्राप्त करता है। कन्या का नाम 'पद्मजा' पड़ता है। कन्या के स्वयंवर में पिता युद्ध में मारा जाता है। वह अग्नि में प्रवेश कर जाती है। एक दिन वह अग्नि से बाहर निकलती है, उसी समय 'रावण' आ जाता है। रावण से साक्षात होते ही 'पद्मजा अविलम्ब अग्नि में प्रवेश कर जाती है। रावण तुरन्त अग्नि को बुझा देता है। अग्नि की राख में युवती

तो मिलती नहीं, किन्तु पांच रत्न उसे अब मिलते हैं। उन रत्नों को एक पेटिका में रख रावण लंका मे ले आता है। पेटिका बहुत ही भारी है, लंका के वीरों से वह नही उठ पाती। पेटिका खोलने पर मन्दोदरी एक नारी को देख तुरन्त ढंक देती है और उस पेटिका को वह मिथिला की भूमि में गड़वा देती है। वह पेटिका एक शूद्र को ब्राह्मण की जमीन जोतते समय प्राप्त होती है। ब्राह्मण पृथ्वी-धन को राजधन समझ उसे जनक को सौंप आता है। पेटिका से जनक को एक युवती कन्या प्राप्त होती है और पुत्रीवत् उसका पालन-पोषण करते है।

दक्षिण भारत की एक कथानुसार – लक्ष्मी एक फल से उत्पन्न होती है। वेदमुनि (एक ऋषि) उस बालिका को पाते है, और सीता नाम रखते है। कन्या समुद्र-तट पर तपस्यारत रहती है। रावण उसके सौंदर्य की प्रशंसा सुन वहां आता है। कन्या उसे देख अग्नि मे प्रवेश कर जाती है। (भस्म हो जाती है) वेदमुनि राख बटोर कर एक स्वर्ण-यष्टि मे रखते हैं। यह यष्टि रावण के पास पहुंच जाती है और वह (यष्टि) कोषागार मे रख दी जाती है। एक दिन यष्टि के अन्दर से आती आवाज सुनकर उसे खोला जाता है, जिससे एक सुन्दर कन्या प्राप्त होती है। ज्योतिषियों की भी वाणी सुन कि 'कन्या' लंका के नाश का कारण होगी, रावण भयभीत हो उस कन्या को स्वर्ण-मञ्जूषा में रखवा कर समुद्र मे बहवा देता है। मञ्जूषा कृषकों को मिलती है और अपने राजा को उसे सौंप देते है। सम्भवत: जिस 'फल' से सीता का जन्म होता है वह सीताफल रहा होगा और उसी कारण कन्या का नाम ऋषि ने 'सीता' रखखा था।

दक्षिण भारत के एक कथानुसार—"ईश्वर योगी का रूप धारण कर लंका में वास कर अन्य प्रकार का उपद्रव करते है। पश्चात् वे नगर के एक फाटक पर पहरा देने लगते हैं। वहा वे बुझी हुई राख इकट्ठी करते हैं जिसमे से एक बहुत बड़ा पेड़ उत्पन्न होता है। योगी चला जाता है। रावण पेड़ के चार टुकड़े कर समुद्र में प्रवाहित करा देता है। पेड़ का एक टुकड़ा जनक के राज्य मे पहुंचता है। मंत्री उसे यज्ञ की अग्नि मे जलवा देते है। अग्नि से 'सीता' एक धनुष के साथ प्रगट होती है। धनुष पर लिखा रहता है, कि जो कोई इस धनुष को तोड़ेगा उसी से इस कन्या-रत्न का विवाह होगा।"

'दशरथात्मजा:—'जातक' बौद्धधर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। तीन जातको मे राम-कथा मिलती है। दशरथजातक, अनामक जातक और दशरथ कथानकम्। इसमे राम कथा के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण 'दशरथजातक' ही है। उसके अनुसार—महाराज दशरथ वाराणसी के राजा थे इनकी ज्येष्ठ-महिषी की तीन सन्तानें थी। दो पुत्र और एक पुत्री। राम पंडित और लक्ष्मण नाम के पुत्र तथा सीता नाम की पुत्री थी। ज्येष्ठ महिषी की मृत्यु के पश्चात् द्वितीय रानी से बालक गर्भ रहा, उससे भरतकुमार पुत्र हुआ। भरत के जन्मोत्सव पर राजा दशरथ भरत की माता को दो वरदान देता है। जो राजा के पास धरोहर रूप मे रहता है। भरतकुमार जब ७ वर्ष के होते है, तो भरत की माता भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त करने को राजा से आग्रह करती है। राजा मौन रहते है। रानी का आग्रह उग्रतर होने लगता है। राजा को षड्यन्त्र की सम्भावना का अनुमान होता है। राजा ने रामपंडित व लक्ष्मण को निकट बुला सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाया और साथ ही यह भी कहा कि तुम लोगो का जीवन निरापद नहीं लगता। उचित होगा कि तुम लोग यहा से किसी सुरक्षित स्थान मे चले जाओ। मेरी मृत्यु के पश्चात् आकर राज्य पर अधिकार कर लेना।

ज्योतिषियो की भविष्य-वाणी के अनुसार राजा का जीवन अभी १२ वर्षो का था, अतएव दोनो भाई बहिन सीता देवी वाराणसी छोड़ हिमालय की तलहटी मे आश्रम बना कर रहने लगते है नौवें वर्ष में राजा की मृत्यु-पश्चात् भी भरतकुमार राजदण्ड ग्रहण नही करते। अमात्य-मण्डल भी रानी के विचार का विरोध करता है। भरतकुमार सेना सहित राम को लौटाने के लिये वन में जाते है। भरतकुमार जब राम के आश्रम पर पहुंचते हैं, उस समय राम पंडित वहाँ अकेले ही होते हैं। भरतकुमार राम को पिता की मृत्यु का दुःख समाचार सुनाते हैं। सायकाल लक्ष्मण और सीता देवी आश्रम मे लौटने पर पिता की मृत्यु सुन अधीर हो उठते है। तब रामपंडित उन्हें संसार की अनित्यता का उपदेश सुनाते हैं। परिवार

परिवार को मोह विघटित होता है।

भरतकुमार रामपंडित से वाराणसी लौट आने और राज्यदण्ड सम्हालने का आग्रह करते हैं। तब रामपंडित भरतकुमार को बतलाते हैं कि पिता ने १२ वर्षों तक वाराणसी में उन्हें प्रवेश के लिये निषेध किया था। अभी तीन वर्ष अवधि मे बाकी है। तीन वर्षों के बाद ही मैं आऊंगा। भरतकुमार रामपंडित की तृण—पादुका लेकर लक्ष्मण और सीता देवी सहित वाराणसी वापस लौट आते हैं।

सिंहासन पर पादुका प्रतिष्ठित कर के मंत्री के रूप में भरतकुमार शासन की बागडोर सम्हाल कर शासन की व्यवस्था करते है। अनुचित कार्य या न्याय पर पदुकायें आपस मे घात-प्रतिघात करने लगती। तीन वर्षों के पश्चात् अवधि पूर्ण होने पर रामपंडित वाराणसी लौट आते हैं, और शासन सम्हालते है। सीतादेवी (बहिन) से उनका विवाह होता है, और १६००० सोलह हजार वर्षों तक शासन कर अन्त में स्वर्ग को प्रस्थान करते है।

समाधान :—महाराज शुद्धोधन का जीव (उस समय) राजा दशरथ बुद्ध की माता माया देवी का जीव रामपंडित की माता, यशोधरा का जीव (बुद्ध-पत्नीं) 'सीता देवी' और आनन्द का जीव भरतकुमार और स्वयं बुद्ध का जीव रामपंडित था।

तथागत 'बुद्ध यह राम-कथा (जातक) जोतवन मे किसी गृहस्थ को "जब उसका पिता मर गया था और शोक के वशीभूत हो उसने सम्पूर्ण कार्य करना बन्द कर दिया था तो उसे उपदेश देने के लिये ही उपरोक्त जातक कहा कि प्राचीनकाल मे जब पिता के मरण पर किञ्चित-मात्र भी शोक नही करने थे। वाराणसी के राजा दशरथ के मरने पर राम ने धैर्य-धारण किया था। उपरोक्त प्रकार से बहुलता से सीता जन्म के विविध कथानक प्राप्त होने है। यहाँ उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किये गये है।

ठठेरी बाजार (बसन्ती कटरा)
वाराणसी-१

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

हैं, उनमें कई तो काफी सम्पन्न भी हैं, उन्हे जातीय इतिहास तैयार कराने में प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जातीय- गौरव को सुरक्षित रखने एव प्रकाश में लाने में सचेत होना चाहिये। डूगरपुर के हुंबड जैनमन्दिर व वहाँ के हुंबडों सम्बन्धी मेरे लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

यद्यपि प्रमाणिक इतिहास की सामग्री कम ही मिलती है फिर भी खोज करने पर बहुत-सी ज्ञातव्य बातें प्रकाश में आयेंगी ही। उपेक्षा करने पर जो कुछ सामग्री अभी प्राप्त है, वह भी नष्ट हो जायगी। प्रत्येक जाति वालों के वही बंचे कुलगुरु भी रहे हैं उनके पास भी ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। "जिन खोजा तिन पाइयां।"

□□

(आवरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

University of Lucknow		२९	Sushma Mishra	Evalution of the Concept of No-violence in India up to 2nd Century B.C.	
भोपाल विश्ववि. भोपाल		३०	आर० सी० जैन	जैनदर्शन के निश्चय और व्यवहार	
University of Lucknow		३१	Rajni Rani	A Comparatiue study of Godd eses with Similar Characteristics in Hindu Buddhist and Jain panth-Snoe	
Jabalpur university Deptt. of Philosophy	Dr. P. C. Jain	३२	Prup Dr. C. D. Sharma	Jaln sristividya evam Pauranik sristividya Ka vikasa veda Ke sandarbh men Tulnatmak adhyayana	१९७१ में उपाधि प्राप्त

□□□

यूनिवर्सिटी आफ पूना डिपार्टमेंट आफ हिंदी पूना	डा० न. वि. जोगलेकर	११	डा० एस० के० शाह	जैन परम्परा का राम कथा साहित्य एक अनुशीलन	१९७१ में उपाधि प्राप्त
हिंदी विभाग पुणे विद्यापीठ	डा० आनन्दप्रसाद दीक्षित	१२	श्री उ० भा० कोठारी	जैन तीर्थंकर नेमिनाथ विषयक हिन्दी काव्य	१९७४ में उपाधि प्राप्त
,,	डा० न० चि० जोगलेकर	१३	श्री एम० बी० कडारकर	मध्य कालोपरान्त हिन्दी जैन साहित्य का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन (सं० १९०१–२०३०)	
यूनिवर्सिटी आफ राजस्थान डिपार्टमेंट आफ संस्कृत जयपुर	प्रो० पी० सी० जैन	१४	श्री श्यामशंकर दीक्षित	१३वीं १४वीं शताब्दी का जैन संस्कृत महाकाव्य	१९३३ में निबन्धन
,,	डा० एस० के० गुप्ता	१५	श्री सत्यव्रत	जैन संस्कृत महाकाव्य	१९७२ ,,
,,	,,	१६	श्री सीताराम शर्मा	जैन परंपरा में राम कथा	
,,	डा० पी० सी० जैन	१७	श्री एम० एम० धर्मराज जैन	Jaina Mahapuran ka Bk. Adhyayan is the cotaxt of Kannada Jain Sahitya.	
,,	डा० एस० के० गुप्ता	१८	श्री पी० सी० जैन	जैन हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	
,,	श्री पी० सी० जैन	१९	श्रीमती कोकिला जैन	तीर्थंकर आदिनाथ और उनका मानवीय संस्कृति के उन्नयन में योग	
,,	डा० पी. सी. जैन	२०	श्री घनश्याम गुप्ता	राजस्थान के मध्यकालीन दिग० जैन भट्टारकों का संस्कृत साहित्य को योगदान	
मराठावाडा यूनिवर्सिटी डिपार्टमेंट आफ हिस्ट्री एंड ऐनसियेन्ट इंडियन कल्चर	Dr. T. V. Pathy	२१	V. I. Dharurkar	Yha Art and Iconography of the Jain Caves in Ellora.	१०-१-७९ को उपाधि प्राप्त
बड़ोदा विश्वविद्यालय, बड़ोदा		२२	Shri Vishnu Kar, Bhatta Keshaulal	Religious & Philosophical foundation of Indian Art	
,,		२३	Jadhav Rajave Bapu Shele	The Art of medievael Gujarat	
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ		२४	Rekha Nagar	Dance and music in Ancient Indian Art & Literature (from earliest times to c. 600 AD)	
,,		२५	संघ मित्रा शंकर	राज्य संग्रहालय लखनऊ में बुद्ध तथा जैनमूर्ति का प्रतिमाशास्त्र अध्ययन	
,,		२६	लल्लूप्रसाद	पद्मपुराण कालीन समाज	
University of Kurukshetra		२७	सुरेन्द्र शर्मा	A Critical and comparative study of jain Kumarsambhava	
University of Allahabad		२८	Nilima Chaudhary	A Critical study of Chaturmasya'	

(शेष पृष्ठ १२ पर)

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १२-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ३-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन २-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण ३

जुलाई-सितम्बर १६८०

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन विज्ञान

□ डा० हरिसत्य भट्टाचार्य

चिन्ता

साधारणतः चिन्ता को तर्क या ऊह कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञान से प्राप्त दोनों विषयों में अच्छेद्य सम्बन्ध की खोज करना तर्क का काम है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इसे (Induction) कहता है। यूरोपीय पण्डित कहते हैं कि Induction observation या भूयोदर्शन का फल है। जैन नैयायिक उपलम्भ और अनुपलम्भ द्वारा तर्क की प्रतिष्ठा मानते हैं। दोनों के कथन का तात्पर्य एक ही है। पाश्चात्य तार्किक Inductive truth को एक Invariable अथवा Unconditional relationship कहते हैं। जैनाचार्यों ने कितनी ही शताब्दी पूर्व यही बात कह दी थी। उनके मतानुसार तर्कलब्ध सम्बन्ध का नाम अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपत्ति है।

अभिनिबोध

तर्कलब्ध विषय की सहायता से होने वाले अन्य विषय के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं साधारणतः अभिनिबोध को अनुमान माना जाता है। इसी को पाश्चात्य ग्रन्थों में अनुमान Deduction, Retiocianation अथवा Syllogism नाम दिया गया है। धुआँ देखकर यह कहना कि 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत में अग्नि है)—इस प्रकार के बोध का नाम अनुमान है। इसमें पर्वत 'धर्मी', किंवा 'पक्ष'; वह्नि 'साध्य' और धूम 'हेतु', 'लिंग', अथवा 'व्यपदेश' है। पाश्चात्य न्यायग्रन्थों में Syllogism के अन्तर्गत इन्हीं तीन विषयों की विद्यमानता दिखती है। इनके नाम Minor term, Major term और Middle term हैं। अनुमान व्याप्तिज्ञान पर—अर्थात् अग्नि और धूम में जैसा अविनाभाव सम्बन्ध है उस पर—प्रतिष्ठित है। यह व्याप्ति तत्व पाश्चात्य न्याय के Distribution of the middle term के अन्तर्गत है। जैन दृष्टि से अनुमान के दो भेद हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। जिस अनुमान द्वारा अनुमापक स्वयं किसी तथ्य की खोज करता है उसे स्वार्थानुमान और जिस वचन-विन्यास द्वारा उक्त अनुमापक अन्य को वह तथ्य समझाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। ग्रीक दार्शनिक Aristotle अनुमान के तीन अवयव बतलाता है—(१) जो-जो धूमवान हैं वह वह्निमान् है, (२) यह पर्वत धूमवान् है, (२) यह पर्वत धूमवान् है (३) अतएव यह पर्वत वह्निमान है। बौद्ध अनुमान के तीन अवयव इस प्रकार बतलाते हैं—(१) जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, (२) यथा महानस, (३) यह पर्वत धूमवान् है। मीमांसक भी अनुमान के तीन अवयव मानते हैं। इनके मतानुसार अनुमान के ये दो रूप हो सकते हैं। प्रथम रूप—(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह धूमवान् है, (३) जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा महानस। द्वितीय रूप—(१) जोधूमवान् है वह वह्निमान् है, (२) यथा महानस, (३) यह पर्वत वह्निमान् है। नैयायिक अनुमान को पञ्चावयव मानते हैं। उनके मतानुसार अनुमान का आकार यह होगा—(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह धूमवान् है, (३) जो धूमवान् है, (३) जो धूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा महानस, (४) यह पर्वत धूमवान् है, (५) इसलिए यह वह्निमान् है। अनुमान के ये पाँच अवयव क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैन दर्शन के नैयायिक कहते है कि उदाहरण, उपनय और निगमन निरर्थक है। जैन अनुमान के दो अवयव मानते है—(१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह धूमवान्है। जैन कहते है कि कोई भी बुद्धिमान प्राणी इन दो अवयवों से ही अनुमान के विषय को समझ सकता है। अतएव अनुमान के अन्य अवयव बेकार हैं। परन्तु यदि श्रोता अल्पबुद्धि हो तो उसके लिए जैन लोग नैयायिकों के पाँच अवयवो का स्वीकार करते ही हैं, इतना ही नही इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाशुद्धि, हेतुशुद्धि जैसे और भी पाच अवयव बनाते हैं।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३ किरण ३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०६, वि० सं० २०३७ | जुलाई-सितम्बर १९८०

जिनवाणी

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

अर्थ—अनन्तधर्मा परम-आत्मा अर्थात् चैतन्य के परम-अर्थ को, पृथक-रूप में—परद्रव्यो से भिन्न, दर्शाने वाली—अनेकान्तमयीमूर्ति—जिनवाणी, त्रिकाल—प्रतिसमय तत्त्व को प्रकाशित करे।

अध्या० तरं०–(अनेकान्तमयी मूर्ति) अनेकान्त अर्थात् स्याद्वादमयी मूर्ति—जिनवाणी। यहां जिनवाणी शब्द प्रयोग न किए जाने पर भी अनेकान्तात्मक होने से -सामर्थ्य से जिनवाणी अर्थ फलित होता है। (नित्य) सदा-त्रिकाल। (प्रकाशताम्) प्रकाशित अर्थात् उद्योतित करे। कैसो है जिनवाणी? (प्रत्यगात्मन) परम-आत्मा अर्थात् चैतन्य रूप के (प्रत्यक्-तत्त्वं पश्यन्ती) भिन्नतत्त्व अर्थात् स्व-स्वरूप को प्रकाशित करती है। कैसा है आत्म-तत्त्व? (अनन्तधर्मण) दो बार अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त धर्मप्रमाण, अस्तित्व, नास्ति-त्व, नित्यत्व, अनेकत्व आदि धर्मवाला है। यद्यपि धर्म शब्द पुण्य, समन्याय, स्वभाव, आचार आदि अनेक अर्थों वाला है, तथापि यहां धर्म शब्द स्वभाव वाचक है॥

□□□

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय में सत्य का स्वरूप

☐ श्री राजीव प्रचंडिया, अलीगढ़

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय मिलकर भारतीय वाङ्मय का रूप स्थिर करते हैं। वैदिक वाङ्मय में वेद-वाणी, बौद्ध साहित्य में भ० गौतम बुद्ध के सिद्धान्त, उपदेश, तथा शिक्षात्मक निर्देश और जैन आगम में तीर्थङ्करों की दिव्यवाणी के अभिदर्शन होते हैं। वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रन्थ, त्रिपिटक अर्थात् सुत्तपिटक, विनमयपिटक तथा अभिधम्मपिटक बौद्ध साहित्य तथा जैन आगम में तिलोयपण्णत्ति, तत्वार्थसूत्र, सूत्रकृतांग, स्थानाङ्गसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र मूलाचार, अमितगतिश्रावकाचार, अष्टपाहुड़, भगवती आराधना, अनगार तथा सागरधर्मामृत आदि ग्रन्थ मान्य हैं जिनके द्वारा भारतीय जीवन-दर्शन, आचार-विचार, धर्म साधना-आराधना तथा ज्ञान-विज्ञान आदि उपयोगी और कल्याणकारी बातों का सम्यक् परिचय मिलता है।

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय मे व्यवहृत सत्य के स्वरूपका विवेचन करना हमारा यहां मूलाभिप्रेत है।

वैदिक वाङ्मय में सत्य के स्वरूप को स्थिर करते हुए कहा गया है कि मन, वाणी और कर्म की अमायिकता एवं अकुटिलता का नाम ही सत्य है।[1] ज्ञानप्रकाश मे मायादि सशक्त शत्रुओं को कटना-छंटना होता है। इनके हटते ही सत्य उद्घाटित हुआ करता है। अज्ञान और माया का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। अज्ञान में सत्य प्रछन्न रहा करता है। जो ज्ञान से आप्लावित है वह निश्चय ही सत्य से प्रभावित होता है। वास्तव में ज्ञानी सदा सत्य-वादी होता है।[2] ज्ञान-शक्ति सत्य को प्रेरित एवं उद्घाटित किया करती है और बुद्धिशील प्राणियों को यथावसर योग्य कर्मों की चेतना भी देती है।[3] ज्ञान-अभाव में सत्य की अपेक्षा आग्रह की प्रधानता रहती है। आग्रही अर्थात् अज्ञानी सत्य को समझने-पहिचानने में प्रायः असमर्थ होते हैं।[4] उनकी दृष्टि अज्ञान के प्रभाव में स्थूल रहती है। अज्ञान शक्ति के माध्यम से ही सत्य को विभिन्न रूपों मे अभिव्यक्त किया जाता है। वस्तुतः सत्य तो एक ही है।[5] वह एक मात्र ब्रह्म है।[6] इन्द्र है।[7] सत्य में ही धर्म निवास करता है। सत्य ही सब अच्छाइयों की जड़ है तथा सत्य से बढ़कर संसार मे और कुछ नहीं है।[8] सत्य से प्राणी सबके ऊपर तपता है तथा ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है तथा नम्र होकर चलता है।[9] सत्य की प्रतिष्ठा पर सत्यवादी का वचन क्रिया फलाश्रयत्व गुण से युक्त हो जाता है अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति के वचन अमोघ होते है।[10]

१— 'सत्यमिति अमायिता, अकौटिल्यं वाङ्मनः कायानाम्
—केन उपनिषद्, शांकरभाष्य, ४ ८

२. 'नाऽविजानन् सत्यं वदति, विजान्नेव सत्यं वदति।'
—छान्दोग्य उपनिषद्, प्रपाठक ७, खण्ड १७, कण्डिका १

३. 'चोदमिती सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।'
—ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ३ मन्त्र ११.

४. 'नावगतो उपरुध्यते, मापरुद्धों उ वगच्छति।'
—ताण्डय महा ब्राह्मण, अध्याय २, खण्ड १, कण्डिका ४.

५. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'।
—ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र ४६.

६. 'सत्यमेव ब्रह्म'। —शतपथ ब्राह्मण, काण्ड २, अध्याय १, ब्राह्मण ४, कण्डिका ४.

७. 'सत्यं हि इन्द्रः'। —शाङ्ख्यायन आरण्यक, अध्याय ५, कण्डिका १.

८. 'सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्येधर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम्॥'
—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ११०, श्लोक १३.

९. 'सत्येनोर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणाडवाङ् विपश्यति।'
—अथर्ववेद, काण्ड १०, सूक्त ८, मन्त्र १९.

१०. 'सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'
—योगदर्शन २।३६.

सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट उल्लेख है कि सत्य स्वर्ग का सोपान है।[1] सत्य का आचरण करने वाला प्राणी स्वर्ग-लोक से च्युत नहीं होता है।[2] वास्तव में देवत्व की ओर जाने वाला मार्ग ही सत्य से बना है।[3] सत्य के आधार पर ही आकाश टिका है, समग्र संसार और प्राणीगण सत्य के ही आश्रित हैं। सत्य से ही दिन प्रकाशित होते हैं, सूर्य उदय होता है तथा जल भी निरन्तर प्रवाहित रहता है।[4] लोक में सत्य के द्वारा ही साक्षी को पवित्र किया जाता है। सत्य से ही धर्म की अभिवृद्धि भी हुआ करती है।[5] अतः सत्य सर्व प्रकार से कल्याणकारी है जिस प्रकार वृक्ष मूल (जड़) के उखड़ जाने से सूख जाता है और अन्ततः नष्ट हो जाता है उसी प्रकार असत्य बोलने वाला व्यक्ति भी अपने आप को उखाड़ देता है, जन समाज मे प्रतिष्ठाहीन हो जाता है। निर्मूल होने से सूख जाता है—श्रीहीन हो जाता है और अन्ततः नरकादि दुर्गति पाकर नष्ट हो जाता है।[6]

बौद्धधारा के प्रवर्त्तक भ० गौतम बुद्ध ने भी सत्य के सम्बन्ध में 'अंगुत्तर निकाय' में स्पष्ट कहा कि 'हे पुरुष तेरी आत्मा तो जानती है कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। अतः पाप करने वाले के लिए एकान्तगुप्त (छिपाव) जैसी कोई स्थिति नहीं है।[7] रागादि पाप कर्म हटते ही प्राणी सत्य तक पहुंच जाता है।[8] रागासक्त प्राणी अबोध मे रहता है। सोचने समझने की शक्ति उसमें प्रायः समाप्त सी हो जाती है। ऐसे प्राणी सत्य का केवल एक ही पहलू देख पाते है।[9] उनका दृष्टिकोण सर्वांगीण नहीं होता। वे अपने विचारो के अतिरिक्त दूसरो के विचारों को असत्य मानते है। जबकि बुद्ध-मान्यता है कि न सत्य अनेक है और न एक दूसरे से पृथक है।[10] सत्य तो वस्तुतः एक ही है।[11] उसका रस सब रसों से श्रेष्ठ है।[12] सत्य द्वारा प्राणी सहज मे ही जन-जन मे समाहित हो जाता है। सत्यवादी की यशकीर्ति दिग-दिगन्त फैलती जाती है।[13] जबकि असत्यवादी नरकोन्मुखी होता है। इतना ही नही 'जो करके—नही किया—ऐसा कहने वाला भी नरक में जाता है।[14] यह शाश्वत धर्म है कि सत्य वचन ही अमृत वचन है।[15]

---

१. 'सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्।'
—महाभारत, आदिपर्व, सर्ग ७४, श्लोक १०५

२. 'सत्यं परं, परं सत्य, सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन।'
—तैतिरीय आरण्यक, नरायणोपनिषद् १०।६२

३. 'सत्येन पन्था विततो देवयानः।'
—मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक ३, खण्ड १, श्लोक ६

४. 'सामासत्योक्तः परिपातु विश्वतो, द्यावाचयनतत्रन्न हानि च।
विश्वमन्यन्निविशतेयदेजति, विश्वाहापो विश्वाहो देति सूर्यः॥''
—ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ३७, मन्त्र २.

५. ''सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।''
— मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ८३.

६. ''यथावृक्षः आविर्मूलः शुष्यति स उदवर्तते, एवमेवानृत वदन्नार्मूलमात्मानं करोति, सशुष्यति, सउवर्तते, तस्मादनृतं न वदेत्।''
—ऐतरेय आरण्यक, आरण्यक २, अध्याय ३, खण्ड ६.

७. 'नत्थिलोके रहोनाम, पापकम्मं पकुब्बतो।
अन्ता ते पुरिस जानाति सच्चं वा यदि वामुसा॥'
—अंगुतर निकाय ३।४।१०

८. रागरत्ता न दक्खति, तमोखधेन आवुटा।'
—दीर्घनिकाय, २।१।६

९. 'एकङ्गदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो।'
—थेरगाथा, १।१०६.

१०. न हेव सच्चानि बहूनि नाना।'
—महानिद्देसपालि, १।२।१२।१२१

११. 'एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि।'
—सुत्तनिपात, ४।५०।७

१२. 'सच्चं हवे सादुतर रसानं।' —सुत्तनिपात १।१०:२.

१३. 'सच्चेन किति पप्पोति।' —सुत्तनिपात १।१०।७.

१४. 'अभूतवादी निरय उपेति, योवापिकत्वा न करोमीति चाह।' —सुत्तनिपात, ३।३६।५.

१५ सच्चं वे अमतावाचा, एस धम्मो सनन्तनो।'
—सुत्तनिपात, ३।२९।४.

जैन आगम में सत्य विषय पर विषद चर्चा की गई है। आर्षग्रन्थ 'मूलाचार' मे स्पष्ट उल्लेख है कि राग, द्वेष, मोह के कारण असत्यवचन तथा दूसरों को सताप करने वाले ऐसे सत्यवचन को छोड़ना और द्वादशांग के अर्थ कहने मे अपेक्षा रहित वचन को छोड़ना सत्य कहलाता है। अर्थात् हास्य, भय, क्रोध तथा लोभ से मन-वचन-कायकर किसी समय मे भी विश्वास- घातक, दूसरे को पीड़ाकारक वचन न बोलना ही सत्य है।[1] सत्य का सीधा सम्बन्ध चारित्र की शुचिता से हुआ करता है। जो कुछ कहा जाय चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र की उससे यदि शुद्धि होती है तो निश्चय ही वह सत्य है तथा जिस कथन से चारित्र की शुद्धि नही होती—चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, असत्य ही होता है।[2] जैनाचार्यों ने तो सत्य के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे दस भागों में विभाजित किया है। यथा-जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, सम्भावना, व्यवहार, भाव तथा उपमा सत्य।[3] जिस देश के लिए जो शब्द जिस अर्थ मे रूढ़ होता है, उस देश में उस अर्थ के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना 'देशसत्य' या 'जनपद सत्य' कहलाता है। उदाहरणार्थ-विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं मे चावल या भात के नाम पृथक-पृथक बोले जाते है। जैसे चोरू, कुलु आदि। बहुजन की सम्मति से जो शब्द जिस का वाचक मान लिया जाता है, उसे सम्मति सत्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ-लोक मे राजा की स्त्री को देवी कहना किसी मूर्ति आदि मे किसी व्यक्ति विशेष की कल्पना कर लेना 'स्थापना' सत्य' है। उदाहरणार्थ- अर्हन्त की पाषाण मे कल्पना करना। गुणकी अपेक्षा न रखकर किसी व्यक्ति या पदार्थ का कोई नाम रख लेना 'नाम सत्य' है। उदाहरणार्थ कुल की वृद्धि न होने पर भी कुलवर्द्धन नाम रखा। पुदगल के रूप आदि अनेक गुणों में रूप की मान्यता से जो वचन कहा जाय, उसे 'रूप सत्य' कहा जाता है। उदाहरणार्थ केवल रूप आधार से कहना कि बगुला की पंक्ति सफेद होती है। अन्य की अपेक्षा से जो कहा जाय सो वह 'प्रतीत्य सत्य' है। उदाहरणार्थ 'यह दीर्घ है' यहाँ ह्रस्व की अपेक्षा से प्रतीत्य सत्य है। व्यवहार में प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वचन बोला जाय, वह व्यवहार सत्य' है। उदाहरणार्थ-लोक मे 'भात पकता' है। ऐसा वचन व्यवहार सत्य है। इच्छानुसार कार्य कर सकना 'सम्भावना सत्य' है। उदाहरणार्थ-इन्द्र इच्छा करें तो जम्बूद्वीप को उलट सकते है। हिंसादि दोष रहित अयोग्य वचन का प्रयोग 'भावसत्य' की कोटि मे आता है। उदाहरणार्थ-किसी ने पूछा कि चोर देखा, उसने कहा कि नही देखा, यह भाव सत्य है। उपमामय वचन 'उपमा सत्य' कहलाता है। उदाहरणार्थ-पल्योपम सागरोपम आदि। पल्योपम काल मे पल्य शब्द गड्ढे का वाचक है। काल को गड्ढे की उपमा देकर बताया गया कि एक योजन लम्बे-चौड़े यौगिलिकों के बालों से ठसाठस भरे हुए गड्ढे के समान काल पल्योपम काल है।[4] इन सब मे अनवद्य सत्य (हिंसा रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ होता है।[5] किन्तु जैनागम मे यह भी स्पष्ट है कि यदि कदाचित सत्य वचन बोलने मे बाधा प्रतीत होती है तो मौन धारण भी किया जा सकता है।[6] मूलरूप मे सत्यवचन वह है जो प्रशस्त, कल्याण कारक, सुनने वाले को आह्लाद उत्पन्न करने वाला तथा उपकारी हो। किन्तु जो वचन अप्रिय और

१. मूलाचार, गाथा स० ६, २९०, अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला वि० सं० १९७६.

२. जभास भास तस्य सच्च मोसं वा चरित्तं विसुज्झइ, सव्वा विसा सच्चाभवति।
ज पुण भासमाणस्स चरित्त न सुज्झति सा मोसा भवति॥'
—दश वैकालिकचूर्णि, अध्ययन ७.

३. 'जणवद संमदिठवणा णामें रूवे पडुच्चववहारे।
सभावणववहारे भावेणोपम्म सच्चेण॥''
——भगवती आराधना, मूलगाथा स० ११९३, सखारामदोशी, शोलापुर, सं० ई० १९३५.

४. मूलाचार, गाथा सं० ३०९-३१३, अनन्तकीर्ति ग्रथ माला, वि० स० १९७६.

५. 'सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।' –सूत्रकृतांग १।६।२३.

६. वक्तव्यंचन मथप्रविघेयं धीधनैर्मौनम्।
—पद्मनन्दि पंचविंशतिका, १।९१.

अहितकर होता है, वह सत्य नहीं हुआ करता।[1] क्योंकि सत्य के लिए यह आवश्यक है कि काया की सरलता भावों की सरलता तथा मन, वचन और काय रूप योग की एकरूपता हो।

सत्य की विशिष्टता का वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने बताया कि सत्य की साधना करनेवाला मेधावी साधक दुःखो से घिरा रह कर भी घबराता नही है।[2] वह मृत्यु के प्रवाह को भी निर्वाधरूप से सहज में ही तैर जाता है।[3] वास्तव में सत्य को अग्नि जलाती नहीं, पानी उसको डुबोने में असमर्थ होता है। सत्य के प्रभाव से पिशाच तक भाग जाते है तथा देवगण उसका रक्षण करते है, वदन करते है।[4] निश्चय ही सत्य ही ससार मे सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।[5] वह चन्द्रमण्डल से अधिक सौम्य है तथा सूर्यमण्डल मे भी अधिक तेजस्वी है।[6] अस्तु विश्व के सभी सत्पुरुषो ने मृषावाद अर्थात् असत्यवचन को निन्दा की है।[7] असत्य का प्ररूपण करने वाला प्राणी ससार-सागर को पार करने मे सदा असमर्थ रहता है।[8] अतः यह कहा जा सकता है कि सत्य सदा उपयोगी तथा कल्याणकारी होता है। ऐसे हितकारी सत्यवचन का बोलना श्रेयस्कर है।[9]

उपर्यंकित विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्य की आधार शिला ज्ञान पुंज है। ज्ञान के अभाव मे सत्य अप्रकट रहता है। ऐसी स्थिति मे तथ्य की अपेक्षा आग्रह की प्रधानता रहती है। आग्रही-माहौल मे आत्मगवेषणा असंदिग्ध ही कही जाएगी। युवाचार्य महाप्रज्ञ (श्री मुनि नथमलजी) का यह कथन निश्चय ही सार्थक प्रतीक होता है कि "जिसने अपनी धारणा की खिड़की को सत्य से देखा, वह सत्य से दूर भागा है। जिसने तथ्यों की खिड़की से सत्य को देखन का प्रयत्न किया वह सत्य के निकट पहुचा है। यदि संसार मे अपनेपन का आग्रह न होता तो सत्य का मुंह आवरणो से ढका नही होता।"

—पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ (उ० प्र०)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन वीरसेवामन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि - त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'मैं ओम प्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। —ओमप्रकाश जैन प्रकाशक

१. 'सत्यंप्रियं हित चाहुः सूनृत व्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रिय चाहित च यत ॥'
—अनगारधर्मामृत, अधिकार स० ४, श्लोक सं० ४२, पं० खूबचन्द, शोलापुर सं० ई० १९२७.

२. "सहिओ दुक्खमत्ताएपुट्ठो नो भंझाए।"
—आचारांग सूत्र १।३।३

३. "सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मोहावीमारंतरइ।"
—आचारांग सूत्र १।३।३

४. "भगवती आराधना, मूलगाथा स० ८३५-८४२ सखारामदोशी, शोलपुर, स० ई० १९३५.

५. "सच्च···लोगम्मिसारभूयं,···गंभीरतरं महासमुद्दाओ।
—प्रश्न व्याकरणसूत्र २।२

६. "सच्च सोमतर चन्द मंडलाओ, दित्ततरं सूर मडलाओ।"
—प्रश्न व्याकरणसूत्र २।२

७. 'मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरहिओ।"
—दशवैकालिक ६।१३

८. "जेते उ वाइणो एवं, नते संसार पारगा।"
—सूत्रकृतांग, १।१।१।२१.

९ "भासियव्व हियं सच्चं।"
—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय १९, गाथा २७.

अपदेससत्तामज्झं

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

श्री 'समयसार' की १५वीं गाथा के तृतीय चरण के दो रूप मिलते हैं—(१) 'अपदेससुत्तमज्झं' और (२) 'अपदेशसंतमज्झं'। और इस पर संस्कृत टीकाएँ भी दो आचार्यों की मिलती हैं—श्री जयसेनाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य की।

आचार्य जयसेन की टीका के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समक्ष 'अपदेससुत्तमज्झं' पद रहा और उन्होंने इसी पद को आश्रय कर टीका लिखी। टीका मे पूरे पद को जिन शासन का विशेषण माना गया है और 'सुत्त' शब्द को दृष्टि मे रख कर तदनुसार ही 'अपदेस' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बिठाया गया है। उक्त अर्थ 'सुत्त' शब्द के सन्दर्भ में पूरा-पूरा सही और विधिपूर्ण बैठ रहा है। कदाचित यदि 'सत' शब्द किन्हीं प्रतियो मे न होता तो पूरे पद के अर्थ मे संभवत: अवश्य ही विवाद न उठता। आचार्य जयसेन अपनी टीका मे लिखते है—

'अपदेससुत्तमज्झं' अपदेशसूत्रमध्य अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश: शब्दो द्रव्यश्रुतम् इति यावत् सूत्र परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमयइति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञान समयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भाण्यत इति।'—

जिससे पदार्थ बताया-दर्शाया जाता है वह 'अपदेस' होता है अर्थात् शब्द। यानी द्रव्यश्रुत। 'सुत्तं' का भाव है ज्ञान-समय अर्थात् भावश्रुत। ये भाव उक्त टीका से स्पष्ट फलित होता है। इन आचार्य ने 'संत' शब्द का अपनी टीका मे कही कोई भी उल्लेख नही किया।

जहाँ तक श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका का संबंध है, उन्होंने १५वी गाथा को पूर्व प्रसग मे आई १४वी गाथा के प्रकाश मे देखा है। उनके समक्ष 'सुत्त' शब्द रहा प्रतीत नहीं होता अन्यथा कोई कारण नहीं कि वे टीका में उसे न छूते। उनकी दोनों गाथाओं को (दोनों की टीकाओं मे) समता तो है ही साथ ही आत्मा और जिनशासन में अभेदमूलक भाव (गाथाओं के अनुरूप) भी है पर उन्होंने गाथा के तृतीय चरण को श्री जयसेनाचार्य की भांति, जिनवाणी का विशेषण नही बनाया और तृतीय चरण की टीका आत्मा का विशेषण बना कर ही लिखी। ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके समक्ष 'सुत्त' के स्थान पर कोई ऐसा अन्य शब्द रहा होगा जो १४वीं गाथा में गृहीत आत्मा के सभी (पाचो) विशेषणों की संख्या पूर्ति करता हो। वह शब्द क्या हो सकता है? क्या 'संत' सत्त' या 'मत्त' जैसा कोई अन्य शब्द भी हो सकता है? यह विचारणीय है।

हमारे समक्ष १४वीं व १५वीं दोनों गाथाएँ और दोनों पर श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीकाएँ उपस्थित हैं—

गाथा १४—'जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठं अणण्णयणियद।
अविसेसमसंजुत्त ·· ··········॥१४॥ समयसार

टीका—'या खलु अबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्यावि-
शेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूति: ·· · ······
सात्वनुभूतिरात्मैव।'—

गाथा १५—'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं··· ···············॥१५॥ समयसार

टीका—येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्या-
संयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः ····· · ····· जिन-
शासनस्यानुभूतिः।'—

उक्त दोनो गाथाएँ और उनकी टीकाएँ आत्मानुभूति व जिनशासन अनुभूति (दोनों) मे अभेदपन दर्शाती हैं अर्थात् जो आत्मानुभूति है और जो जिनशासन की अनुभूति है वही आत्मानुभूति है।

प्रथम गाथा नम्बर १४ में आत्मा के पांच विशेषण हैं—(१) अबद्धस्पृष्ट (२) अनन्य (३) नियत (४)

अविशेष और (५) असंयुक्त । दोनों गाथाओं की टीका के अनुसार ये पाँचों ही विशेषण गाथा (मूल) १५ में भी बैठने चाहिए । स्थूल दृष्टि से देखने पर गाथा १५ में अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष ये तीन विशेषण स्पष्ट समझ में आ जाते हैं तथा 'नियत' और 'असंयुक्त' दो विशेषण दृष्टि से ओझल रहते हैं—जबकि टीका में पाँचों विशेषणों का उल्लेख है। पाठकों को ये ऐसी पहेली बन गए हैं जैसी पहेलियां पत्रिकाओं में प्रायः चित्रों के माध्यम से प्रकाशित होती रहती है । जैसे—यहाँ इस चित्र मे दो पुरुष एक कुत्ता एक चिड़िया छिपे है—उन्हे ढूढो । उनके ढूढने मे जैसे दृष्टि और बुद्धि का व्यायाम होता है और वे तब कहीं मिल पाते हैं । इसी प्रकार गाथा के तृतीय चरण में ऐसा और ऐसे से भी अधिक व्यायाम किया जाय तब कहीं विशेषणों का भाव बुद्धि में फलित हो । पाठक विचारें कि कहीं ऐसा तो नही है ?

आचार्य कुन्दकुन्द मूल और आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के अनुसार 'नियत' और 'असयुक्त' विशेषण इस भाति ठीक बैठ जाते हो- -

(१) 'नियत' अर्थात् सभी भाँति निश्चित, एकरूप, अचल, जो अपने स्थान—स्वरूप आदि से चल न हो, अन्य स्थान से जिसका सबंध ही न हो—अपने मे ही हो—अर्थात् 'अपगताः' (दूरीभूताः) अन्ये देशाः यस्मात् सः अपदेशः तं अपदेशं—नियतं आत्मानम् । अथवा देशेभ्यः (अन्य स्थानेभ्यः) अपगतः अपदेशः त नियत आत्मानम् ।' यह अर्थ टीका में आए नियत विशेषण को विधिवत् बिठा देता है और टीका की प्रामाणिता भी सिद्ध हो जाती है तथा यह मानने का अवसर भी नही आता कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इसकी टीका छोड़ दी है ।

(२) दूसरा विशेषण है 'असयुक्त'। असंयुक्त का भाव होता है—संयोग रहित—एकाकी—सत्त्वरूप या स्वत्व में विद्यमान । जो स्व मे होगा उसमें संयोग कैसा ? अर्थात संयोग नही ही होगा । जो संयोग में नही होगा उसमें पर कैसा ? ये 'असंयुक्त' अर्थ 'सत्तमज्झं' (सत्वमध्य) से घटित हो जाता है । क्यों कि—सत्त (सत्त्व) का अर्थ 'चेतन' भी है और आत्मा चेतन है—'चेतन चेतन के मध्य अर्थात् आत्मा को आत्माके मध्य, जो देखता वह जिनशासन को देखता है । 'पाइयसद्दमहण्णव' कोष में लिखा है—सत्त [सत्त्व] प्राणी, जीव-चेतन । पृ० १०७६ । संस्कृत में सत्त्व का अर्थ जीव है ही । यदि 'सत्त' के स्थान पर 'मत्त' माना जाय तब भी 'अपदेसमत्तमज्झं' इस स्थिति में 'अपदेसं+अत्त+मज्झ' खंड करके 'अत्त' शब्द से आत्मा अर्थ कर सकते है । आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं भी 'अत्त' शब्द आत्मा के लिए प्रयोग किया है । तथाहि—

'कत्तातस्सुव ओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ।'९४।
' ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।'९५।
'जाण अत्ता दु अत्ताणं' ।।८३।।

—समयसार

इस प्रकार संभावना है कि 'संत शब्द का मूल रूप 'सत्त' या 'मत्त' ही रहा हो और जो यदा-कदा सकार के ऊपर बिन्दु ले बैठा हो या मकार का सकार हो गया हो—जैसा कि प्रायः लिपिकारों से हो जाता है । यह बात तो बिल्कुल ठीक है कि—'आचार्य अमृतचन्द जी की टीका देखते हुए 'अपदेस • ' पद का वही रूप होना चाहिए जो नियत और असंयुक्त विशेषणो की पुष्टि करता हो । 'सुत्त' शब्द भी विचारणीय है । कदाचित इसका सस्कृत रूप 'स्व' होता हो । क्योकि 'स्वत्व' का अर्थ स्व-पन—स्वरूप आत्मा मे होता है । मेरी दृष्टि मे अभी 'स्वत्व' की प्राकृत 'सुत्त' देखने में नही आई । विद्वज्जन विचारें ।

एक बात और आचार्य कुन्दकुन्द की यह परिपाटी भी रही है कि वे एक ही गाथा को यदा-कदा अल्प परिवर्तनों के साथ दुहरा देते रहे हैं—गाथा मे कुछ ही शब्द परिवर्तन करते रहे हैं । यहाँ भी यही बात हुई है—उदाहरणार्थ—जैसे—

'रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमतो रायाई बंधदि पुणो वि ।।२८१।।'
'रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमतो रायाई बंधदे चेदा ।।२८२।।'
'पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ।।२९७।।'
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अह तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ।।२९८।।'
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहंतु णिच्छयदो ।

(शेष पृष्ठ ८ पर)

ज्ञानानंद श्रावकाचार : एक परिचय

□ पं० बंशीधर शास्त्री, जयपुर

राजस्थान के कुछ मंदिरो में ढूंढारी में गद्य में लिखित समाधिमरण की प्रतियां मिलती हैं जिन पर लेखक का नाम या परिचय नहीं मिलता है। चौमूं में इस समाधिमरण का वाचन दशलक्षण के दिनों में किया जाता था। मुझे इसकी भाषा, शैली व भाव बहुत ही रुचिकर लगे। मैंने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया था। कुछ वर्षों पूर्व ज्ञात हुआ कि यह समाधिमरण 'ज्ञानानंद श्रावकाचार' का अंश है। तत्पश्चात् मैंने इस श्रावकाचार को पढ़ा। आज से ५१ वर्ष पूर्व श्री ईश्वरलाल किसनदास कापड़िया सूरत ने इसे मुद्रित किया था इसका दूसरा संस्करण देखने में नहीं आया।

इसके लेखक पं० रायमल्ल जी है जो पंडित प्रवर टोडरमलजी के समकालीन ही नही अपितु उनके प्रेरक भी थे जैसा कि स्वयं पडित टोडरमल जी ने लिखा है—

रायमल साधर्मी एक, धर्म सधैया सहित विवेक। सो नानाविध प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो।

पंडित दौलतराम जी ने पद्मपुराण की प्रशस्ति मे इनके लिए इस प्रकार लिखा है :

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट मे स्वपर विवेक दयावंत गुणवान सुजान, पर उपगारी परम निधान। दौलतराम सुताको मित्र, तासो भाष्यों वचन पवित्र, पद्मपुराण महाशुभ ग्रंथ, तामे लोक शिखर को पन्थ। भाषारूप होय जो यह बहुजन वाचै करै प्रति नेह, ताके वचन हिए मे धार, भाषा कीनी मति अनुसार।

पंडित दौलतराम जी ने हरिवंश पुराण में भी रचना के लिए प्रेरक के रूप में श्री रायमल्ल जी के लिए लिखा है।

पं० रायमल्ल जी यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहे और सदा धर्म प्रचार शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्व चर्चा, चिंतन-मनन मे लीन रहने वाले थे। वे अन्य विद्वानों को शास्त्र रचना की प्रेरणा देते रहते थे। उनकी प्रेरणा से गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार त्रिलोकसार, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण आदि महान ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ लिखी गई। उन्होंने स्वयं भी दो ग्रंथ लिखे, ज्ञानानन्द श्रावकाचार एवं चर्चा साराश। प्रथम ग्रंथ एक बार प्रकाशित हो चुका है जबकि दूसरा अभी भी अप्रकाशित ही है।

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९९॥'
—समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)

उक्त सदर्भ से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आचार्य ने आत्मानुभूति और जिनशासनानुभूति मे अभेद दर्शाने के लिए १४वी गाथा को थोड़े फेर बदल के साथ १५वी गाथा मे भी आत्मा के वे सभी विशेषण दुहराए है जो कि गाथा १४वी मे है।

इसे 'संत' शब्द मानकर, उसका शान्त अर्थ करना उचित नही जंचता। यत: जिस आत्मस्वरूप की यहाँ चर्चा है वह शान्त और अशान्त दोनो ही अवस्थाओं से रहित—परमपारणामिक भाव रूप है।

इसी प्रकार अपदेश शब्द का अप्रदेशी अर्थ भी आगम विरुद्ध है यत: आत्मा निश्चय से असंख्यातप्रदेशी व्यवहार से शरीर प्रमाणरूप असख्यात प्रदेशी है। शरीरजमाणरूप असंख्यात:।

उक्त सभी विचारों मे मेरा आग्रह नही पाठक विचारें। जो युक्ति-युक्त हो उसे ही ग्रहण करें।

'मज्झ' का अर्थ मध्य होता हो ऐसा ही नही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग 'मेरा' अर्थ मे भी किया है। प्रसंग मे 'मेरा' अर्थ से भी पूर्ण संगति बैठ जाती है। 'मेरा' अर्थ मे आचार्य के प्रयोग—

'होहिदि पुणो वि मज्झ'—२१
'ज भणसि मज्झमिण'—२४
'मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं'—२५ —समयसार

□

इस प्रथम ग्रंथ की ख्याति पहले पं० टोडरमलजी द्वारा रचित के रूप मे भी रही है। कई हस्तलिखित प्रतियों में लेखक के रूप में पंडित टोडरमल जी का नाम रहा है इसलिए ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है; किन्तु इसकी भाषा एवं शैली पंडित टोडरमल जी जैसी नहीं है। अतः पं० मिलापचंदजी कटारिया ने जैन सन्देश के शोधांक ८-७-६० में सिद्ध किया है कि पंडित टोडरमलजी कृत कोई श्रावकाचार नहीं है, फिर भी यह जरूर है कि, ज्ञानानंद श्रावकाचार शब्दशः टोडरमलजी कृत न होने पर भी अर्थशः उनका माना जा सकता है क्योंकि प० रायमल्ल जी दोनों धार्मिक और साहित्यिक कार्यों मे परस्पर एक-दूसरे के साथी थे।

२९२ पृष्ठ के प्रकाशित ग्रंथ में इसका नाम 'ज्ञानानद श्रावकाचार' दिया गया है जबकि लेखक ने इसके मंगलाचरण के बाद इसका पूरा नाम इस प्रकार लिखा है—'ज्ञानानन्द पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार।' लोक मे इस बडे नाम के बजाय ज्ञानानंद श्रावकाचार' नाम ही अधिक प्रचलित है। पद्य श्लोक मे अनेक श्रावकाचार मिलते हैं किन्तु गद्य मे यह पहला श्रावकाचार देखने मे आया है। लेखक अपने बाल्यकाल से ही विद्वानों के साथ चर्चा-वार्ता एवं स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानार्जन करते रहे है। उन्होने उसी ज्ञान और अनुभव का इस ग्रंथ की रचना मे उपयोग किया है, वे इस रचना मे भी अपने अनुभव ही का वर्णन करते हैं। इसीलिए उन्होने ९ दोहो मे मंगलाचरण कर प्रथम वाक्य इस प्रकार लिखा है, "इस प्रकार मंगलाचरण पूर्वक अपने इष्टदेव को नमस्कार कर ज्ञानानन्द पूरित निजरस नाम शास्त्र ताका अनुभव करूंगा।"

इन्होंने पंडित टोडरमलजी की तरह विभिन्न प्रश्न स्वयं उठाकर पाठकों के लिए उनका समाधान भी किया है। उन्होने प्राचीन मान्य श्रावकाचारो एव आगम ग्रन्थों का रहस्य साधारण पाठको के लिए प्रस्तुत कर वीतराग धर्म प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

इस ग्रन्थ मे श्रावकाचारो की मान्य परम्परा के अनुसार अष्ट मूलगुण, ग्यारह प्रतिमाओं, बारह व्रतों, सप्त व्यसन त्याग का पूर्ण विवरण सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसमें मंगलाचरण के रूप में पंच परमेष्ठी का स्वरूप भी प्रकाशित ग्रंथ के २६ पृष्ठों में दिया गया है। वस्तुतः पंच परमेष्ठी के सच्चे स्वरूप की श्रद्धा व समझ करने वाला ही अपना कल्याण कर सकता है। ऐसा व्यक्ति कुदेव, कुगुरु की श्रद्धा रूप गृहीत मिथ्यात्व में नहीं फंसेगा यह तो निश्चित है उन्होने भगवान के उपदेश का इस प्रकार वर्णन किया है :—

'रे भव्य जीवो! कुदेवों को पूजने से अनंत संसार में भ्रमण करोगे और नरकादिक के दुःख भोगोगे और इनको (सुदेव को) पूजोगे तो स्वर्गादिक के मंद क्लेश सहोगे निज स्वरूप की आराधना करोगे तो नियम करि मोक्ष सुख को पावोगे।"

पाठक देखेंगे कि लेखक ने स्वर्गादिक के सुख को सुख न बताकर मंद क्लेश ही बताया है और मोक्ष सुख को ही सुख कहा है जो लोग सासारिक सुखों के आकर्षण में पडकर कुदेवादि की भक्ति मे या अन्य देवों की भक्ति मे ही लीन रह कर सन्तोष करते है वे वास्तविक सुख नही पाते। लेखक ने भक्ति व्रतादि में भी निज स्वरूप एवं वीतरागता की महिमा को ही मुख्यता दी है। वस्तुतः प्रत्येक सम्यग्दृष्टि अपने गुणस्थानानुसार सच्चेदेव, शास्त्र गुरु की भक्ति एव व्रतादि का पालन करता है किन्तु उसका मूल लक्ष्य निज स्वरूप की प्राप्ति ही है। इसमे श्रावकाचारों के पारंपरिक वर्णनों-अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन त्याग, बारह व्रत एव ग्यारह प्रतिमा आदि के सिवा अन्य उपयोगी, विवेकपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है जो अन्य श्रावकाचारों में सुलभ नहीं है किन्तु उसका ज्ञान श्रावक के आचरणों में सुधार के लिए आवश्यक है।

इसमे जहा रात्रि भोजन का स्वरूप व दोष बताया गया है वहाँ रात मे चूल्हा भी जलाने के दोष बताये गये है। इसमे अनछने पानी को प्रयोग मे लेने के दोष भी बताए गए हैं। सप्त व्यसनो मे प्रमुख व्यसन जुआ के विशेष दोषों का वर्णन किया गया है। रसोई करने की सावधानीपूर्ण विधि भी बताई गई है ताकि कम-से कम हिंसा हो; इसमे निम्न व्यवसायो एव क्रियाओ मे असावधानी या सहज होने वाले दोषो का विवेचन किया गया है ताकि श्रावक इन दोषों से बचें :—

लेती, कपड़े धोने व रखने में दोष, हलवाई का भोजन करने में दोष, कांजी, आचार, जलेबी, शहद खाने व अन्य व्यक्तियों के साथ शामिल जीमने मे दोष, रजस्वला स्त्री के साहचर्य आदि मे दोष।

इसमे दूध, घी, छाछ व घृत को किस प्रकार मर्यादित रूप मे रखना चाहिए इसका भी वर्णन है। इन्होने दूध की मर्या। दो घड़ी बताई है, दूध निकालने के दो घड़ी भीतर पी लेना चाहिए या गरम कर लेना चाहिए, नही तो उसमे त्रसकाय के जीवो की उत्पत्ति होना लिखी है। इसी प्रकार दही का उपयोग आठ प्रहरमे कर लेना चाहिए। आहार के विभिन्न पदार्थों के उपयोग की अवधि के सबध में उल्लेख अठारहवी शताब्दि के अन्य दो क्रियाकोषो मे भी मिलते है, इनका प्राचीन आधार क्या रहा है यह देखने मे नही आया फिर भी इन मर्यादाओं को सत्यता आज वैज्ञानिक परीक्षणो से सिद्ध की जा सकती है। अनछने पानी, रात्रि मे भोजन या मर्यादा काल के बाद के भोजनो के वैज्ञानिक परीक्षण कर सिद्ध करना आवश्यक है कि इनमे क्या-क्यादोष हैं। आज मेलों, मदिरो के नाम पर ऐसे स्थान पर भी लाखो रुपए खर्च किए जाते है जहाँ इनकी कतई आवश्यकता नही है। यदि यही रुपया इन वैज्ञानिक परीक्षणो मे लगाया जाय तो जैन धर्म की सच्ची प्रभावना होगी एव इससे समस्त विश्व को जैन आहार चर्या की वैज्ञानिकता ज्ञात होगी। हमारी अखिल भारतीय संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए। भारतीय एव विदेशी वैज्ञानिकों का ध्यान भी इस सम्बन्ध मे आकर्षित करना चाहिए। साहित्य के शोध के साथ-साथ जैन आहार चर्या की वैज्ञानिकता सिद्ध किए जाने की आवश्यकता हम भुला नही सकते।

जैन मंदिरों मे अज्ञान व कषाय के कारण होने वाले ८४ आसातना के दोषों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इससे लगता है कि लोग उनके काल मे मंदिरों का दुरुपयोग करने लगे थे और उनको वैयक्तिक निवास के रूप मे मानने लगे थे। इसलिए वहां रहने, सोने व अन्य कार्यों के करने का पूर्ण निषेध किया गया। इसमें कुलिगो, श्वेताबर, भट्टारको आदि के मत व चर्चा बता कर उनकी शास्त्र विरुद्धता सिद्ध की गई है।

पडित प्रवर टोडरमलजी द्वारा जैन शास्त्रो के सिद्धांतो के प्रचार से भट्टारक परम्परा को स्वत. जबरदस्त धक्का लगा किन्तु यह भट्टारक परम्परा क्या थी और क्यो बुरी थी इसका विस्तृत वर्णन प० टोडरमलजी के ग्रंथों मे भी नही मिलता। पं० टोडरमलजी के ही प्रेरक पं० रायमलजी ने अपने इस ग्रथ मे भट्टारको की शास्त्र विरुद्ध चर्चाओं का यथावसर विस्तृत वर्णन किया है इसमे हमें उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी मिलती है।

भट्टारकों एव उनके आश्रित 'पाण्डे' लोगो की रचनाओं में भट्टारक का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। उन्हें आचार्यों उपाध्यायों, मुनियों का प्रमुख आध्यात्मिक मण्डलाचार्य, पूर्ण सयमी साधु, महाव्रती आदि आदि बताया गया है। संभवत: उस समय उनसे प्रभावित व आश्रित लोग उन्हे उसी रूप मे मानते भी हों, किन्तु जैनागम के शास्त्रीय आधार पर वे साधु तो दूर क्षुल्लक ऐलक भी नही ठहरते। उनके आचरणों के आधार पर तो उन्हें सच्चा श्रावक कहने मे भी संकोच होगा। आज के इतिहासकार को इन अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनो का उल्लेख करने के साथ इनकी शास्त्रीय स्थिति का उल्लेख अवश्य करना चाहिए ताकि पाठक को सही जानकारी मिले अन्यथा इनके मात्र अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनो एव विशेषणों के उल्लेख मे दिगम्बर साधु चर्या के सम्बन्ध मे लोगों की गलत धारणा होगी। इस प्रसग मे 'वीर शासन के प्रभावक आचार्य' शीर्षक पुस्तक उल्लेखनीय है जिसके वर्णनो के अनुसार भट्टारक को पूर्णतः सयमी (पृष्ठ ११७) महाव्रतियो के नायक (पृष्ठ ११८) साधु (पृ० १२०) बताया गया है। कुंदकुद उमास्वामी, समंतभद्र, अकलकादि महान आचार्यों की कोटि मे ही रखकर इनका वर्णन किया गया है। भट्टारक के परिग्रह आदि का कोई उल्लेख नही किया गया है। इससे भविष्य मे भट्टारक दिगम्बर साधु ही समझे जायेगे।

इस ग्रथ के भट्टारको सम्बन्धी कुछ उद्धरण आधुनिक हिन्दी मे परिवर्तित कर पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत किए जाते है :—

सत्पुरुष जिनधर्म की आराधना द्वारा एक मोक्ष को ही चाहते हैं। वे स्वर्गादि भी नहीं चाहते तब उससे

आजीविका की क्या बात ? सो हाय ! हाय ! हुंडाव-सर्पणी काल के दोष से पचम काल मे कैसी विपरीतता फैली है ? काल या दुष्काल मे कोई गरीब लड़का भूखे मरने की स्थिति आने पर चार रुपये में नौकर रखा जाता है; फिर भी वह दास की तरह निर्माल्य खाकर बड़ा हुआ। उसने जिन मंदिर मे ही रहने का घर किया और उसके शुद्ध देव गुरु धर्म के विनय का प्रभाव हुआ और वह कुगुरादि सेवन का अधिकारी हुआ, उसने ऐसा औरों को उपदेश भी दिया। (जयपुर के एक मदिर मे ऐसे पत्र मिले है जिनमे किसी पाण्डे द्वारा किसी के लडके को खरीदने का विवरण है) अंधे जीव उसी का आश्रय लेकर धर्म साधना चाहते है। वह अपने को पुजाकर महत मानन लगा और वह स्वय अपने मुख से कहता है कि हम भट्टारक दिगम्बर गुरु हैं, हमे पूजो नही पूजोगे तो दण्ड देंगे और हम तुम्हारे सिर पर भूखे रहेंगे।···वह स्त्री को साथ लिए फिरते हैं। वस्तुतः भट्टारक नाम तो तीर्थंकर केवली का है। जितना-जितना परिग्रह कम हो उतना-उतना संयम बढता जाय। जबकि वह हजारो रुपए की सम्पदा, चढने के लिए हाथी, घोडा, रथ पालकी, नौकर-चाकर रखता है, मोती कड़ा पहनता है मानो वह नरक लक्ष्मी के पाणिग्रहण की तैयारी करता है। वह चेला आदि की फौज रखता है वह ऐसी विभूति रखता हुआ राजा के सदृश्य बन कर रहता है, फिर भी अपने आपको दिगम्बर (नग्न) मानता है। सो हे दिगम्बर, हम कैसे उसे दिगम्बर जानें ? वह एक दिगम्बर नही है, वह तो मानो हुंडासर्पनी की पंचम् काल के विधाता द्वारा घड़ी हुई मूर्ति है या मानो सात व्यसनो की मूर्ति ही है या मानों पाप का पहाड़ ही है या मानो जगत को डुबोने के लिए पत्थर की नाव है। कलिकाल के ये गुरु प्रतिदिन आहार ग्रहण करने को नग्नता अपनाते है और स्त्री के लक्षण देखने के बहाने उनका स्पर्श करते है। वे स्त्री के मुख कमल को भ्रमर की तरह देखकर मग्न होते है एव अपने आपको कृत्य-कृत्य हुआ मानते हैं, सो यह बात न्याय ही है – नित्य इन्हे नाना प्रकार का गरिष्ठ भोजन मिले और नित्य नई स्त्री मिले उनके सुख का क्या कहना ? ऐसा सुख राजा को भी दुर्लभ होता है सो ऐसा सुख पाकर कौन पुरुष मग्न नहीं हो। पृ० (६४-६७) भट्टारकों की ऐसी स्थिति होते हुए भी उनकी प्रशंसा के गीत कहीं-कहीं सुनने को मिलते थे उसके सम्बन्ध में इस ग्रथ मे निम्न पंक्तियां मिलती है :

उनकी (भट्टारको की) श्रावक प्रशंसा करते है कि आप हमारे सतगुरु हैं और भट्टारक उन्हें 'पुण्यात्मा श्रावक' बताते है। इस कथन पर 'ऊँट का ब्याह और गधे गीत गाने वाला' दृष्टात लागू होता है। गधे गीत गाते हैं कि वर का स्वरूप कामदेव जैसा है और ऊँट कहता है कि गधे किन्नर जाति के देवों के मधुर कंठ के जैसा राग गाते हैं इस प्रकार इन श्रावक और उनके गुरुओं की शोभा जाननी (पृष्ठ ६८) इसमे ज्ञात होता है कि भट्टारकों के अतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों की सत्यता स्वीकार करने में कितनी सावधानी की आवश्यकता है।

ग्रंथ मे अन्यत्र भट्टारको को कुलिंगी बताते हुए लिखा गया है —"कुलिंगी मंदिर को अपने घर की तरह बनाकर गादी तकिये लगाकर ऊँची चौकी पर बैठकर बड़े महत पुरुषों की तरह अपने आपको पुजाते हैं, इसका फल उन्हे कैसे मिलेगा यह हम नही जानते।" वे गृहस्थों को जबरदस्ती बुलाकर आहार लेते है। (पृ० ६६) वे उनसे आहार और भेंट स्वरूप भँवर-नगदी लेते थे।

भट्टारकों की इन व अन्य शास्त्र विरुद्ध चर्याओ को देखकर धर्मात्माओ की प्रतिक्रिया का उल्लेख ग्रथ मे इस प्रकार किया गया है:—"अब क्या करना ? केवली श्रुतकेवली का तो अभाव हो गया और गृहस्थाचार्य पहले ही भ्रष्ट हो गए थे अब राजा और मुनि भी (भट्टारक उस समय अपने आपको मुनि रूप मे ही पुजते थे) भ्रष्ट हो गए सो अब धर्म किसके आश्रय रहे ? अब चूंकि अपने को धर्म रखना है सो अब औरों की स्वय ही पूजा करो और स्वय ही शास्त्र पढ़ो और कुबधियों को जिन मंदिर मे बाहर निकाल दो। वे भगवान का बहुत अविनय करते हैं, अपने आपको पुजाते है और मंदिर को घर सदृश बना लिया। पृ० १११ (उस समय जिन पूजा, शास्त्र पढने का अधिकार भी भट्टारको के आदमियो तक था जिसका वे रुपए पैसे लेते थे)।

अब रक्षक और धर्मोपदेशक, धर्मगुरु ही भ्रष्ट हो

जाय तो आत्म कल्याण का मार्ग यही है कि स्वयं शास्त्र पढ़ो और उसके अनुसार चलो। इसमें तेरापंथी की भी यह परिभाषा दी है— हे भगवान हो थाका वचना के अनुसार चला तातै तेरापंथी हों, तो सिवाय और कुदेवादिक को हम नाहीं सेवे है।

भट्टारको का यह ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक वर्णन हमें सावधान करने के लिए पर्याप्त है। परिग्रहधारी साधु रूप में पूजा जावे यह दिगम्बर जैन परम्परा में मान्य नहीं हो सकता फिर भी लोगो के अज्ञानवश ऐसे व्यक्ति साधु माने जाते है। किन्तु आश्चर्य और दुःख साथ ही करुणा तब होती है जब शास्त्रों के जानकार भी परिग्रही सवस्त्र भट्टारकों का समर्थन करते हैं। ऐसी स्थिति मे लेखक का यह मत ही कल्याणकारी है कि स्वय शास्त्र पढ़ो, स्वय पूजा करो। कुछ लोग यह कह सकते है कि यह वर्णन भट्टारकों के विरोधियों द्वारा लिखा गया है इसलिए प्रामाणिक नही माना जा सकता, किन्तु यह वर्णन अन्य प्रामाणिक व प्रत्यक्ष साधनो से भी सही सिद्ध होता है। भट्टारक पंच महाव्रत लेकर परिग्रह रखते है, वस्त्रादि रखते है, नग्न भी कभी-कभी होते है, आहार के साथ भेंट आदि लेते हैं, मंत्र-तन्त्र के द्वारा लोगो को आकर्षित करते हैं।

इस ग्रन्थ में श्रावको के तत्त्व चिंतन के लिए सोलह कारण भावना, दश लक्षण, रत्नत्रय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ बारह अनुप्रेक्षा, बारह तप, बारह संयम, सामयिक आदि का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। श्रावक के अन्तिम कर्म—समाधिमरण का इतना भावात्मक विवेचन किया गया है कि उसका स्वाध्याय प्रेमियो मे स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता रहा जैसा कि मैंने प्रारम्भ म उल्लेख किया है।

श्री जिनदर्शन-स्तुति का फल स्वर्ग बताते हुए स्वर्ग का वर्णन किया गया है। और समाधिमरण का वर्णन कर मोक्ष सुख का वर्णन किया गया है। श्रावक कुगुरु-कुदेव से बचे इसलिए उसका स्वरूप भी बताया गया है।

ग्रन्थ के 'समाधिमरण' मे प्रयुक्त समाधिमरण करने वाले की विचारधारा लेखक के 'शास्त्रीय चिंतन' की महत्ता सिद्ध करती है, वह विचारधारा एव परिवार वालों को उद्बोधन आज भी प्रत्येक पाठक क को प्रेरणा देता हुआ वैराग्य की ओर अग्रसर करता है। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे इस 'श्रावकाचार' को पूरा न पढ सकें तो इसके समाधिमरण अंश को अवश्य पढ़ें। इसके कुछ भावपूर्ण उद्धरण यहाँ देना आवश्यक समझता हूं ताकि पाठकों को लेखक के ज्ञान एव वैराग्य तथा आत्मानुभव का सही बोध हो—

"तीन लोक मे जितने पदार्थ हैं वे सब अपने स्वभाव-रूप परिणमन करते हैं। कोई किसी का कर्त्ता नहीं कोई किसी का भोक्ता नही। स्वय ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है, स्वय ही मिलता है, स्वयं ही बिछुड़ता है, स्वयं ही गलता है तो मैं इस शरीर का कर्त्ता और भोक्ता कैसे?"

मैं ज्ञायक स्वभाव ही का कर्ता और भोक्ता हूं और उसी का वेदन एवं अनुभव करता हूं। इस शरीर के जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नही और इसके रहने से कुछ सुधार नही। यह तो प्रत्यक्ष ही काष्ठ या पाषाण की तरह अचेतन द्रव्य है।"

"काल (मृत्यु) भी दौड-दौड़ कर शरीर ही को पकड़ता है और मेरे से दूर भागता है।"

"अब मेरा मोह कर्म नष्ट हो गया इसलिए जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा ही मुझे दृष्टिगोचर होता है। उसमे जन्म-मरण, सुख-दुःख दिखाई नही देते। अब मैं किस बात का सोच-विचार करूँ?"

'मैं तो चैतन्य शक्ति वाला शाश्वत बना रहने वाला हूँ उसका अवलोकन करते हुए दुःख का अनुभव कैसे हो?"

"अब मेरे यथार्थ ज्ञान का भाव हुआ है, मुझे स्व-पर का विवेक हो गया है। अब मुझे ठगने मे कौन समर्थ है?"

'मैं सिद्ध समान आत्मा द्रव्य मे पर्याय मे" नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी को नही भूलता हूं तब मैं लोक मे किसका भय करू?"

"शरीर जड़ और आत्मा चैतन्य—ऊट-बैल का सा इन दोनों का संयोग कैसे बने?"

"समाधिमरण करने वाला कुटुम्बियों से कहता है— आप हमसे किसी बात का राग न करें। आपके और

(शेष पृष्ठ १५ पर)

जैन तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में ही क्यों ?

☐ श्री गणेशप्रसाद जैन

यह आज का नहीं, एक प्राचीन प्रश्न है कि जैन-तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय-कुलों मे ही क्यों होता है ? जब इस कल्पना के समर्थन में श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों मे भगवान महावीर के गर्भ परिवर्तन की कथा प्रस्तुत की जाती है, तब यह और भी विस्मयपूर्ण-जिज्ञासा तर्क रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु दिगम्बर परम्परा इस मान्यता को पूर्णरूपेण अस्वीकार करती है, इससे यह और भी विचारणीय विषय बन गया है।

कहा जाता है कि भगवान महावीर के गर्भ-परिवर्तन की कथा श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध (अ० २ श्लोक १-१३, तथा अ० २ श्लोक ४६ ५०) के श्रीकृष्ण की कथा से पूर्ण प्रभावित है। भक्तिकाल मे अपने आराध्यों की चमत्कारपूर्ण कथाओं का प्रचार कर उन पर जन-श्रद्धा प्रोत्साहित करने का युग था। इसके लिए विविध ढंग अपनाए गये।

सक्षेप मे कथासार इस प्रकार से है—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वैशाली गणतन्त्र के उपनगर ब्राह्मण-कुण्ड के वृषभदत्त नाम के ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ मे नन्दन मुनि का जीव (महावीर का जीव) दसवें देवलोक से च्युत होकर आया। इसी रात्रि को पिछले प्रहर मे ब्राह्मणी देवानन्दा ने भावी तीर्थंकर की माता के सूचक चौदह (१४) स्वप्न देखे। यह गर्भ ८३ (तेरासी) दिनों तक ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ मे वृद्धि पाता रहा।

जब इन्द्र का सिंहासन कम्पित हुआ, तब उसने विचारा कि मेरे सिंहासन के कम्पित होने का कारण क्या होना चाहिए ? उसे ज्ञात हुआ कि भावी तीर्थंकर महावीर का जीव जिसे क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेना चाहिए था, वह वैशाली के उपनगर ब्राह्मणकुण्ड के ब्राह्मण वृषभदत्त की पत्नी देवानन्दा के गर्भ म स्थित हो पोषण पा रहा है। तब उसने महावीर के उस भ्रूण को क्षत्रियकुण्ड के शासक सिद्धार्थ की पत्नी क्षत्राणी त्रिशला देवी के गर्भ मे परिवर्तित कराने का निर्णय किया।

तीर्थंकर का जन्म क्षत्रिय-कुल के अतिरिक्त अन्यत्र और कही तो हो नही सकता, इसी नियम की पूर्ति के लिए इन्द्र ने अपने सेनापति नैगमेष देव को महावीर के भ्रूण को परिवर्तित करने का भार सौंपा। नैगमेष ने क्षत्रिय-कुण्ड मे त्रिशला देवी की कन्या के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ मे और देवानन्दा के गर्भ में स्थित भावी तीर्थंकर महावीर के भ्रूण को त्रिशला रानी के गर्भ मे परिवर्तित कर दिया। गर्भ-परिवर्तन-काल मे दोनो माताओं को नैगमेष न मोह-निद्रा मे सुला दिया था। इस कारण दोनो मे से किसी को भी आभास तक नही हुआ।

श्वेताम्बर-आम्नाय के प्रमुख ग्रन्थ कल्पसूत्र की सुबोधिनी-टीका मे उल्लिखित है कि 'महावीर का जीव' जब प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभनाथ का पौत्र और चक्रवर्ती भरत का पुत्र मारीच था, तब उसने कुल का गर्व करके नीच गोत्र का बन्ध कर लिया था, अतः उसके प्रतिफल स्वरूप उसे ब्राह्मणी के गर्भ मे ८२ दिन भ्रूण रूप मे निवास करना पड़ा।

स्वामी कर्मानन्द ने लिखा है कि "इतिहास के पर्यावलोचन से ज्ञात होता है कि पूर्व काल में आत्मविद्या केवल मात्र क्षत्रियों के पास ही थी। ब्राह्मण जन इससे नितान्त अनभिज्ञ रहे। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार कर इस विद्या को प्राप्त किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् ११-१३) में वर्णित है कि "महाराजा जनक का प्रताप इस विद्या के कारण इतना फैला कि काशीराज अजातशत्रु ने निराश होकर कहा था कि सचमुच ही सब लोग यह कह कर भाग जाते है कि हमारा रक्षक महाराजा जनक ही है। काशीराज अजातशत्रु स्वयं भी अध्यात्म विद्या के महान् आचार्य थे। वह आत्मतत्त्ववेत्ता थे।

शतपथब्राह्मण में लिखित है कि महाराजा जनक की भेंट तीन उद्‌भट विद्वान ब्राह्मणो से हुई। महाराजा जनक ने उनसे 'अग्निहोत्र' विषय के प्रश्न किये जिसका उत्तर वे न दे सके। महाराजा जनक ने जब उनके उत्तरो की भूल उन्हें समझाई, तब वे कोधित होकर कहने लगे कि जनक ने हम सबको अपमानित किया है। महाराजा जनक सभा से चले गये उनमे से एक याज्ञवल्क्य नाम का विद्वान् (ब्राह्मण) महाराजा जनक के गुणों (विद्वत्ता) को पहिचान गया, और वह उनके पीछे पीछेगया। मार्ग मे महाराज जनक से अनुनय-विनय कर उनमे अपनी शंकाओ का समाधान किया।

'याज्ञवल्क्य' ने महाराजा जनक को यह कह कर कि जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण से महाराजा जनक ब्राह्मण है इसका प्रचार और प्रसार किया विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय ऋषि मान्य हो गए थे, उसी प्रकार महाराजा जनक भी ब्रह्म-विद्याविशारद ब्राह्मण के विरुद से प्रख्यात हो गये। यही याज्ञवल्क्य यजुर्वेद के सकलनकर्ता है।

छन्दोग्योपनिषद् (५.३) में वर्णित है कि श्वेतकेतु 'आरुणि' (आरुणेय) पंचालो की एक सभा मे गया, वहाँ क्षत्रिय प्रवाहन जयवली ने उससेकुछ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नो में से एक का भी उत्तर वह न दे पाया। वह उदास मन अपने पिता के पास लौटा, और ऋषि पिता से उन किये प्रश्नों का उत्तर मांगा। पिता गौतम भी प्रश्न के उत्तर से अनभिज्ञ थे, अतएव वह पुत्र सहित जयवली के समक्ष गये और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर उस आत्मविद्या को प्राप्त कर लिया।

उस समय जयवली ने ब्राह्मण गौतम और श्वेतकेतु अरुणेय को इतना संकेत अवश्य दिया था कि आज यह क्षत्रियों की इस निधि अध्यात्म (आत्म) विद्या को आप ब्राह्मण जन हमसे प्राप्त कर रहे हैं!

छन्दोग्योपनिषद् (५.२) और शतपथ ब्राह्मण (१०.६-१) मे लिखा है कि पाँच देवज्ञ ब्राह्मणो ने इस जिज्ञासा के साथ कि 'आत्मा क्या है?' उद्दालक आरुणी के चरणों में पाणिपात किया। परन्तु आरुणि स्वयं ही आत्मा के विषय मे संशययुक्त थे, अतः उन्होने उन पाँचो देवज्ञों के हाथ में समिधा थमाकर उन्हें साथ लेकर कैकेय-राज (अश्वपति) के पास ले गये। कैकेयराज ने उन्हे शिष्यवत देख कर आत्मज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ बतला दी और उपदेश देकर उनकी शकाओं का निवारण कर दिया।

कौषितकी उपनिषद् की कथानुसार चित्रगगायिनी-राजा के पास दो ब्राह्मण समितपाणि गये और उन्होने उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया। उसी उपनिषद् मे कथित है कि भारतवर्ष के माने हुए विद्वान् गार्ग्यबालाकी और काशीराज अजातशत्रु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। किन्तु पराजित बालाकी ने काशीराज का शिष्यत्व स्वीकार किया और काशीराज ने उसे उसी प्रकार से आत्म-विद्या का रहस्य बतला दिया।

इसी राजा अजातशत्रु (काशीराज) के पुत्र थे भद्रसेन। हो सकता है कि यही भद्रसेन २३वें जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के पिता हो। जैन शास्त्रों म इनका नाम अश्वसेन मिलता है। शतपथ (५.५.५) के अनुसार इन्ही राजा भद्रसेन पर आरुणी ऋषि ने अभिचार कर्म किया था।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण बहुल-ग्रन्थों से ऐसे उदाहरण दिए जा सकते है कि 'आत्मविद्या' के पारंगत क्षत्रिय जन ही थे, ब्राह्मण नही। ब्राह्मणों का धर्म क्रिया-काण्ड वाला यज्ञ ज्ञान का था। उपनिषद् शास्त्र अवश्य ही अध्यात्म विद्या से सम्बन्धित है। उनमे स्थान-स्थान पर यज्ञादि क्रिया-काण्ड का विरोध किया गया है। लिखा है—'प्लवा एते अदृष्टा यज्ञरूपा' (मुण्डकोपनिषद्)। अर्थात् यज्ञ रूपी क्रियाकाण्ड उस जीर्ण नौका के समान है जिस पर चढ कर पार उतरने की इच्छा रखने वाला जीव अवश्य डूब जाता है।

इतिहासकार आर० सी० दत्त की पुस्तक 'सभ्यता का इतिहास' मे लिखा है कि अवश्यमेव क्षत्रियों ने ही इस आत्मविद्या के उत्तम विचारों को प्रसारित किया। जहाँ अध्यात्म विद्या के विषय मे क्षत्रियों का महत्व था वहाँ पूर्व देश को ही यह गौरव प्राप्त था। पूर्व देश के क्षत्रिय राजा विदेह (जनक) एव काशीराज के अतिरिक्त मगध, पांचाल, कैकेय आदि के राजा भी आत्म-विद्या विशारद थे।

कैकेय पंजाब मे नहीं, नेपाल की तलहटी मे श्रावस्ती से उत्तर-पूरब (पूर्व) में स्थित था, इसकी राजधानी श्वेताम्बिका थी। ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व (अनुमानित) श्वेताम्बिका का शासक 'प्रदेशी श्रमणोपासक' (जिन धर्मी) था। सम्भवतः वर्तमान सीतामढ़ी ही श्वेताम्बिका है।

ऋग्वेद मे 'कुर्वन्ति कीकटेषु गांव' लिखकर मगध की निन्दा की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल मे मगध देश मे वैदिक क्रिया काण्डों का भारी विरोध होता था। जैन-तीर्थंकरों का जन्म तथा अन्य कल्याणक विशेषकर मोक्ष कल्याणक (२४ मे से २२ का) इसी प्रदेश बिहार के हजारीबाग जिले के सम्मेदशिखर-पर्वत (वर्तमान नाम पार्श्वनाथ पर्वत) पर हुआ है। कोटाकोटि मुनियो न इस भूमि पर मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार से पर्वत का कण-कण पवित्र और तीर्थ क्षेत्र है। जैनधर्मी श्रमणजन वैदिक यज्ञादि का कट्टर विरोध सदा करते रहे।

उपर्युक्त घटनाओ और तथ्यों से सिद्ध है कि भारतदेश निवासी क्षत्रिय जन ही आत्म धर्म विशारद थे और विशेषकर मगध के। इसलिए ब्राह्मणों ने मगध का सदा तिरस्कार किया और आज भी कर रहे हैं। कहते हैं 'मगध मरे सो गदहा होय' और इसी भय से रूढ़िवादी जन मरने से पूर्व वृद्धावस्था मे ही काशीवास के लिए मगध प्रदेश का त्याग कर देते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध है कि मगध प्रदेश 'आत्मधर्म' का प्रमुख स्थल था, वहाँ ब्राह्मणों के यज्ञयाग को सदा हेय माना गया, उसे अश्रद्धा से देखा गया। बारम्बार उनके प्रयत्न निष्फल रहे। अतएव उन्होने प्रदेश की बुराई की।

तीर्थंकर आध्यात्मविद्यानुरागी होते है। क्षत्रियों के यहाँ शिशुकाल मे उन्हे यह आत्मविद्या घुटी मे मिलती रही, इसीलिए वे क्षत्रियकुल मे ही उत्पन्न होते रहे।

□□

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

हमारे चार दिन का संयोग था, कोई तल्लीनता तो थी नहीं। जैसे सराय मे अलग-अलग स्थानों के राही दो रात ठहरें और फिर बिछुड़ते समय वे दुःखी हों इसमे कौन सयानापन है, इसी प्रकार हमे बिछुड़ते समय दुख नही है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त श्रावकाचार पंडित जी की महत्त्वपूर्ण एव ऐतिहासिक रचना है इसके अधिकाधिक प्रचार की आवश्यकता है। इसके नवीन संस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता है। पंडित जी के अन्य ग्रन्थ चर्चा-सग्रह ग्रन्थ का भी प्रकाशन होना चाहिए ताकि उसमें विभिन्न सैद्धांतिक प्रश्नों का उचित समाधान पाठकों को मिल सके। यह बात ठीक है कि इस युग मे लोगों ने समयसार के साथ मोक्षमार्ग प्रकाश से भी दिशाबोध पाया है, यही कारण है कि अनेक प्रबुद्धों न इन दोनो ग्रन्थों को घर-घर पहुंचाने मे नैमित्तिक योगदान दिया है। इन दिनों अनेक प्रमुख सस्थाएँ अध्यात्म प्रचार एव शिक्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई है। इन संस्थाओ की ओर से प० टोडरमल जी एवं उनके प्रेरक पं० राजमल जी, पं० जयचन्द जी जैसे विद्वानों के आध्यात्मिक एवं वैराग्यपूर्ण साहित्य को प्रकाश में लाने का भी प्रयास होना चाहिए।

११५२, चाणक्य मार्ग,
जयपुर (राजस्थान)

□

रामगुप्त और जैनधर्म शीर्षक लेख पर कुछ विचार

□ वेदप्रकाश गर्ग

'अनेकान्त' के 'साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक' में जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्राध्यापक डा० सोहनकृष्ण पुरोहित का 'रामगुप्त और जैन धर्म' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने रामगुप्त के कार्य को उचित ठहराते हुए उसे जैन धर्मानुकूल सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु लेखक का यह प्रयास अनौचित्य पूर्ण है। प्रतीत होता है कि उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों को ठीक प्रकार से नही समझा है।

इतिहास-साक्ष्यो से ज्ञात है कि शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। अपने इस कुकृत्य के कारण ही उसकी गुप्त राजवंशावली मे एक कुलकलंकतुल्य की स्थिति स्वीकृत है और विशाखदत्त ने अपने नाटक देवीचन्द्रगुप्तम्' मे इसीलिए उसे एक कायर के रूप मे चित्रित किया है। डा० पुरोहित ने उक्त ऐतिहासिक निष्कर्षों से असहमति व्यक्त करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की है कि रामगुप्त कायर नही था, अपितु एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश था। इसीलिए उसने हिंसा से बचने हेतु अर्थात् जैन धर्म के सिद्धान्तो की रक्षा-हेतु अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। लेखक का यह विचार जैनधर्म की भावना के विपरीत तथा हास्यास्पद है। उनकी ऐतिहासिक तथ्यो की यह व्याख्या गलत है।

यह सही है कि जैन धर्म मे अहिंसा को परमधर्म माना गया है, किन्तु अहिंसा का जो रूप लेखक ने ग्रहण किया है, उसके लिए जैनधर्म मे कोई स्थान नही है। अतः वह अग्राह्य है। यदि ऐसी ही बात थी तो रामगुप्त को पहले ही ससैन्य जाकर शत्रु का अवरोध करते हुए युद्ध नहीं करना चाहिए था, क्या इसमे हिंसा नही थी? जब हिंसा की इस स्थिति को ग्रहण किया जा सकता था तो क्या उस दशा में हिंसा का वरण नही किया जा सकता था जबकि पूरे साम्राज्य का सम्मान दांव पर लगा हुआ था। यदि उस समय वह शत्रु से युद्ध करते हुए आत्म-बलिदान के लिए तत्पर होता तो निश्चय ही इस कार्य से वह वीरता का पात्र होता और उसकी कीर्ति मे चार चाँद लगते। हलके से अवरोध के बाद घिर जाने पर रामगुप्त के सामने दो ही विकल्प थे। या तो वह शत्रु की अपमानपूर्ण शर्त को स्वीकार कर अपनी प्राण रक्षा करले या फिर युद्ध कर आत्मोत्सर्ग कर दे। रामगुप्त ने प्राणरक्षाहित शत्रु की शर्त के अनुसार अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया। इस प्रकार उसने प्रथम विकल्प को चुनकर कायरता का ही परिचय दिया।

कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति केवल हिंसा से बचने हेतु किसी अन्य को अपनी पत्नी देकर अपनी रक्षा नहीं करना चाहेगा। प्रतीत होता है कि लेखक महोदय ने जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझा ही नही है। इसीलिए तो उन्होंने रामगुप्त की कायरता की जैन धर्म के सिद्धान्तों की आड़ मे गलत वकालत की है। जैनधर्म के किसी भी सिद्धान्त से रामगुप्त के कार्य का अनुमोदन नहीं होता।

अहिंसा एक विशिष्ट आचरण है। अहिंसा का अर्थ कायरता नही है। कायरता तथा उचित हिंसा मे विकल्प होने पर व्यक्ति को उचित हिंसा का अनुसरण करना चाहिए। अन्याय के विरुद्ध उचित हिंसा कायरता से उत्तम है। यह एक प्रकार से हिंसा का ही रूप है। जैन धर्मानुसार तो अहिंसा वीरो का आभूषण है। इसमे कायरता को स्थान नही है। यह वीर-कृत्य है। इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता, जहाँ किसी जैन धर्मावलम्बी राजा ने अपने धर्म के सिद्धान्तों की रक्षार्थ इस प्रकार का कदाचरण किया हो। ऐसे सभी राजाओ ने जैन धर्मानुयायी होकर अहिंसा का समुचित रीति से पालन करते हुए भी अपने देश, धर्म एवं स्वाभिमान आदि की रक्षा की।

जैसा प्राप्त जैन प्रतिमा लेखों से प्रकट है कि रामगुप्त का झुकाव जैनधर्म की ओर रहा सम्भव प्रतीत होता है किन्तु इसका आशय यह नही है कि जैन धर्मावलम्बी होने मात्र से उसकी कायरता पर पर्दा पड़ जायेगा और उसका कदाचरण उचित मान लिया जायेगा। ऐसा विचारना तो जैन धर्म के सिद्धान्तों का मखौल बनाना है।

मेरे विचारानुसार डा० पुरोहित का ऐसा सोचना अनुचित है। रामगुप्त का निकृष्ट आचरण निश्चय ही कायरतापूर्ण एवं निन्दनीय है। उसको उचित सिद्ध करना इतिहास के तथ्यों की सत्यात्मकता पर हरताल फेरना है।

१४ खटीकान, मुजफ्फर नगर, उ० प्र०

महात्मा आनन्दघन : काव्य-समीक्षा

□ डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

महात्मा आनन्दघन ने कबीर आदि संत कवियों की भाँति ज्योति मे विश्वास किया, दीपों मे नही, दीपों की बनावट मे नहीं, दीपों की भिन्नता मे नही। भाँति-भाँति के दीप एक ही स्मृति के नाना रूप है। ठीक ऐसे ही एक ही आत्मा में नाना कल्पनाओं का आरोपण किया जाता है। यह जीव जब निज पर मे रमे तब राम, दूसरो पर रहम करे तब रहीम, करमो करशे तब कृष्ण और जब निर्वाण प्राप्त करे तब महादेव की सज्ञा को प्राप्त होता है। अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को स्पर्श करने से पारस और ब्रह्माण्ड की रचना करने से इसे ब्रह्म कहते है। इस भाँति यह आत्मा स्वय चेतनमय और निष्कर्म है आनन्दघन ने ऐसा माना है। आनन्दघन की भाँति ही कबीर ने भी एक ही मन को गोरख, गोविन्द और औघड़ आदि नामों से अभिहित किया है। सन्त सुन्दरदास का कथन तो महात्मा आनन्दघन से बिलकुल मिलता-जुलता है। उनके अनुसार एक ही अखण्ड ब्रह्म की भेद-बुद्धि से नाना संज्ञाएँ होती है, जैसे एक ही जल वापी, तड़ाग और कूप के नाम से, तथा एक ही पावक-दीप, चिराग और मसाल आदि नामों से पुकारा जाता है। सन्त दादूदयाल ने एक ही मूलतत्त्व को अलह और राम सज्ञाएँ दी हैं। उन्होने यहाँ तक लिखा है कि जो इनके मूल मे भेद की कल्पना करता है, वह झूठा है।

भगवद्विषयक प्रेम के क्षेत्र मे 'प्रेम के प्याले' और 'अचूक तीरो' की बात जानी पहचानी है। वह केवल जायसी और कबीर मे ही नही, अपितु जैन कवियों में भी देखने को मिलती है। कवि भूधरदास ने सच्चा अमली उसी को माना है, जिसने प्रेम का प्याला पिया है,

गांजाऽरू भाग अफीम है, दारू शराब पोशना।
प्याला न पीया प्रेम का, अमली हुआ तो क्या हुआ॥

महात्मा आनन्दघन ने लिखा है कि प्रेम के प्याले को पीकर मतवाला हुआ चेतन ही परमात्मा की सुगन्धि को पाता है, और फिर ऐसा खेल खेलता है कि सारा ससार तमाशा देखता है। यह प्याला ब्रह्मरूपी अग्नि पर तैय्यार किया जाता है, जो तन की भट्टी में प्रज्ज्वलित हुई है और जिसमे से अनुभव की कालिमा सदैव फूटती रहती है—

मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली।
तन माटी अवटाई पिये कस, जागे अनुभव लाली॥
अगम प्याला पीयो मतवाला, चिह्नी अध्यातमवासा।
आनन्दघन चेतन ह्वै खेलै, देख लोक तमासा॥

प्रेम के प्याले की यह बेहोशी मूर्च्छा नही है, अपितु ऐसी मस्ती है, जिसमें प्रेमास्पद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रेमी का जागरण है, जागृत अवस्था है। जायसी के प्याले मे तो ऐसी बेहोशी थी कि रत्नसेन पद्मावती को पहचानना तो दूर, देख भी न सका, फिर भी वह इतना जागृत था कि शून्य दृष्टि के मार्ग से ही प्राणों को समर्पित कर दिया। उसकी अधिक बेहोशी ही अधिक जागरण था। जायसी का कथन है—

जोगी दृष्टि सों लीना,
नैन रोपि नैनाहिं जिउ दीन्हा।
जाहि मद चढ़ा परातेहि पाले
सुधि न रही ओहि एक प्याले॥

प्रेम का तीर तो ऐसा पैना है कि वह जिसके लगा चाहे वह जैन हो या अन्य सन्त, जहाँ का तहाँ रह गया। महात्मा आनन्दघन की दृष्टि मे, "कहा दिखावूं और कूं, कहा समझाऊँ भोर। तीर अचूक है प्रेम का लागै सो रहै ठोर॥" कबीर ने सबद को ही तीर मान कर लिखा है, "सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और। लगी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर॥" जायसी ने प्रेम बाण के घाव को अत्यधिक दुखदायी माना है। जिसके लगता है, वह न तो मर ही पाता है और न जीवित ही रहता है। बड़ी

बेचैनी सहता है।

परमात्मा के विरह में खिलवाड़ नही आ सकती किन्तु फिर भी निर्गुनिए सन्तों की अपेक्षा जैन कवियों मे संवेदनात्मक अनुभूति अधिक है। कबीर के 'बिरह भुवगम पैसि कर किया कलेजे घाव, साधु अंग न मोड़ ही, ज्यो भावै त्यों खाय।' से आनन्दघन का 'पीवा बीन सुधबुध खूंदी हो विरह भुअग निशासमे, मेरी सेजड़ी खूदी हो।' अधिक हृदय के समीप है। इसी भाँति कबीर के "जैसे जल बिन मीन तलफै ऐसे हरि बिनु मेरा जिया कलपै।" से बनारसीदास के 'मैं बिरहिन पिय के आधीन, यों तलफौ ज्यों जल बिन मीन।' मे अधिक सबलता है।

आनन्दघन की विरहिणी की आँखें पिय का मार्ग निहारते-निहारते स्थिर हो गई हैं, जैसे कि योगी समाधि में और मुनि ध्यान में होता है। वियोगी और योगी दोनो की चेतना बाहर से सिमट कर अपने प्रिय पर केन्द्रित हो जाती है, और इस दृष्टि से दोनों मे कोई अन्तर नही है। प्रिय पर टिकी चेतना भी समाधिष्ठ है और योगी का मन भी ध्यानस्थ है। एक का माध्यम प्रेम है और दूसरे का ज्ञान। आगे चल कर, रत्नाकर ने 'उद्धवशतक' में वियोगिनी गोपी के भोग को योगी के योग से कम नही माना। दोनों ही केन्द्रस्थ हैं। जिस वियोगिनी मे यह तन्मयता है, वही श्रेष्ठ है। आनन्दघन की वियोगिनी इसी स्थिर दशा मे है, वह अपने वियोग की बात किसी से कह नहीं पाती। उसके मन का चोला प्रिय का मुख देखने पर ही हिल सकता है, अन्यथा डगमगाने का या किसी प्रकार की चपलता का प्रश्न ही नहीं है—

"पंथ निहारत लोलणें, दृग लागी अडोला।
जोगी सुरत समाधि मे, मुनिध्यान झकोला॥
कौन सुनै किनकुं कहु, किम भाडु मैं खोला॥
तेरे मुख दीठे हले, मेरे मन का चोला॥"

पन्थ निहारने की बात कबीर ने भी कही है। उन्होने लिखा है कि बिरहिणी मार्ग के दोनों सिरों पर दौड़-दौड़ कर जाती है और रास्तागीरो से अपने पति के आने की बात पूछती है। उसमे बेचैनी है। आध्यात्मिक बिरह मे बेचैनी सात्विकता का चिह्न तो है, किन्तु जब तक उसमे तन्मयता नहीं आती, चपलता नही छूटेगी। इसी कारण कबीर की बिरहिणी में वह स्थिरता नहीं है, जो योगी की समाधि में होती है। यहाँ आनन्दघन और कबीर की विरहिणी में अन्तर है। कबीर की बिरहिणी है—

बिरहिन ऊभी पथ सिर पंथी बूझै धाय।
एक सबद कहि पीव का कबरु मिलेंगे आय॥
बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कू, मन नाही विश्राम॥

विरहिणियाँ सदैव दूरस्थ पतियों के पास जाने की चाहना करती रही है। आनन्दघन की विरहिणी भी जाना चाहती है। रात अंधेरी है, घटाएँ छाई हुई है, हाथ को हाथ नही सूझता और पति तक जाने का मार्ग दुर्गम है। विरहिणी की प्रार्थना है कि यदि करुणा करके सुधाकर निकल आवे तो मार्ग प्रशस्त हो जावे, और यदि चन्द्र प्रियतम का मुख हो, तब तो वह घर बैठे ही कृतकृत्य हो जायेगी—

"निसि अंधियारी घन घटा रे, पाउ न वाट के फन्द।
करुणा करहु तो निरवहु प्यारे, देखु तुम मुख चन्द॥

जायसी के पद्मावत की नागमती भी, दिल्ली में बन्दी रत्नसेन के पास तक जाने को तैयार है, किन्तु वह केवल सुधाकर के निकलने से ही मार्ग के पेचों को नही सुलझा पायेगी, उसे एक मार्ग-दर्शक चाहिए। आनन्दघन की विरहिणी को ऐसे किसी आलम्बन की आकांक्षा नही है। वह सुधाकर के उदय मात्र से तृप्त है। वह सुधाकर मे प्रिय मुख-दर्शन की आकांक्षा करती है। ऐसा वह कर भी लेगी—प्रिय की तन्मयता से। यदि तन्मयता हो तो प्रिया कहीं भी प्रिय को देख सकती है, अपितु वह स्वय प्रिय रूप हो सकती है, ऐसा कुछ इशारा आनन्दघन का है। नागमती को गुरु की आवश्यकता है; किन्तु आनन्दघन की विरहिणी मे स्वय सामर्थ्य है, वहाँ तक पहुंचने की। नागमती सखी से कहती है—

"को गुरु अगुवा होइ सखि, मोहि लावै पथ माह।
तन मन-धन बलि-बलि करौं, जो रे मिलावे नाह॥

विरह में खान-पान छूट जाता है, इसे सभी कवियों ने दिखाया है—चाहे वह जैन हो या अजैन। अजैन आनन्दघन की विरहिणी में भी भोजन और पान की रञ्चमात्र भी रुचि नहीं है। उसने प्रिय की याद मे सब कुछ त्याग

दिया है। घरबार में मन नहीं लगता और जीवन से राग छूटता जा रहा है। विरह की वेदना अथाह है, कोई थाह नहीं ले सकता ऐसा कौन हवीब तवीब है, जो उस वेदना को मिटा सके। कलेजे में गहरा घाव है, जो तभी पुरेगा, जब प्रिय मिलन हो—

"भोयन पान कथा मिटी, किसंकुं कहुं सूधी हो।
आज काल घर आन की, जीव आस विलुद्धि हो।।
वेदन विरह अथाह है, पाणी नव नेजा हो।
कौन हवीब तवीब है, टारै कर घाव करेजा हो।।"

कबीर की विरहिणी को भी दिन मे चैन नही, तो रात को नीद नही। तड़फ-तड़फ कर ही सबेरा हो जाता है। तन-मन रहंट की भांति घूमता है। सूनी सेज है, जीवन मे कोई आस नही। नैन थक गये है, रास्ता दिखाई नही देता। साँई बेदरदी है, उसने कोई सुध नही ली। दुख बढ़ रहा है कैसे कम हो—

तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ-तलफ के भोर किया।
तन-मन मोर रहट-जस डोलै,
सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पथ न सूझै,
साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया।।

पानी बरसता है तो हरियाली फैलना स्वाभाविक है, किन्तु विरहिणी और अधिक सूख जाती है, ऐसा सभी ने लिखा है। जायसी ने लिखा तो आनन्दघन ने भी। दोनों मे समानता है। आनन्दघन का कथन है कि श्रावण-भादो वर्षा का जल और सर, सरिता तथा सुरसिन्धु का जल किसी की उष्णता मिटाता हो, विरहिणी का विरह-ताप कम करने मे असमर्थ है। ताप का कम होना दूर, इसके उलटे वह और अधिक सूख जाती है। जब दुनिया हरी-भरी होती है, उसका घट-सर सूख जाता है—

गाल लगाय के, सुर-सिन्धु समेली हो।
असुअन नीर बहाय के, सिन्धु कर बेली हो।।
श्रावण भादुं घन घटा, बिच बीच झबूला हो।
सरिता सरवर सब भरे, मेरा घट सर सूका हो।।

जायसी का कथन है—"जब मघा नक्षत्र झकोर-झकोर कर बरस रहा था, सब कुछ हरा-भरा हो गया था, तब विरहिणी भरे भादो मे सूख रही थी। 'पुरवा' नक्षत्र के लगने से पृथ्वी जल से भर गई, किन्तु वह धनि आक और जवास की भांति झुलस रही थी—

"बरसा मघा झकोरि-झकोरी।
मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी।।
धनि सूखै भरे भादो माहीं।
अबहुं न आएन्हि न सींचिन्हि नाहीं।।
पुरवा लागि भूमि जल पूरी।
आक-जवास भई तस झूरी।।"

महात्मा आनन्दघन मध्ययुगीन हिन्दी के उत्तम कोटि के कवि थे 'अध्यात्मपद सग्रह' मे संकलित उनकी रचनाएं अध्यात्ममूला भक्ति की निदर्शन है। वह केवल धर्मग्रन्थ नही है उसमे साहित्य रस है। भाषा प्रौढ है, तो काव्य-प्रतिभा जन्मजात। हिन्दी साहित्य मे उनका अपना एक स्थान है, इसे स्वीकार करना ही होगा—आज या कल।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

महाकवि हरिचन्द्र का समय और आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत

□ श्री अशोक पाराशर, जयपुर

"धर्मशर्माभ्युदय"[1] और "जीवन्धरचम्पू"[2] के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र की गणना कालिदास भारवि और माघ जैसे महान् एवं उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में की जाती है। लेकिन खेद का विषय है कि हरिचन्द्र के जीवन विषयज्ञान के लिये ऐसा कोई ठोस प्रमाण हमारे पास नहीं है जो कि उनके समस्त जीवन-चरित्र का विवरण उपलब्ध करा सकें। इनके माता-पिता एवं भाई आदि की सूचना तो हमें 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य की प्रशस्ति से प्राप्त होती है लेकिन जन्मस्थान एव समयादि की कोई जानकारी इनके ग्रन्थों से नहीं मिलती है। यही कारण है कि भारतीय एव पाश्चात्य विद्वान् इनके समय का निर्धारण विभिन्न तर्कों एव प्रमाणो के आधार पर ६वीं शती से लेकर १२वी शती के उत्तरार्ध तक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इनके समय-विषयक प्रश्न पर जिन विद्वानो ने अपने मतो की स्थापना के लिये अत्यधिक प्रयत्न किया है उनमे भारतीय विद्वान् आचार्य बलदेव उपाध्याय भी उनमे से एक हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय महाकवि हरिचन्द का समय लगभग १०७५ ई० से स्वीकार करते है।[3] आपने कवि का समय निर्धारण करते समय दो प्रमाण प्रस्तुत किये है और उन प्रमाणो के आधार पर आपने अपने मत की स्थापना की है। उपाध्याय जी द्वारा दिये गये प्रमाण—

१. उपाध्याय जी अपने मत के समर्थन मे एक स्थान पर लिखते है कि "जीवंधर चम्पू की कथावस्तु का आधार वादीभसिंह के "गद्यचिंतामणि' तथा "क्षत्रचूड़ामणि" को बनाया है। इतना ही नहीं 'क्षत्रचूडामणि' के अनेक पद्य बहुत ही कम परिवर्तनो के साथ जीवधरचम्पू मे स्वीकृत कर लिये गये हैं। फलतः इन्हे वादीभसिंह से अर्वाक्-कालीन होना चाहिए। श्रीहर्ष के "नैषध के अनेक पद्यो का प्रभाव 'धर्मशर्माभ्युदय" की रचना पर स्पष्टत. लक्षित होता है। अतएव हरिचन्द्र का समय वादीभसिंह (११ शती) तथा श्रीहर्ष (१२ शती का उत्तरार्ध) के अनन्तर होना चाहिये।"[4]

२. आप कवि के समय के विषय में एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि "कविवर हरिचन्द्र के ऊपर नैषधचरित के प्रणेता श्रीहर्ष का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। हरिचन्द्र की अनेक सरस सूक्तियों का उद्गम स्थल नैषध काव्य है। जीवधर चम्पू (३/५१) का यह पद्य नैषध की एक प्रख्यात सूक्ति (२/३८) से निःसन्देह प्रभावित है—

सरोजयुग्मं बहुधा तपः स्थितं
बभूव तस्यश्चरणद्वय ध्रुवम्।
न चेत् कथ तत्र च हंसकाविमो
समेत्य हृद्यं तनुतां कलस्वनम्

हरिचन्द्र का समय निःसन्देह श्रीहर्ष से पीछे तथा १२३० ई० से पूर्व है जब इनके महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदय' का पाटन मे उपलब्ध हस्तलेख लिखा गया है। अतः इनका समय एकादश शती का अन्तिम चरण तथा द्वादश शती का पूर्वार्ध है(लगभग १०७५ ई०—११५० ई०)।"[5]

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के आधार सस्कृत साहित्य के दो प्रसिद्ध काव्यकार है जिनके वादीभसिंह काव्यकार है तथा श्री हर्ष हिन्दु धर्मावलम्बी है। प्रथम प्रमाण मे उपाध्याय जी ने वादीभसिंह तथा श्री हर्ष तथा द्वितीय प्रमाण मे उन्होने कवि को श्रीहर्ष से उत्तरवर्ती कहा है। वादीभसिंह का समय "१०वी शती"[6] तथा "११वी शती"[7]

---

१. ग्रन्थ, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से सन् १९१७ मे प्रकाशित हो चुका है।

२. ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से सन् १९७१ में प्रकाशित हो चुका है।

३. सस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४९

४. सस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४८

५ वही पृ० २४९

६. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २५६

७. सस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४८ तथा ४०९

माना जाता है। और श्री हर्ष का समय ११५६ ई० से ११९३ ई० तक माना जाता है।[८]

उपाध्याय जी के मत की समीक्षा—

उपाध्याय जी ने हरिचन्द्र को वादीभसिंह तथा श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि ठहराया है। मैं उपाध्याय जी के इस मत से तो सहमत हूं कि हरिचन्द्र वादीभसिंह के उत्तरवर्ती कवि हैं लेकिन श्रीहर्ष से उत्तरवर्ती होने के विषय मे मैं उनके मत से असहमत हूं। जिसका कारण उपाध्यायजी का कथन (विचार) ही है। क्योंकि श्रीहर्ष का समय इन्होंने ११५६-११९३ ई० माना है और हरिचन्द्र का १०७५-११०५ ई०। इसलिये हरिचन्द्र श्रीहर्ष से पूर्ववर्ती कवि होने चाहिये लेकिन बलदेव उपाध्याय जी ने हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि ठहराया है जो कि एक भ्रम ही कहा जा सकता है। क्योंकि समय के अनुसार जो कवि उत्तरवर्ती है उसका अपने पूर्ववर्ती किसी भी कवि पर प्रभाव होना कठिन ही नहीं असभव भी है। इसलिये हरिचन्द्र के काव्य पर श्री हर्ष का प्रभाव बतलाकर हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कहना उपाध्याय जी का विरोधाभासपूर्ण मत है।

हाँ, मैं एक निवेदन और करना चाहूँगा कि इस विषय में उपाध्याय जी तथा उनके मत से सहमति रखने वाले अनुसंधाता एवं इतिहासकार यह कह सकते है कि श्रीहर्ष ने अपने काव्य नैषध की रचना जयचन्द एव विजयचन्द्र, जो कि कान्यकुब्जाधिपति थे और जिन्होंने ११५६ ई० से ११९३ ई० तक राज्य किया था,[९] के राजाश्रय प्राप्त होने से पूर्व की थी। इस प्रकार की थी। इस प्रकार की अवधारणा उन विद्वानों की मात्र कल्पना ही कही जा सकती है क्योंकि स्वय कवि श्रीहर्ष ने नैषध मे कान्यकुब्जाधिपति के आश्रय प्राप्ति की बात कही है।[१०] जो कि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नैषध ११५६ ई० से बाद की रचना है। नैषध की रचना के विषय मे श्री सत्यनारायण जी शास्त्री लिखते हैं कि "किवदन्ती से ही यह पता चलता है कि श्रीहर्ष की प्रतिभा देख कर जयचन्द्र ने अपना राज्य-कवि बना लिया था और नैषध की रचना भी राज्य की प्रेरणा से हुई।।"[११] इससे सिद्ध होता है कि नैषध की रचना ११५६ ई० से पूर्व किसी भी स्थिति में नहीं हुई थी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त अवतरणों मे मैंने आचार्य बलदेव उपाध्याय जी द्वारा मान्य कवि हरिचन्द्र के समय और उनके द्वारा अपने मत की पुष्टि में दिये गये प्रमाणों की समीक्षा की। उन्ही के दिये गये प्रमाणों के फलस्वरूप मैं निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा हूं—

१: यदि आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा स्वीकृत महाकवि हरिचन्द्र का समय १०७५ ई० से ११५० ई० स्वीकार करें तो नैषध काल की रचना ११५० ई० से पूर्व होनी चाहिये लेकिन विद्वानो का मत (आचार्य बलदेव उपाध्याय का भी यही मत) है कि श्रीहर्ष ११५६ ई० से ११९३ के बीच कभी हुए थे जो कि कान्यकुब्ज राजाओं के आश्रय प्राप्त थे अतः नैषध का प्रभाव धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य पर मान कर हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि कहना ठीक नही है।

२. यदि उपाध्याय जी के मतानुसार नैषध काल का प्रभाव धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवंधरचम्पू पर स्वीकार कर लें तब ऐसी स्थिति मे उनके द्वारा स्वीकृत कवि हरिचन्द्र का समय (१०७५—११५० ई०) ठीक नहीं बैठता है। कारण यह हैकि श्रीहर्ष का समय हरिचन्द्र से बाद (११५६ -११९३ ई०) है। अतः उपाध्याय जी के मत का खण्डन उन्ही के तर्क से हो जाता है।

३. यदि महाकवि हरिचन्द्र का उपाध्याय जी द्वारा स्वीकृत समय ही माना जाये तो सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय काव्य का प्रभाव नैषधचरित्र पर निःसन्देह रूप से पड़ा है।

४. हरिचन्द्र के वादीभसिंह के उत्तरवर्ती कवि होने में किसी प्रकार का सदेह नही होना चाहिये।

एम० ए०, एम० फिल्० एव शोध छात्र (सस्कृत)
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-४

---

८. सस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २२८

९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २२८

१०. ताम्बलद्वयमासन च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्—नैषध चरित, २२।१५५

११. सस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, श्री सत्यनारायण शास्त्री, पृ० १७०

जैन संस्कृति का प्राचीन केन्द्र काम्पिल्य

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

प्राचीन भारत की महानगरी काम्पिल्य[1] की पहिचान उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में, कायमगंज रेलवे स्टेशन से लगभग ८ कि० मी० की दूरी पर, पक्की सड़क के किनारे वर्तमान कंपिल नामक ग्राम से की जाती है। किसी समय गंगा की एक धारा इस स्थान के पास से बहती थी।

काम्पिल्य चिरकाल से पाञ्चाल देश (जनपद, विषय या राज्य) की राजधानी रही, और जब पाञ्चाल उत्तर एवं दक्षिण, दो भागों में विभक्त हो गया, तो काम्पिल्य दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी रही, जबकि उत्तर पाञ्चाल की राजधानी अहिछत्रा बनी। भारतीय धर्म एवं संस्कृति की अनेक पुराणगाथाओं तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं के तथ्यों से काम्पिल्य का नाम जुड़ा है। यही कारण है कि जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण, तीनों ही परम्पराओं के साहित्य में नगर या प्रदेश के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। यथा यजुर्वेद (अ० २३, म० १८) की उवट एवं महीधरकृत टीकाएँ, महाभारत, पाणिनीय की काशिकावृत्ति (४-२-१२१), चरक सहिता (अ० ३ सू० ३), अमरु शृंगारशतक की भाव चिन्तामणि टीका आदि ब्राह्मणीय ग्रन्थों मे, बौद्धमहाउम्मग्गजातक (२-३२६) मे, और तिलोयपण्णति, भगवती आराधना, उवासगदसाओ, आदिपुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश महापुराण, त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र हेमाचार्यकृत त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित, विमलनाथ पुराण, पांडवपुराण, हरिषेणीय बृहत्कथाकोष, प्रभाचन्द्रीय आराधनासत्कथा प्रबन्ध, ब्रह्मनेमिदत्त कृत आराधना कथा कोष, विविधतीर्थ कल्प, धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजय महात्म्य, मध्यकालीन तीर्थ मालाए, आदि जैन ग्रन्थो में।

वस्तुतः कंपिलाजी (काम्पिल्य) जैन धर्मावलम्बियों का एक परम पावन तीर्थक्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल से रहता आया है।[2] इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर, कोशाम्बी, काकन्दी, गौरीपुर, अहिछत्रा आदि कई प्राचीन स्थानों की भांति काम्पिल्य की स्मृति एव अस्तित्व को अनेक अशो मे तीर्थ भक्त जैनो ने ही सुरक्षित रखा है—व इस तीर्थ की वन्दना के लिए मध्यकाल की विषम परिस्थितियों मे भी बराबर आते रहे और स्थान के अपने धर्मायतनो का संरक्षण, जीर्णोद्धार आदि भी करते रहे। आज भी यहाँ तीन जिनमदिर व दो धर्मशालाए है। इनमे से एक मदिर तो अति प्राचीन है, जो मूलत: वि० स० ५४६ मे निर्मित हुआ बताया जाता है।[3] इस मन्दिर मे मूलनायक के स्थान पर प्रतिष्ठित श्यामल-मूँगिया पाषाण की अति मनोज्ञ एवं चमत्कारिक प्रतिमा कम्पिल्यनगर मे जन्मे तेरहवे तीर्थंकर विमलनाथ की है, जो गुप्तकालीन एव मूल जिनालय जितनी प्राचीन अनुमान की जाती है।[4] यह प्रतिमा गगा की रेती से निकली थी। इसके अतिरिक्त इन मंदिरों मे अन्य अनेक

---

१. साहित्य में कांपिल्य के नामरूप कांपिल्यनगर, कांपिल्यपुर कंपिल या कंपिलपुरी, कंपिल्य, कपिला आदि प्राप्त होते हैं, और इसके अपर नाम माकन्दी पांचालपुरी या पंचाल्यपुरी मिलते है। महाभारत आदि १२३ (७३) तथा जैन हरिवंशपुराण (३५/१२६) में माकन्दी नाम से कांपिल्य का उल्लेख हुआ है।

२. ज्योतिप्रसाद जैन, 'उत्तरप्रदेश और जैन धर्म' लखनऊ १९७६ पृ० ४१

३. कामताप्रसाद जैन कृत—'कांपिल्यकीर्ति', अलीगंज १२५२ पृ० ४६, बलभद्र जैन—'भारत के दि० जैन तीर्थ', भारतीय ज्ञानपीठ १९७४ भाग—१, पृ० १०६

४. वही पृ० १०८

जिन प्रतिमाएं स्थापित हैं जो ११वीं से १६वीं शती ई० पर्यन्त विभिन्न समयों की प्रतिष्ठित है।[5] किन्हीं दिगम्बर भट्टारकों द्वारा स्थापित दो चरण-चिह्न पट्ट भी प्राचीन मंदिर में है।[6] आस-पास के क्षेत्र व गंगा नदी के खालों से अनेक खंडित अखण्डित जिनमूर्तियाँ एवं जैन कलाकृतियाँ भी प्राप्त होती रही है।[7] चैत्र और अश्विन मे प्रतिवर्ष यहाँ दो जैन मेले, मस्तकाभिषेक, रथयात्रा, जलयात्रा आदि होते है। सन् १८३० ई० का चैत्री रथोत्सव विशेष महत्त्वपूर्ण था क्योंकि आधुनिक युग मे इस तीर्थ की सार सम्हाल की ओर समाज की विशेष रुचि तभी से हुई लगती है।[8] भोगाव निवासी कवि सदानन्द ने वि० सं० १८८७ के इस मेले का आखो देखा वर्णन कविता बद्ध किया था।[9]

जैन परम्परा के अनुसार कर्मभूमि का सम्ययुग के आरम्भ में प्रथम तीर्थकर आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव ने विभिन्न राज्यों एव जनपदो की स्थापना की थी तो पाञ्चाल देश भी उनमे से एक था और उसका शासनभार उन्होने अपने एक सौ पुत्रों मे से एक को सौपा था।[10] केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त तीर्थंकर वृषभदेव का विहार भी इस जनपद मे हुआ था[11] और उनका समवसरण काम्पिल्य मे आया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के प्रसग मे भी पाञ्चाल का उल्लेख हुआ है।[12] जब भरतचक्रवर्ती की पराधीनता अस्वीकार करके भरत के अनुज महाबाहु भुजबलि ने मुनि दीक्षा ले ली तो उन्हीं के अन्य भाई पाञ्चाल नरेश ने भी राज्य का परित्याग करके जिन दीक्षा ले ली थी।[13]

इस काम्पिल्य नगरी में पुरुदेव भगवान ऋषभ की सन्तति में उत्पन्न इक्ष्वाकुवंशी महाराज कृतवर्मा की महादेवी जयश्यामा ने माघ शुक्ल चतुर्दशी के शुभ दिन १३वें तीर्थंकर बराह लाछन भगवान बिमलनाथ अपरनाम विमलवाहन को जन्म दिया था।[14] भगवान के जन्मोपलक्ष्य में देवराज शक्र के आदेश से यक्षाधिप एवं धनाधिप कुबेर ने इस नगरी को इतना शोभायमान बना दिया था कि, महाकवि पुष्पदत के शब्दो मे वह ऐसी लगती थी मानों स्वर्ग ही पृथ्वी पर उतर आया है। अन्य आचार्यों ने भी प्राचीन काम्पिल्य के सौन्दर्य एव वैभव का ऐसा ही वर्णन किया है।[15] जिनप्रभसूरि ने तो यह भी लिखा है कि क्योंकि इस नगर में भगवान के च्यवन, जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवल ज्ञान ऐसे पाच कल्याणक हुए थे, इसका नाम पंचकल्याणकनगर अर्थात् पञ्चालपुरी रूढ़ ही हो गया, और क्योंकि भगवान शूकरलाञ्छन थे लोक में यह स्थान शूकरक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ।[16] वर्तमान में सोरों जो कपिला से नातिदूर पश्चिम में है, सूकर क्षेत्र कहलाता है।[17] सभव है, जिनप्रभ के समय (१४वीं शती में) कंपिला के आसपास का क्षेत्र ही शूकर क्षेत्र कहलाता है और मूलतः ती० विमल के लाञ्छन के कारण ही। स्व०

---

५. कांपिल्य वही पृ०५०-५१

६. वही पृष्ठ ५०

७. कामताप्रसाद जैन, 'जैन विवरण पत्रिका' जि० फर्रुखाबाद, अलीगंज१६४६ पृ० १३

८. 'कम्पिलाकीर्ति' पृ० ८२

९. यथा—विमलनाथ जिनको धारिभाव पानी चहुदिशि लिखीचित में आठों चाव।—कम्पिला रथयात्रावर्णन पृ० १५, कामताप्रसाद वही पृ० ५२

१०. आदिपुराण, भा० ज्ञा० पीठ सस्करण १८/१५१-१५६

११. वही २५।२६७, हरिवंशपुराण भा० ज्ञा० पी०३।३७

१२. आदिपुराण २६।४०

१३. हरिवंशपुराण ११।६४

१४. कपिलपुरे विमलो ज० दे० कदम्ब तपस्तामा हि० माघसिदि चोददसिए—पुव्वाभोद्दवदे १६ तिलोयपण्णत्ति ४।५३८ उत्तरपुराण भा० ज्ञानपीठ पृ० ६८-६६, पुष्पदतीयमहापु० ५५।३-४ भा० २ पृ०२०४ अशाधरीय त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र १३।३-४

१५. तदैवकंपिलानाम्ना बिभर्त्ति परमापुरी।
दोषैर्मुक्ता गुणैर्युक्ता धनाढ्या स्वर्णसग्रहा॥
विमलनाथपुराण॥
'कापिल्यनगराभिधं पुर सुरपुरोपमम्।'
हरिषेणीय बृ० क० कोष॥

१६. विविध तीर्थकल्प पृ० ५०, कम्पिलापुरी कल्प०

१७. कामताप्रसाद जैन वही पृ० ५५

कामता प्रसाद जी ने कम्पिल्य क्षेत्र के संकिसा, अगहत (अघत), कपिस्थक (केथिया), पिप्पलग्राम (पिपरगांव), पिटीम्परि (पटियाली), कान्यकुब्ज (कन्नौज आदि कई अन्य अनुभूतिगम्य स्थलों की भी वर्तमान स्थानों से पहिचान की है।[१८]

आचार्य हेमचन्द्र ने तीर्थंकर विमलनाथ के चरित्र के प्रसंग में उनकी गर्भिणी जननी द्वारा एक अद्भुत न्याय की रोचक कथा दी है, जिसका हेतु गर्भस्थ शिशु की विमलबुद्धि बताया है और उसी कारण उनका नाम 'विमल' हुआ बताया है।[१९] पुराणकारों ने भगवान के जन्मोत्सव, बाललीला, विवाह एवं राज्याभिषेक का वर्णन करने के उपरान्त बताया है कि चिरकाल पर्यन्त गृहस्थ सुख एवं राज्य वैभव का उपभोग करके माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन भगवान ने महाभिनिष्क्रमण किया और निकटवर्ती सहेतुक वन मे जिन दीक्षा ली तथा तपश्चरण में लीन हो गये।[२०] उसी वन मे उन्होंने पौष शुक्ला दशमी के दिन चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अर्हत तीर्थंकर हो गए।[२१] भगवान की इस तपोभूमि एवं केवलज्ञान प्राप्ति स्थल की पहचान संकिमाले अघत (अघहत) या अघतिया टीले से की जाती है।[२२] इस टीले से १६२७ मे भगवान विमल के समवसरण की प्रतीक एक प्राचीन सर्वतोभद्र प्रतिमा तथा कतिपय अन्य कलाकृतियाँ प्राप्त हुयी थी, जो राजकीय संग्रहालय लखनऊ मे सुरक्षित हैं।[२३] चिरकाल पर्यन्त लोकहितार्थ धर्मामृत की वर्षा करके भ० विमलनाथ ने अन्ततः सम्मेदाचल से निर्वाण प्राप्त किया। वाराहलांछन तीर्थंकर विमलवाहन के जन्म, लौकिक शासन एवं दिव्य-ध्वनि की गुंजार से कम्पिल्यनगर धन्य हुआ। अन्य तीर्थंकरो विशेषकर भगवान पार्श्वनाथ एवं महावीर के समवसरण भी कम्पिल्य में आए, और पाञ्चाल देश में उनका विहार हुआ।

२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ मे इसी कम्पिल्य नगर मे महाराज सिंहध्वज की धर्मप्राणा महिलारत्न वप्रा की कुक्षि से मातृभक्त हरिषेण चक्रवर्ती का जन्म हुआ, जिसने दिग्विजय करके नगर को अनेक जिनालयो से अलकृत किया।[२४] महाभारत काल मे काम्पिल्य मे पाञ्चालेश्वर महाराज द्रुपद का राज्य था और यही उनकी दुहिता महावती द्रोपदी का जन्म एवं प्रसिद्ध स्वयंवर हुआ था।[२५] एक अनुश्रुति के अनुसार अन्तिम चक्रवती ब्रह्मदत्त की राजधानी भी काम्पिल्य ही थी।[२६] ग्यारह कोटि स्वर्ण मुद्राओ एवं विशाल गोकुल का स्वामी काम्पिल्य का धर्मात्मा श्रेष्ठि कुन्दकोलिय भगवान महावीर के दश प्रमुख एव आदर्श गृहस्थ उपासको मे से एक था।[२७]

जैन कथाओं मे अन्य अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के उल्लेख मिलते है, जिनका काम्पिल्य नगरी से सम्बन्ध था। काम्पिल्य नगर मे पिण्याकगन्ध नाम का एक सेठ था जो बत्तीस कोटि द्रव्य का स्वामी था किन्तु अत्यन्त लोभी एव परिग्रहासक्त था और फलस्वरूप दुर्गति को प्राप्त हुआ। उस समय राजा रत्नप्रभ का यहाँ शासन था और राज्य-श्रेष्ठि जिनदत्त नाम का उदार एवं धर्मात्मा श्रावक था।

---

१८. देखिये—कामताप्रसाद जैन की पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें।

१९. त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित्र के अन्तर्गत विमलनाथ चरित्र।

२०. तिलोयपण्णत्ति, ४।६५६, उत्तरपुराण, महापुराण आदि

२१. „ ४।६६०, „ „ „

२२. ज्योतिप्रसाद जैन, उत्तर प्रदेश और जैनधर्म पृ० ४७ (संहिता) कामताप्रसाद जैन, काम्पिल्य कीर्ति पृ० २६-३०

२३. वही पृ० ३० फुटनोट

२४ पद्मपुराण २०।१८६-१८७, वृहत्कथाकोष कथाक ३३ उत्तरपुराण पृ० २४८, महापुराण भाग २ पृ० ३६५, हरिवंशपुराण ३।३-७, आराधना सत्कथा प्रबध, अराधना कथा कोष आदि।

२५. उत्तरपुराण ७२।१६८ पृ० ४२०, त्रिषष्ठिस्मृति-शास्त्र २२।७०, हरिवंशपुराण ४५।१२०-१२१ पृ० ५४६-५४७ तुलनीय महाभारत (१।१२८।७३)

२६. आराधनाकथाप्रबं २०, ६० (२८) पृ० ३८, १३५, पुष्पदन्तमहापुराण भाग ३ पृ० १८४

२७. उवासयदसाओ (उपासकदशांग) ६

उसने निकटवर्ती पिप्पलग्राम (वर्तमान पिपरगांव) में राजा रत्नप्रभ द्वारा निर्मापित सरोवर के तट पर एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। पिण्याकगन्ध का पुत्र विष्णुदत्त कला-विज्ञान-पराग था जिसने एक ऐसे दर्पण का आविष्कार किया था। जिसमें देखने वाले को दो मुख दीखते थे।[२८] इसी नगर में राजा नरसिंह के शासनकाल में राजश्रेष्ठि कुबेरदत्त था जो महाधनवान था और जिसका व्यापार जलमार्ग द्वारा द्वीपान्तरो मे भी फैला हुआ था। वह धर्मकार्यों मे भी अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करता था। उसकी सेठानी प्रिय सुन्दरी अतिशय भवद्रूप-लावण्य-यौवन-युक्त थी जिसपर मन्त्रीपुत्र नरसत्री लम्पट कडारपिङ आसक्त हो गया।[२९] उसका पिता सुमति मन्त्री भी उसके षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गया, किन्तु ये लोग विफल मनोरथ हुए और राजा द्वारा दंडित हुए। काम्पिल्य का भीम नामक एक राजकुमार मनुष्य-मास भक्षी हो गया था जिसके कारण उसे राज्यभ्रष्ट, स्वदेश से निर्वासित और दुर्गति का पात्र होना पड़ा।[३०] आचार्य जिनप्रभसूरि ने १४वीं शती ई० के प्रथम पाद में कंपिल की यात्रा की थी और उन्होंने इस स्थान का तात्कालिक वर्णन करने के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी कतिपय प्राचीन अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया है, यथा कम्पिल्य नरेश संजय का नगर के केसर उद्यान मे गर्दभिल्ल श्रमण से उपदेश ग्रहण करना, काम्पिल्य के राजकुमार गागली का गौतम गणधर द्वारा जन धर्म में दीक्षित किया जाना और मुनि बन कर आत्म-कल्याण करना, कम्पिल्य के जिनधर्मी विद्वान राजा धर्मरुचि का काशि नरेश को शास्त्रार्थ में पराजित करना आदि।[३१] धनेश्वरसूरि के अनुसार काम्पिल्य नगर मे महाराज विक्रमादित्य के समय में भावड़ नाम के लोथ्याधिपति जैन श्रेष्ठि रहते थे जो बडे पुरुषार्थी थे। जल और थल दोनों मार्गों से विदेशो मे उनका व्यापार होता था। वह एक बार सर्वथा निर्धन हो गए और पुन: धनकुबेर तथा राज्य मान्य बन गए भावड ने अनेक जिनमंदिर बनवाए तथा शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया बताया जाता है।[३२]

१५८९ ई० मे यति जयविजयने कंपिल की यात्रा की और लिखा "पिटाआरिपुरि कंपिल, विमल जन्म बन्देश, चूलणी चरित्र सभालियो ब्रह्मदत्त परवेस। केसर धनराय सजतीगर्दभिलगुरुपासि, गगातटव्रत उबरई, द्रुपदी पीहर वासि।" आदि।[३३]

१८०७ ई० में विजयसागर जी ने कंपिल की यात्रा की और लिखा—

कंपिलपुर वर मडणोपूजई विमल विहार रे।
विमल पादुका वदीयइ लीजई विमल अवतार रे।।[३४]

कवि सदानंद जी कपिल-रथयात्रावर्णन[३५] (१८३० ई०) का पहले ही उल्लेख कर आए हैं। इस प्रकार पवित्र क्षेत्र कंपिला (कम्पिल्य) के जैन साहित्य में प्रचुर उल्लेख प्राप्त हैं।

—चारबाग, लखनऊ

---

२८. भगवती आराधना ११४०, बृहत्कथाकोष पृ० २५५-२५६, आराधना सत्कथाप्रबंध, नं० ३१ पृ० ५२, बृहत्कथाकोष नं० ८२ पृ० २०३

३०. भगवती आराधना १३५७, आराधनाकथाप्रबंध नं० ५५ पृ० ७६ बृहत्कथा कोष नं० ११५ पृ० २८७

३१. विविधतीर्थकल्प सिंघी ग्र० भा०) पृ० ५०

३२. देखिए—धनेश्वरसूरिकृत शत्रुंजय माहात्म्य

३३. काम्पिल्यकीर्ति, पृ० ३१

३४. वही

३५. वही पृष्ठ ५२

पाटण के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियां

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

यद्यपि भारत के कोने-कोने मे जैन निवास करते हैं और साधु-साध्वी भी धर्म प्रचार आदि के निमित्त से अनेक स्थानों में पहुंचते हैं। पर उनका ध्यान जैन मन्दिरों की ओर जितना जाता है, हस्तलिखित ग्रन्थभण्डारों की ओर प्रायः नही जाता, जबकि दोनों का समान महत्व है। मूर्तियां जितनी उपयोगी हैं जिन वाणी के संग्रह या भण्डार रूप हस्तलिखित प्रतियां भी उतनी ही उपयोगी हैं।

बहुत-से ज्ञान-भण्डारों की अभी सूची भी नहीं बन पायी तथा कई तो सर्वथा अज्ञात अवस्था मे पड़े हैं। मुसलमानी शासन और सरक्षण के प्रति हमारी उपेक्षा के कारण अनेकों महत्वपूर्ण ग्रन्थ नष्ट व लुप्त हो चुके हैं। जिनका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में पाया जाता है। जिन ग्रन्थों की अधिक प्रतिलिपियां नहीं हुयी उनकी प्रतियां अज्ञात और बिना सूची वाले ग्रन्थ भण्डारो में मिलनी संभव है। दक्षिण के अनेक स्थानों मे ताडपत्रीय प्रतियां मन्दिरों में व व्यक्तिगत संग्रह मे है। उनमे भी बहुत से अज्ञात एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलने सम्भव है। अतः कोई भी संस्था ऐसी स्थापित हो जिसके भेजे हुए व्यक्ति जैन हस्तलिखित प्रतियो की खोज करें और जिन-शास्त्र भण्डारों की सूची नही बनी है, उनकी बना कर प्रकाश में लावें।

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने अपने वक्तव्य मे कहा था कि इसके लिए पैसे की कमी नहीं रहेगी। काम जोरो से होना चाहिये। तो उन्ही की सस्था भारतीय ज्ञानपीठ भी सर्वाधिक साधन सम्पन्न है, उसे इस कार्य की ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये।

दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों के अलग-अलग ग्रन्थभण्डार, अलग अलग स्थानों मे हैं पर एक-दूसरे को उनकी समुचित जानकारी नही है। कई भण्डारो के सूचीपत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। जिनसे स्पष्ट है कि दिगम्बर शास्त्र भण्डारों मे कई ऐसे श्वेताम्बर ग्रन्थ हैं, जिनकी प्रति श्वेताम्बर शास्त्र-भण्डारों में नही मिलती। इसी तरह श्वेताम्बर-भण्डारों में भी कई ऐसे दिगम्बर ग्रन्थ एवं उनकी प्राचीन प्रतियां हैं जिनकी जानकारी दिगम्बर विद्वानों को भी नही है। कुछ वर्ष पहले पूज्य पुण्यविजयजी को सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य अमृतचन्द्र के एक अज्ञात एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एकमात्र प्रति अहमदाबाद के श्वेताम्बर भण्डार में मिली थी, जिसे अब प्रकाशित भी किया जा चुका है। इससे पहले भी और कई दिगम्बर ग्रन्थ श्वेताम्बर भण्डारों में ही मिले। जिनमें कई ग्रन्थ तो अलभ्य व लुप्त मान लिए गये थे, वे भी मिल गये।

अभी-अभी मैं पाटण के श्वेताम्बर ताडपत्रीय ग्रन्थ-भण्डार की सूची जो कि बड़ौदा से सन ३६ में प्रकाशित है, उस सूची को देख रहा था तो उसमें चार दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियां पटण के श्वेताम्बर भण्डार मे है। उन ग्रन्थों के पुनर्सम्पादन में वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। साथ ही 'आध्यात्मतरंगिनी' नामक दिगम्बर ग्रन्थ की टीका जो मेरी जानकारी के अनुसार दिगम्बर भण्डारों में कहीं भी नहीं मिली है, उसकी ताडपत्रीय प्रति पाटण के सघवी पाडे के श्वेताम्बर ज्ञानभण्डार मे प्राप्त है ११७ पत्रों की इस प्रति का कुछ अंश खण्डित लगता है। यह प्रारम्भ के उद्धृत श्लोकों से विदित होता है तथा अत के श्लोक से भी। अभी तक यह टीका अन्यत्र कही भी ज्ञात नहीं है, इसलिए इसकी जानकारी दिगम्बर समाज व विद्वानों को इस लेख द्वारा दी जा रही है।

मूल आध्यात्मिक तरंगिनी ग्रन्थ माणिकचन्द्रग्रन्थमाला के ग्रन्था० न० ८३ मे सवत् १९७५ मे प्रकाशित हो चुका

है, ऐसा 'श्री जिन रत्नकोश' के पृष्ठ ५ में उल्लेख है। पाटण में जो इसकी टीका की प्रति मिली है उसका उल्लेख वृहद् टिप्पणिका नामक प्राचीन ग्रन्थ सूची में होने से यह टीका और प्रति काफी प्राचीन सिद्ध होती है। अब हम टीका के आदि और अन्त का कुछ आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है।

आदि :—ॐ नमो वीतरागाय।

गुरूं प्रणम्य लोकेशंशिशूनामल ·।
·············· ·· ·······॥१॥
··· · ······कोरिण्योर्थिजनासर्व
पुरुषार्थसिद्धिनिमित्तं प्रमाणमनुसरंत···
··· ························ ···

अन्त: :—की सोमदेव मुनिनोदितयोगमार्गो,
व्याख्यात एवहिमयाऽऽत्ममतेर्बलेन।
संशोध्य शुद्धधिषणैर्हृदये निधेयो,
योगीश्वरत्वमचिरायसमाप्तुकामैः ॥१॥
श्री सोमसेन प्रतिबोधनार्था
धर्मत्रिधानोरुयशः स्थिरात्मा।
गूढार्थसंदेहहरा प्रशस्ता,
टीका कृताध्यात्मतरंगिणीय ॥२॥
जिनेश सिद्धाः शिवभावभावाः,
सुसूरयो देशक-साधुनाथाः।
अनाथनाथा मथितोऽदोषा,
भवंतु ते शाश्वतशर्मदानः ॥३॥
चंचच्चंद्रमरीचिवीचिरुचिरे यच्चारुरोचिश्चये
मग्नांगैः सुरनायकैः सुरुचेर्देवाधिमध्यैरिव।
शुक्लध्यानसितासिशातितमहाकर्मारिकक्षक्षयो
देयास्तोत्रवसंभवा शुभतमा चन्द्रपुत्रः संपदां ॥१॥
त्रिदशवसतितुटयो गूर्जराख्याभिधानो,
धन कनकसमृद्धो देशनाथोस्ति देशः।
असुर-सुर-सुरामाशोभिमामाभिरामोऽ,
परविगवनिनारीवक्त्रभाले ललाम ॥२॥
शश्वच्छ्रीशुभतुंगदेववसतिः संपूर्णपण्यापणा
शौंडीर्योद्भटवीरधीरविततता श्रीमाण्यखेटोपमा।
चंचत्कांचनकुंभकर्णविसरैं, जैनालयैर्भाजिता
लंकेवास्ति विशालसालनिलया, मंदोदरीशोभिता ॥३॥
वरवटवटपल्ली तत्रविख्यातनामा,
वरविबुधसुधामा देववासोऽधामा।
शुभसुरभितरंभारामशोभाभिरामा,
सुभसतिरिवोच्चैरप्सरासम्यभामा ॥४॥
सूरस्योधगणेभवद् यतिपतिर्वाचंयमः संयमी
जज्ञेजन्मवतां सुपोतममलं योजन्मया बोधितः।
जन्ये यो विजयी मनोजनृपतेर्जिष्णोर्जगज्जन्मिनां
श्रीमत्सागर नंदिनाम विदितः सिद्धांतवार्धिविधुः ॥५॥
············तपोयतिः ललायो
भव्यानिशम्य—परिवर्धननीरधौ।
माक्ष्यसल्ल···कः विकर्तनसत्कुठार
स्तस्माद्विलोभवनतोजनि स्वर्णनंदिः ॥६॥

अध्यात्मतरंगिनी के कर्ता सोमदेव मुनि हैं। जो योगमार्ग के अच्छे ज्ञाता थे। प्रस्तुत टीका गुजरात के वटपल्ली नगर या ग्राम मे सागर नन्दी के शिष्य स्वर्णनन्दी ने बनायी लगती है। पद्यांक तीन मे मान्यखेट और शुभतुंगदेववसति का भी उल्लेख है।

पाटण भण्डार सूची के पृष्ठ ३१ में सोमदेवसूरिरचित 'नीतिवाक्यामृत' की ९५ पत्रों की प्रति संवत १२९० लि० का विवरण छपा है। लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है— 'सवत १२९० वर्षे प्रथम श्रावणवदि १० शनावद्येह श्रीमद्देवपत्तने गडश्रीत्रिनेत्रप्रभृतिपंचकुलप्रतिपत्तो मह सोह्लकेन नीतिवाक्यामृत सत्कपुस्तिका लिखापिता। मगल महाश्रीः शुभ भवतु लेखक-पाठकयोः। भग्नपृष्टि कटि etc. यादृशं etc.

पाटणके भंडार मे ये महाकवि हरिचन्द्र के धर्मशर्म्माभ्युदयं काव्य की २ ताडपत्रीय प्रतियां है। जिनमे से पहली प्रति १९५ पत्रों की संवत १२ ७ की लिखी हुई है। लेखन प्रसस्ति इस प्रकार है—संवत १२८७ वर्षे हरिचंदकवि विरचित धर्म्मशर्माभ्युदय काव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि (रे) आदेशेन कीर्त्तिचन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रं।

इसी धर्मशर्माभ्युदय की दूसरी प्रति १४८ पत्रों की है। अतः वह भी यहाँ दी जा रही है।

अथास्ति गूर्ज्जरो देशो, विख्यातो भुवनत्रये
धर्मचक्रभृता तीर्थंकराद्यैर्मानवैरपि ॥१॥
विद्यापुरं पुरं तत्र, विद्याविभवसंभवं।

पद्म: शर्करया ख्यात:, कुले 'हुंबड' संज्ञके ॥२॥
तस्मिनवंशे दावनामा प्रसिद्धो,
भ्राता जातो निर्मलाख्यस्तदीय: ।
सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां,
तं दातारं को भवेत् स्तोतुमीश: ? ॥३॥
बावस्य पत्नी भुमिमोवलाख्या,
शीलाम्बुराशे: शुचिवंदरेखा ।
तंत्रदमरूयाहृणिदेविभर्ता,
वेपालनामा महिमैकधाम ॥४॥
ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो,
मंडाकनामा तनयोर्विनीत: ।
श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो,
दानेन लक्ष्मीं सफलां करोति ॥५॥
हानू-आसलसंज्ञकेस्य सुभगे भार्ये भवेतां द्वये
मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे, सद्धर्ममार्गे रते ।
सागारव्रतरक्षणैकनिपुणे, रत्नत्रयोद्भासके
रूद्रस्येवनभोनदी-गिरिसुते लावण्यलीलायुते ॥६॥
श्रीकुंदकुंदस्य बभूव वंशे,
श्री रामचन्द्र: (द्र:) प्रथितप्रभाव: ॥७॥
प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टं,
विद्याप्रभावेन विशालकीर्ति: ।
शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान,
एकांतवादाद्रिविनाशवज्रं ॥८॥
जयति विजयसिंह: श्रीविशालस्य शिष्यो
जिनगुणमणिमाला, यस्य कंठे सदैव ।
अमितमहिमशर्धर्मनाथस्य काव्यं
निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥९॥

पाटणभण्डार की ताडपत्रीयप्रति नं० ३९४ में 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' प्रथम खण्ड की (२७८ पत्रों की प्रति) है। उसके अन्त मे इतना सा ही लिखा हुआ है—प्रमेयकमल-मार्तंड: खड: हींवाभार्याआ० पींचू सत्क: ।

पाटण के खरतरवसहि में शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' की २०७ पत्रो की ताडपत्रीय प्रति है जिसकी लेखन प्रशस्ति विस्तृत होने से यहा नही दी जा रही है। केवल अंतिम दो पक्तियाँ ही दी जा रही हैं, जिसमें लेखन संवत दिया हुआ है—सवत १२८४ वर्षे वैशाष सुदि १० शुक्रे गोमडले दिगम्बर राजकुल सहस्रकीतिस्यार्थे प० केशरि सुतबीसलेन लिखितमिति ।

जहाँ तक मेरी जानकारी है इन दिगम्बर ग्रन्थों की इतनी प्राचीन प्रतियाँ दिगम्बर शास्त्र भण्डारो मे भी नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन मे प्राचीन व शुद्ध प्रतियों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बीच-बीच में मुझे कई प्राचीन ग्रन्थ सम्पादकों - दिगम्बर विद्वानो ने पूछा भी था कि अमुक ग्रन्थ की कोई प्राचीन व शुद्ध प्रति ध्यान मे हो तो सूचित करें बहुत बार प्रति के लेखकों की असावधानी से गलत या अशुद्ध पाठ लिख दिया जाता है, कही पाठ छूट जाता है। कही किसी के द्वारा जोड़ दिया जाता है। इसलिए ग्रन्थ सपादन के समय कई प्रतियो को सामने रख कर शुद्ध पाठ का निर्णय किया जाता है। पाटण भण्डार सूची को प्रकाशित हुए ४३ वर्ष हो गये पर अभी तक उपरोक्त दि० ग्रन्थो की प्राचीनतम प्रतियो का किसी ने उपयोग नही किया।

नाहटो की गवाड़, बीकानेर

अनेकान्त

का

गोम्मटेश्वर बाहुबली विशेषांक

'अनेकान्त' का आगामी अक 'गोम्मटेश्वर बाहुबली विशेषाक' होगा। दो खण्डों में विभक्त इस विशेषाक के प्रथम खण्ड मे, भगवान बाहुबली के अलौकिक दिव्य व्यक्तित्वके विविध पक्षो पर लेखादि तथा द्वितीय खण्ड मे जैन-साहित्य, सस्कृति एवं इतिहास पर मौलिक गवेषणापूर्ण सामग्री सम्मिलित होगी।

'अनेकान्त' को सदा आपके महत्त्वपूर्ण सहयोग का गौरव प्राप्त रहा है। अत आपसे सानुरोध निवेदन है कि इस विशेषाक के लिए कृपया शीघ्रातिशीघ्र अपने शोधपूर्ण लेख, चित्र आदि भेज कर अनुगृहीत करे।

—सम्पादक

वैदिक और जैन-धर्म : एक तुलनात्मक विश्लेषण

□ पं० के० भुजबली, शास्त्री

वैदिक-धर्म और जैन-धर्म को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर प्राचीन जैन-साहित्य मे प्राप्त जैन-धर्म का स्वरूप वेदों मे प्राप्त वैदिक-धर्म से अत्यधिक सुसंस्कृत मालूम पड़ता है। वेदों मे प्रतिपादित इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप और जैनों के आराध्य-देव जिनेश्वर का स्वरूप—इन दोनों को विचार कर देखने पर वैदिक देवता सामान्य मनुष्यो से अधिक शक्तिशाली मालूम पड़ने पर भी वृत्ति की दृष्टि से हीन ही प्रतीत होते है।

मानवों में आसानी से दृष्टिगोचर होनेवाले काम, क्रोध, राग और द्वेष आदि दोष वैदिक देवताओं मे प्रचुर परिणाम मे प्राप्त होते है, परन्तु जैनो के आराध्य देवों मे ये सब दोष बिल्कुल नही है। वैदिक-देवताओ का पूज्यत्व किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति से न होकर, नाना प्रकार के अनुग्रह-निग्रहो के कारण से ही प्राप्त है। जैनो के आराध्य जिनेश्वर इस प्रकार की किसी भी शक्ति के द्वारा पूज्य न होकर, वीतराग गुण मे ही निहित आदर-भाव ही आराधक को अपने आराध्य की पूजा के लिए प्रेरित करता है। वैदिक-धर्म मे ऐसा नही है। उसमे वैदिक देवताओ का भय ही आराधक को उनकी आराधना में प्रेरित करता है। वैदिक लोगो ने यद्यपि भू-देवता अर्थात् ब्राह्मणों की कल्पना तो की है अवश्य, परन्तु काल-क्रम से वे स्वार्थी हो गये। यह दोष जैन-धर्म मे भी दृष्टि गोचर होता है। क्योंकि बाद मे ब्राह्मणो को अपन पौरोहित्य की रक्षा ही मुख्य रही।

वैदिक-धर्म मे धार्मिक कर्म-काण्ड-रूपी यज्ञ ही प्रधान रहा। यह यज्ञ प्राय. पशु-हिंसा के बिना पूर्ण नही होता था। जैन-धर्म मे अनशन आदि बाह्य और आभ्यन्तर तप ही प्रधान कर्म-काण्ड है। इसमे अर्थात् जैन-धर्म के हिंसा का नाम ही नही है। वैदक यज्ञ देवताओ को सतुष्ट करने के लिए ही किया जाता था। जैन-धर्म मे धार्मिक अनुष्ठान केवल आत्मोत्कर्ष के लिए ही किया जाता है। जैन लोग किसी भी देवता को सतुष्ट करने के लिए कुछ नही करत हैं, क्योंकि उनके आराध्य देव वीतरागी है। वह केवल अनुकरणीयरूप में ही आराध्य है। जैनों मे इस समय प्रचलित कुछ कर्म-काण्ड बहुतांश मे वैदिक-धर्म के अनुकरण मात्र है। ये सब जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

वैदिक लोगों ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवताओं की कल्पना की थी, जो तीन लोकों मे ही विद्यमान है। देवता मनुष्य-वर्ग से भिन्न होकर मनुष्य-वर्ग के लिए आराध्य बने हुए थे। परन्तु जैन लोग देव वर्ग को मनुष्य-वर्ग से भिन्न मानने पर भी उन्हें आराध्य नही मानते हैं। हां, जैनों में भी कतिपय व्यक्ति कुछ देवताओं को अवश्य पूजते है, किन्तु वह केवल भौतिक उन्नति की ही दृष्टि से है, आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से नही।

जैन-धर्म मे स्वीकृत वीतरागी मनुष्य की कल्पना देवताओं को भी मान्य और आराध्य हैं। देवता भी उस मनुष्य की सेवा करते है। सारांश यह है कि जैन-धर्म देवताओं की अपेक्षा मानव की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए आगे आया है।

वैदिक-धर्म मे इस विश्व का निर्माण अथवा नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा माना गया है। इसके प्रतिकूल जैन-सिद्धान्त विश्व का निर्माण और नियंत्रण कर्ता कर्म के सिवाय अन्य किसी व्यक्ति को नही मानता है। इस सिद्धान्त को भगवद् गीता आदि कतिपय वैदिक ग्रन्थ भी मानते है। ईश्वर को सृष्टि-कर्ता मानने पर अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका यद्यपि उत्तर नही मिलता है। यह विषय 'आदि-पुराण' आदि पुराणग्रन्थो मे तथा अष्टसहस्री, प्रमेयकमल-मार्तंड, श्लोकवार्तिक आदि न्याय-ग्रन्थों मे विशद-रूप में विवेचित हैं।

वेदो के उपरान्त ब्राह्मण-काल मे देवताओ के लिए यज्ञ प्रधान कर्म बन गया। उस काल मे पुरोहित ने यज्ञ क्रिया के महत्व को बहुत बढ़ा दिया। इसप इच्छा न होने पर भी देवलोग अनिवार्य रूप मे विधि युक्त यज्ञों मे परवश हो गये। एक प्रकार से यह देवताओ पर मनुष्यों को विजय थी। किन्तु इसमें एक दोष अवश्य था। वह यह कि

ब्राह्मण-वर्ग यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य में रखना चाहता था। उस समय वैदिक मन्त्रपाठ और विधि-विधान ब्राह्मण-वर्ग की अनिवार्यता को स्पष्ट सूचित करता है।

जैन-धर्म इस मान्यता के विरुद्ध है। जैन-धर्म के अनुसार त्याग, तप आदि द्वारा ही उन्नत स्थान को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह मनुष्य का वास्तविक मार्ग-दर्शन करता है। वैदिक धर्म में शूद्र को वेद पाठ करने के लिए मनाही है परन्तु जैन शास्त्र को सुनने-पढ़ने के लिए मनाही नहीं है। जैन-धर्म में-धर्म-कार्य के आचरण में पुरुषोंकी ही तरह स्त्रियों को भी पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

वेदाध्ययन में शब्दों को महत्व प्राप्त होने से वेद-मन्त्र रक्षित होकर संस्कृत-भाषा को महत्व प्राप्त हुआ। पर जैनों में शब्दों की अपेक्षा पदार्थों को महत्व दिया गया। इसलिए जैनों में धर्म के मौलिक सिद्धान्त रक्षित होने पर भी शब्द रक्षित नहीं हुए। इसके अलावा जैन लोग सस्कृत भाषा को अधिक महत्व देते रहे। प्राकृत भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार सदा एक ही रूप मे नहीं रह सकती है अर्थात यह बदलती रहती है।

वैदिक-संस्कृत उसी रूप मे आज भी वेदों में उपलब्ध है उपनिषदों के पूर्व वैदिक-धर्म मे ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जैन-धर्म मे प्रारम्भ से ही क्षत्रिय लोग प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु उपनिषद्कालीन वैदिक-धर्म मे ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को प्रमुख स्थान प्राप्त दृष्टि-गोचर होता है। उपनिषदों में आत्म-विद्या को प्रमुख स्थान प्राप्त था। यहां पर वस्तुतः ब्राह्मणों पर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक-धर्म और जैन-धर्म में दृष्टिगोचर होने वाले इस विरोध को देखकर प्रारम्भ मे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध-धर्म की तरह जैन-धर्म को वैदिक-धर्म का विरोधी एक क्रांतिकारी नूतन धर्म लिखा है। इतना ही नहीं, जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा के रूप में भी कहा। परन्तु जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही इस भ्रांति को दूर कर दिया है। आज अध्ययनशील दूरदर्शी पाश्चात्य और भारतीय विद्वान जैन-धर्म को वैदिक-धर्म से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र धर्म मानने लगे हैं। हाँ, आज भी कतिपय विद्वान कभी-कभी उस पूर्वोक्त राग को अलापते हैं।

हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं है। क्योंकि वस्तु प्राचीन होने से ही निर्दोष नहीं होती है। उसका निरूपण यथार्थरूप में होने पर ही वह निर्दोष होती है। बाहर से भारत में आगत आर्य लोगों को जिस धर्म के साथ लड़ना पड़ा, उस धर्म का विकसित रूप ही जैन-धर्म है। यदि वेदों से ही जैन-धर्म विकसित हुआ होता अथवा वैदिक-धर्म के विरोध में जैन-धर्म का जन्म हुआ होता, तो वेद को प्रमाण मानकर वेद-विरोधी बातों का प्रचार करने का कार्य अन्य वैदिक धर्मों की तरह जैन-धर्म भी करता रहता। परन्तु जैन धर्म ने ऐसा नहीं किया है। यह वेद-निन्दक कहलाकर नास्तिक-धर्म कहलाया। जैन-धर्म ने कभी भी वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में जैन-धर्म को वैदिक-धर्म की शाखा मानना बिल्कुल भूल है। सत्य परिस्थिति इस प्रकार हैं — वैदिक आर्य पूर्व की ओर बढ़ते हुए भोतिकत्व को त्यागकर आध्यात्म की ओर जाने लगे। इसके कारण को खोजने पर हमे यह बात विदित होती है कि आर्य लोग संस्कारी प्रजाओं के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने पूर्व की रीति को त्यागने लगे। यह विषय हमें उपनिषदों की रचना मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों मे वेद के विरुद्ध मान्यताए दृष्टिगोचर होने पर भी वे वेदों के अंग होकर वेदांत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उपनिषदों की रचना के बाद दार्शनिक वेदों को एक ओर रखकर उपनिषदों के द्वारा वेद को प्रतिष्ठा को बढ़ाते गये। उस समय वेदो मे भक्ति रहने पर भी निष्ठा मात्र उपनिषदों में ही रही। एक जमाने में वेद का अर्थ गौण होकर उसकी ध्वनि ही रह गई। पूर्व भारत के प्रजाओं का संस्कार ही वेदों के ह्रास का कारण हुआ, यह कहना गलत नहीं होगा।

जैन-धर्म के सभी प्रवर्तकों ने प्रायः पूर्व भारत में ही जन्म लिया है। पूर्व भारत ही जैन-धर्म का उद्गम स्थान रहा है। जैन-धर्म ने ही वैदिक धर्म को नवीन रूप धारण करने के लिए विवश किया होगा तथा हिंसक और भौतिक-धर्म के स्थान पर अहिंसा और आध्यात्मिक का पाठ पढ़ाया होगा।

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

महान् विद्वान् हर्षकीर्ति की परम्परा

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

१७वीं शती के महान एवं नागपुरीय तपागच्छ के विद्वान हर्षकीर्तिसूरि सम्बन्धी मेरा लेख पहले अनेकान्त में छपा था, उसे काफी वर्ष हो गये। इधर 'श्रमण' के अक्टूबर ७६ के अंक में हर्षकीर्तिसूरि रचित धातु तरंगिणी नामक मेरा लेख प्रकाशित हुआ है। इसमे जो हर्षकीर्ति सूरि से पूर्ववर्ती आचार्यों मे जयशेखर सूरि से परम्परा प्रारम्भ की है, इस सम्बन्ध मे खोज करके उनके पहले-पीछे की आचार्य परम्परा पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूं। वैसे श्री नागपुरीय 'बृहत-त ागच्छीय पट्टावली' नामक गुजराती ग्रन्थ सन १६३८ मे अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है, उसे देखा पर उसमें ठीक से विवरण मिला नही। हेम हंससूरि के बाद तथा पट्टावली इसमें परम्परा ही बदल जाती है। इसका सम्बन्ध वास्तव में पार्श्वचन्द्रसूरि व उनके बाद के आचार्यों से है। हर्षकीर्ति सूरि ने भी 'धातुतरंगणी की प्रशस्ति में जो अपनी परंपरा के नाम दिये हैं, वे भी क्रमिक एव पूरे नहीं हैं। बीच-बीच में प्रसिद्ध उपाध्याय व आचार्यों का विवरण देना ही उन्हें अधिक उचित प्रतीत हुआ लगता है। इसलिए मैंने अपने ग्रन्थालय की एक अन्य पट्टावली देखी तो उसमें हर्षकीर्ति सूरि आचार्य परम्परा के ५७ श्लोक हैं, और इसके बाद ग्रन्थ में आगकी परम्परा के आचार्यों के नाम एवं उनका संक्षिप्त विवरण गद्य रूप में लिखे हुये मिले। इस पट्टावली के नामों से सुप्रसिद्ध वादिदेव सूरिका क्रमांक ४४ है। 'नागपुरीयतपाशाखा' उनके बाद से ही प्रसिद्ध हुई। क्योंकि सं १२७४ में जगतचन्द्र सूरि को तपा बिरुद मिला जब से उनकी परम्परा तपागच्छ के नाम से प्रसिद्ध होने लगी। अतः देवसूरि और उनकी परम्परा का मुख्य निवास नागोर में होने से ही उनकी नागपुरीय गच्छीय का 'तपा-गच्छीय' पसन्नचन्द्रसूरि से प्रसिद्ध हो गया। वादीदेव-सूरि से इसकी और आचार्य नामावली प्राप्त हुई है, उसे ही यहां दिया जा रहा है परम्परा—

४४. श्री वादिदेवसूरि ११७४ वर्ष ८४ वाद जेता ३ हजार श्रावक प्रतिबोधक

४५. श्री पद्मप्रभ सूरि भुवन दीपक ग्रन्थकर्ता

४६. श्री प्रसन्नचन्द्र इतः नागपुरी तपागच्छ शाखा

४७. श्री गुण समुद्रसूरि

४८. श्री जयशेखरसूरि स० १३०१ वर्ष १२ गोत्र प्रतिबोधक लोढ़ागोत्रे कर्मग्रन्थकर्ता

४९. श्री वज्रसेनसूरि स० १३४२ वर्ष आचार्य १० हजार प्रतिबोधक, सारग भूपेन देशनाजश्रो गुर्जर देश:।

५०. श्री रत्नशेखरसूरि १३८२ वर्ष

५१. श्री हेमतिलकसूरि सं० १३९९ सिद्धचक्र-पेरोजशाहेन परिधापति ढिल्यालोढ़ा गोत्रे।

५२. श्री हेमचन्द्राचार्य

५३. श्रीपूर्णचन्द्र सूरि सं० १४२४ वर्ष होमणगोत्रे

५४. श्री हेमहंससूरि स० १४५३ खण्डेलवाल जाती-यतशिष्य गणि लोढ़ा गोत्रे सं० जिणदेव संस्थापित

५५ श्री रत्नसागराचार्य दुगड गोत्रे

५६. श्री हेम समुद्र सूरि १४९९ चित्रकूटे संस्थापित

५७, श्री हेमरत्नसूरि १५२६ वर्ष स्नोनी गोत्रीय

५८. भगवान श्री सोमरत्नसूरि स० १५४२ वर्षे सेठिया सोनी गोत्रे

५९. भगवान श्री राजरत्नसूरि सं० १५७४ वर्षे जेतवाल जातीय गोत्र सार एवन

६०. भगवान श्री चन्द्रकीर्तिसूरि सं० १५८६ तिमी-रेचा बहुतगोत्रि

६१. भगवान श्री मानकीर्ति सूरि सं० १६२४ वर्षे पोरवाड़ पद्मावती गोत्रे

६२. भगवान श्री हर्ष-कीर्ति सूरि बंड-लिया, चउधरी सं० १६४३ वर्षे

६३. भगवान श्री अमरकीर्तिसूरि १६४३ वर्षे आचार्य पट्ट

इनमें से ५४वें पटधर हेमहंससूरि के बाद पार्श्वचन्द्र सूरि वाली शाखा अलग हो जाती है। उसका भी १७वी शताब्दी तक का जो विवरण इ। पट्टावली में दिया है, उसे नीचे दे रहा हूं। क्योंकि पायचन्द्र गच्छ की पट्टावली में लक्ष्मी निवास पुण्यरत्न और साधुरत्न इन तीनों के आगे 'सूरि' शब्द लगा दिया गया है, वास्तव में मुझे प्राप्त पट्टावली के अनुसार ये तीनों ही आचार्य नहीं थे। इस पट्टावली में से पद्यबद्ध पट्टावली में तो हर्षकीर्तिसुरि तक के नाम हैं। उसके बाद के नाम नहीं हैं। और पार्श्वचन्द्र सूरि की परम्परा में श्री विमलचन्द्र सूरि के स० १६६८ में आचार्य पद मिलने तक का ही उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पट्टावली स० १६७४ से पहले की लिखी हुई है। नही तो इसमें १६७४ विमलचन्द्रसूरि का स्वर्गवास हुआ, उसका भी उल्लेख अवश्य रहता। अतः इस पुरानी पट्टावली में लक्ष्मीनिवास पुण्य रत्न और साधुरत्न के नामो के आगे 'सूरि' पद नही दिया है, और उन्हें 'प०' ही लिखा है। अतः वह ही प्रामाणिक है। पट्टावली में इसका विवरण इस प्रकार है—

५५. श्री लक्ष्मीनिवास पंडित शिष्य

५६. श्री पूण्यरत्न 'सर्व' विद्या विशारद

५७. श्री साधुरत्न पण्डितोतय:

५८. श्री पार्श्वचन्द्र सुरि—पोरवाड़ जातीय सं० १५३७ जनक हमीर पुरे सं० १५४६ महात्मा पोसालम.हि दीक्षा सं० १५६५ किया अघरी सं० १६१२ मागसिर सुदि ३ स्वर्ग जोधपुरे श्री पासचन्द्र नइ आचार्य पद में १५७७ में संलखणपूरे मुठ जातीया मंत्री विकई पद प्रतिष्ठा की थी

५६. श्री समरचन्द्रसूरि श्री श्री माली जातीय पिता दोसी भीमा माता वल्लादे सं० १५६० जन्म पाटनि पीराणि मार्गसिर सुदि इग्यारस दिने सं० १५७५ दीक्षा सं० २५६६ उाहाार पद सलखणपुरे मालबै खाचरोद आचार्य पद सं० मीनै महोछव की धौंस १६२६ जेठ वदी १ तीर्थे स्वर्ग:।

६०. श्री रामचन्द्र सूरि—सं० १६०६ भादवा वदी १ जन्म आबू नयरे पिता दोसी जावड़ माता कमला दे सं० १६२६ दीक्षा स्तम्भ तीर्थे अथ आचार्य पद सं० १६६६ ज्येष्ठ सुदि ६ स्तंभ तीर्थ निर्वाण ॥

६१. श्री विमलचन्द्र सूरि—सं० १६४६ जन्म असाढ सुदि ६ सं० १६५६ वर्षे ज्येष्ठ मासे दीक्षा वैसाख सुदि ३ सं० १६६८ आचार्य पद स्तम्भ तीर्थे सा० इन्द्रचन्द्र जी पद प्रतिष्ठा श्री हर्षकीर्तिसूरि वंसे तो सारस्वत दीपिका के कर्ता चन्द्रकीर्तिसूरि के शिष्य थे। पर चन्दकीर्तिसूरि के पट्ट पर मानकीर्तिसूरि स्थापित हुये। उनके बाद स० १६४३ मे हर्षकीर्तिसूरि और इसी स० में उनके पट्ट पर अमरकीर्तिसुरि आचार्य पद स्थापित हुये। यह उपरोक्त पट्टावली से मालूम होता है। हर्षकीर्तिसुरि, चंडालिया या चौधरी वंश के थे। यह भी इस पट्टावली से ही जानकारी मिली है। इनके पट्टधर अमरकीर्तिसूरि ने कालिदास के ऋतु-सहार काव्य की टीका बनाई है।

हर्षकीर्ति सूरि के सम्बन्ध मे मैंने एक खोजपूर्ण लेख (अनेकान्त) के मई जून सन् १६५० के अंक मे प्रकाशित करवाया था। इसमें मैंने इनका जन्म सवत्, जैनदीक्षा उपाध्याय व सूरि पद के समय के सम्बन्ध मे लिखा था कि हर्षकीर्ति के लिखी हुई सं० १६१३ की सप्तपदार्थी की प्रतिउपलब्ध है। अतः इनका जन्म सं० १५६० से १५६५ के बीच होना चाहिये और दीक्षा छोटी उम्र में ही हुई लगती है अतः सं० १६०५ से १० के बीच हुई होगी। सं० १६२६ की प्रति में इनके नाम के साथ 'उपाध्याय' पद विशेषण पाया जाता है। अतः इससे पहले वे अच्छे विद्वान बन चुके थे। अतः उन्हे उपाध्याय पद दे दिया गया था। सं० १६४३ में इनको आचार्य पद मिला। यह उसके बाद की मिली पट्टावली से सिद्ध है। पर एक समस्या रह जाती है कि आप आचार्य बने उसी समय अमरकीर्तिसूरि को अपने पद पर उन्हें पट्टधर के रूप में कैसे प्रतिष्ठित कर दिया। क्योंकि आपके लिखवाई हुई प्रति सं० १६६० की उपलब्ध है। और आपकी अन्तिम रचना 'सेड अनिट्कारिका वृत्ति' हमारे संग्रह में है। जिसकी प्रशस्ति: के अनुमार इसकी रचना सं० १६६३ के ज्येष्ठ सुदि में हुई है। यथा—

राम ऋतु-रस भूवर्षे ज्येष्ठ धवल पक्ष तो।

सेडनिट्कारिका कारि हर्षकीर्ति मुनीश्वरैः ॥२१॥

इससे हर्षकीर्तिसुरि सं० १६६३ तक विद्यमान थे, सिद्ध होता है। तब इससे २० वर्ष पहले, अमरकीर्ति को

सूरिका पद देने का जो पट्टावली में उल्लेख है, वह विचारणीय हो जाता है। पर ऋतु संहार की टीका प्रशस्ति से ऐसा लगता है कि वे वास्तव में मानकीतिसूरि के पट्टधर होंगे। अतः हर्षकीर्ति और अमरकीर्ति दोनों को एक साथ या आस-पास में ही आचार्य पद मानकीर्तिसूरि ने दिया होगा। हर्षकीर्तिसूरि तो अपने को चन्द्रकीर्तिसूरि के शिष्य ही लिखते रहे हैं। अतः चन्द्रकीर्तिसूरि के वृद्धावस्था या स्वर्गवास होने के बाद दीक्षा पद मे बड़े होने के कारण मानकीर्तिसूरि को चन्द्रकीर्ति सूरि का पट्टधर बनाया होगा और हर्षकीर्तिसूरि उस समय उपाध्याय पद पर होंगे, जब मानकीर्तिसूरि का स्वर्गवास हो गया तब एक और चन्द्रकीर्तिसूरि के प्रधान और विद्वान शिष्य हर्षकीर्ति सूरि को दूसरी और मानकीर्तिसूरि के शिष्य अमरकीर्ति को भी आचार्य पद दे दिया गया होगा। प्रमाणाभाव से वास्तविक स्थिति निश्चयरूप से तो बताई नहीं जा सकती पर सम्भावना और मेरा अनुमान यही है।

अमरकीर्तिसूरि ऋतुसंहार की टीका मे अपने को मानकीर्तिसूरि को पट्टधर ही बतलाते है। यथा---

श्री मानकीर्तिवरसूरि गुण करुणा
पट्टेऽणु वै अमरकीर्ति विनिर्मिता
श्रीमद्विशेष महान काव्यकृतो,
सर्गोऽजनि प्रथम एवमुपाभिरम्यः या ॥
इति श्री अमरकीर्तिसूरि कृतायां टीकायां
श्री ग्रीष्मऋतु वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

नागपुरीयतपागच्छ की २ शाखायें होगई जिनमें से पार्श्वचन्द्रसूरि शाखा में अब कोई नहीं है। और इस शाखा के विशेष विवरण वाली पट्टावली भी नहीं मिलती। हमें जो एकमात्र पट्टावली मिली है उसमें भी हर्षकीर्ति सूरि और अमरकीर्तिसूरि के नाम के बाद के नाम नहीं हैं। इसके बाद भी उनकी परम्परा कुछ चलती तो रही है। क्योंकि पार्श्वचन्द्र सूरि शाखा की पट्टावली में बीच में अन्य उसी परम्परा के आचार्य व मुनियों के नाम आये हैं। पर उससे हर्षकीर्ति परंपरा में क्रमशः पट्टधर कौन से हुये ? एवं कब तक इनकी परंपरा चली ? यह ज्ञात नहीं होता। हर्षकीर्तिसूरि के बाद इस शाखा मे कोई ऐसा विद्वान नहीं हुआ लगता, जिनके रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों से पीछे की परंपरा की जानकारी मिल सके। अमरकीर्तिसूरि की भी ऋतुसंहार टीका के अलावा और कोई रचना ज्ञात नहीं है। हर्षकीर्तिसूरि की स्वयं की लिखी हुई बहुत-सी प्रतियाँ प्राप्त है। अनूप संस्कृत लाईब्रेरी, बीकानेर एव ज्ञानभण्डारों मे वे मेरे देखने मे आई है, संभवतः कुछ प्रतियाँ हमारे संग्रहालय या ग्रन्थालय में भी है।

---नाहटों की गवाड़, बीकानेर

(पृ० ३० का शेषांश)

सिन्धु सस्कृति को प्रकाश म लाने के पूर्व पाश्चात्य विद्वान् भारतीय-सस्कृति के मूल को वेदों में मानते रहे। परन्तु वे ही मोहनजोदडो और हडप्पा के उत्खनन के बाद अपने अभिप्राय को बदलकर वैदिककाल के पूर्व मे वेदो मे भी अत्यधिक उज्ज्वल एक भारतीय-सस्कृति रही है, ऐसा स्वीकार करने लगे। उधर उपर्युक्त सिन्धु सस्कृति के अवशेष हमें प्रायः उत्तर पश्चिम भारत में दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी परिस्थिति में पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान भारतीय धर्मों के इतिहास को नवीन दृष्टि से देखने को तैयार हुए हैं। अब अनेक विद्वान् जैन-धर्म को वैदिक-धर्म से भिन्न एक स्वतन्त्र धर्म मानकर जैन-धर्म को वैदिक धर्म की शाखा अथवा विरोधी धर्म मानने से स्पष्ट इन्कार करते है।

वेदों के कथनानुसार इन्द्र ने दास एवं दस्युओं की तरह यति-मुनियो की भी हत्या की थी (अथर्व २.५ ३.)। यति और मुनि शब्द को भारत के मूल निवासियों की सस्कृति का सूचक मानना गलत नही होगा। इन शब्दों का विशेष प्रयोग और प्रतिष्ठा हम जैन-सस्कृति में प्रारम्भ से ही स्पष्ट देखते आ रहे हैं। इसलिए जैन-धर्म का प्राचीन नाम यति-धर्म अथवा मुनि-धर्म करने पर विरोध नहीं होगा। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल से ही प्रभावित होता हुआ आया है और अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हुआ है। वेदों में भी हमें यही बात दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रों में धर्मों के विविध प्रवाहों को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो भागों मे विभक्त किए जाने की बात दृष्टिगोचर होती है। इनमें ब्राह्मण वैदिक-सस्कृति में और शेष श्रमण सस्कृति में गर्भित किए गए है। ऋग्वेद १०,१३६.२ में वातरशना मुनियों का उल्लेख है। इसका अर्थ नग्नमुनि होता है। आरण्यक मे तो श्रमण और वातरशना इन दोनों को एक ही अर्थ में लिया गया है। उपनिषदों में तापस और श्रमण ये दोनों एक ही पंक्ति में लिये गये हैं। इन बातों पर सूक्ष्मता से विचार करने पर विदित होता है कि श्रमणों को तप और योग अधिक प्रिय थे। ऋग्वेद में कथित यति और वातरशना मुनि भी ये ही मालूम होते हैं। इस दृष्टि से भी जैन धर्म का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से सिद्ध होता है।

श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा—इन दोनों में प्रारम्भ से ही विरोध चला आ रहा था। इन्द्र के द्वारा यति और मुनियों की हत्या किया जाना और पातंजलि के द्वारा अपने महाभाष्य (५. ४. ९) में श्रमण और ब्राह्मणो के शाश्वत विरोध का उल्लेख किया जाना—ये दोनों बाते इसके सुदृढ़ प्रमाण है। □□□

R. N. 10691/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

गोम्मटेश्वर बाहुबली विशेषांक

वर्ष ३३ : किरण ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८०

□

□

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस विशेषांक का मूल्य
१० रुपये

□

भगवान् गोम्मटेश
बाहुबली, श्रवणबेलगोल

□

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विषयानुक्रमणिका

□□□

सम्पादकीय

सतत् वन्दनीय भगवान् बाहुबली

प्रथम तीर्थङ्कर आदिपुरुष पुरुदेव भगवान ऋषभ के सुपुत्र, माता सुनन्दा के लाडले, भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर के अनुज, महासतीद्वय ब्राह्मी और सुन्दरी के प्रिय भ्राता, वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम कामदेव और प्रथम मोक्षगामी महापुरुष, महाबली बाहुबलि अपरनाम भुजबलि एवं दोर्बलि को अपने अप्रतिम रूप, बल, स्वाधीनता प्रेम, स्वाभिमान उर्ध्वचेतत्व, उदारता, वैराग्य और दुर्द्धर तपश्चरण तथा सतत् प्रेरक व्यक्तित्व के लिए जैन पुराण पुरुषों में अद्वितीय एवं अविस्मरणीय स्थान प्राप्त है। जैनेश्वरी दीक्षा लेने के पूर्व मानवोत्तम महाराज ऋषभ ने अपना विशाल राज्य अपने सौ पुत्रों में विभाजित कर दिया था। ज्येष्ठपुत्र भरत को प्रधान राजधानी एवं ऋषभ तथा ऋषभपुत्रों की जन्मभूमि महानगरी अयोध्या का राज्य मिला। बाहुबलि को पोदनपुर का, मतान्तर से तक्षशिला का राज्य मिला। एकमत से श्रावकधर्मप्रवर्त्तक राजकुमार श्रेयांस और उनके अग्रज गजपुर (हस्तिनापुर) के अधीश्वर सोमयश बाहुबलि के ही पुत्र थे।

महाराजा भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ तो वह अपना चक्रवर्तित्व सिद्ध करने के लिए दिग्विजय के लिए निकले। तत्कालीन प्राय: सभी नरेशों ने शनै: शनै: उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उनके स्वयं के भाइयों ने भी विरोध तो नहीं किया किन्तु अपने-अपने राज्य का परित्याग करके मुनि दीक्षा ले ली। स्वतन्त्रचेता एवं स्वाभिमान-मूर्ति महाबाहु बाहुबली ने चक्रवर्ती की चुनौती स्वीकार करली और युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये। दोनों की सेनाएं रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं, किन्तु दोनों ही आदिदेव के सुपुत्र थे, चरम शरीरी और अहिंसा की संस्कृति से ओतप्रोत मनस्वी थे ही। उन्होंने प्रस्ताव किया कि विवाद उन दोनों के बीच है, सैनिकों को उसके हेतु हताहत कराना अन्याय है। अतएव दोनो के बलाबल का निर्णय दोनों के पारस्परिक द्वन्द्वयुद्ध से किया जाय। परिणामस्वरूप, इन दोनों महावीरों का दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध (या मल्लयुद्ध) एवं जलयुद्ध दोनों सेनाओं के बीच खुले मैदान मे हुआ। देव-दानवो मे ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले युग के इस प्रथम भीषण राजनीतिक युद्ध को दोनों ओर के कोटि-कोटि सैनिकों एवं अपार जनसमूह ने आश्चर्याभिभूत होकर देखा। वह राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का सर्वप्रथम उदाहरण है और प्राचीन भारत में कालान्तर में होने वाले युद्धों के लिए आदर्श बना। रामायण और महाभारत का भी ध्यान से अध्ययन किया जाय तो यही प्रकट होता है कि अधिकांशत: उक्त युद्धों में दोनों ओर प्रमुख नेताओं के बीच लड़े गये द्वन्द्वयुद्ध ही विजय-पराजय के निर्णायक होते थे।

भरत-बाहुबलि द्वन्द्व में बाहुबली विजयी रहे, और पराजित भरत ने विवेक भूल कर उन पर चक्ररत्न चला दिया। किन्तु यह दैवी सुदर्शनचक्र भी सगोत्रघात नहीं करता, अत: बाहुबलि को कोई भी क्षति पहुंचाये बिना उनकी प्रदक्षिणा करके वापस भरत के हस्तगत हुआ। इधर तो भरत अपने अविवेक-पूर्ण कृत्य की ग्लानि से मूर्छित प्राय हो रहे थे, और उधर बाहुबलि राज्यवैभव आदि के लिए मानव की असीम लिप्सा तथा ससार-देह-भोगों की निस्सारता की अनुभूति करके संसार से विरक्त हो गये।

प्रभुतप्त भरत की मनुहार पर भी ध्यान नहीं दिया और तत्काल केशलोंच करके उन्होंने मुनिदीक्षा लेली तथा एक वर्ष का कायोत्सर्ग योग धारण करके उसी स्थान मे अडिग-अचल तप:लीन हो गये। युद्ध पोतनपुर नगर के बाहर सीमान्त प्रदेश में हुआ था—वही योगिराज बाहुबलि आतापन योग धारण करके स्थित हो गये।

भगवान बाहुबलि के इस अभूतपूर्व दुर्द्धर तपश्चरण के रोमांचक वर्णन प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में प्रभूत मिलते हैं। इतना ही नहीं, उसकी स्मृति मे भ० बाहुबलि की जो मूर्तियां निर्मित हुई उनमें उन्हें ध्यानस्थ मुद्रा में अविचल खड्गासीन प्रदर्शित किया गया है। उनके इर्दगिर्द दीमकों ने ऊंची बांबियां बनाली, माधवी आदि लताएँ उनके पैरों, हाथों, कटि आदि के चहुंओर लिपटती बढ़ती गईं। शरीर पर सर्प, बिच्छू, छिपकली आदि अनेक जन्तु रेंगने लगे। अनुश्रुति है कि महाराज भरत ने ही उनकी इस रूप की सवा-पांच सौ उत्तुंग उस प्रतिमा उस तप: स्थान पर ही निर्मापित कराकर प्रतिष्ठित की थी। कलान्तर में उक्त मूर्ति को कुक्कुट सर्पों ने ऐसा आच्छादित कर दिया कि वह लोक के लिए अदृश्य हो गई। भट्टारक बाहुबलि की मूर्तियां प्राय: इसी रूप एवं मुद्रा मे निर्मित हुई और उन्ही से वे पहिचानी जाती है। ध्यानस्थमुद्रा और खड्गासीन तन पर लिपटी माधवी आदि लताएँ तो सर्वत्र प्रदर्शित हैं, कुछ मे बांबियां भी प्रदर्शित हैं, कुछ मे शरीर पर रेंगते सर्प, बिच्छु आदि जन्तु भी अंकित हैं। एक मूर्ति के साथ यक्ष-यक्षि अंकित किए गये प्रतीत होते हैं, यद्यपि बाहुबलि तीर्थंकर नही थे और यक्ष-यक्षि अंकन तीर्थंकर प्रतिमाओं के परिकर मे किये जाने का विधान एव परम्परा है। कर्णाटक की चार प्राचीन मूर्तियों में श्रवणबेल्गोल वाली उत्तराभिमुखी है, कार्कल की पश्चिमाभिमुखी, वेणूर की पूर्वाभिमुखी और श्रवणप्पगिरि की दक्षिणाभिमुखी है। कुछ बाहुबलि मूर्तियों में उपासक-उपासिकाएं भी अंकित हैं, किन्तु चार मूर्तियां—श्रवणप्पगिरि, घुसई, देवगढ़ और महोबा की ऐसी हैं जिनमे बाहुबलि के दोनों ओर एक-एक स्त्री खड़ी है जो उनके मुख की ओर देखती, कुछ सम्बोधन-सा करती हुई, तथा उनके शरीर पर लिपटी लता आदि हटाती हुई-सी लगती है। एक किंवदंती है कि जब एक वर्ष के आतापन योग से भी बाहुबलि के कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई तो समवसरण मे भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि से उसका कारण जानकर महासती ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने आकर भाई को सम्बोधा था और कहाया कि 'हे भ्रात्! मानरूपी गज से नीचे उतरो और स्वकल्याण करो।' सभव है कि इसी घटना का वह मूर्तांकन हो। कहा जाता है कि योगिराज बाहुबलि के मन मे यह विकल्प रहा कि मैं भरत की भूमि पर ही खड़ा हूं। जिनसेनाचार्य के अनुसार उनके मन मे यह विकल्प रहा कि मेरे कारण भरत को कष्ट पहुंचा है। भरत को जब यह तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने आकर बाहुबलि की पूजा की और उनका समाधान किया। इस विषय में प्राय: सभी लेखक एकमत हैं कि बाहुबलि के मन मे कोई मानकषायजन्य ऐसा शल्य या विकल्प बना रहा जो उनकी सिद्धि मे बाधक बना। भरत अथवा ब्राह्मी एवं सुन्दरी के सम्बोधन से वह उस विकल्प से मुक्त हुए और तत्क्षण क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया।

भ० बाहुबली की तप:स्थली तक्षशिला का बहिर्भाग था या पोतनपुर का, इस विषय में मतभेद है। पोतनपुर की स्थिति का भी कोई पता नहीं है। वीरमार्तण्ड चामुण्डराय ने अपनी जननी कलालदेवी की दर्शनेच्छा की पूर्ति के लिए स्वगुरु अजितसेनाचार्य एवं नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के निर्देशन में शिल्पीश्रेष्ठ अरिष्टनेमि द्वारा श्रवणबेलगोल की विन्ध्यगिरि के शिखर पर जब वह विश्वविश्रुत ५७ फीट उत्तुंग विशाल बाहुबलि प्रतिमा निर्माण कराकर चैत्रशुक्ल पंचमी रविवार महावीर निर्वाण सं० १५०८

(सन् ९८१ ई०) में प्रतिष्ठापित कराई तो उस समय यही कहा गया था कि क्योंकि पोदनपुर का मूल विग्रह (उत्तर कुक्कुटेश्वर जिन) अदृश्य एवं अप्राप्य हो चुका है, अतः उसके स्थानापन्न रूप से इस दक्षिण-कुक्कुटेश्वर-जिन की स्थापना की गई है। यतः महाराज चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मट या गोम्मटराय था, यह मूर्ति कालान्तर मे गोम्मटेश या गोम्मटेश्वर बाहुबलि के नाम से विख्यात हुई। फिर तो शनैः-शनैः गोम्मट भी बाहुबलि का पर्यायवाची बन गया।

चिरकाल तक यह समझा जाता रहा कि बाहुबली मूर्तियों में श्रवणबेलगोलस्थ गोम्मटेश्वर ही सर्वप्राचीन हैं और अन्य समस्त उपलब्ध बाहुबलि प्रतिमाएँ उसके पश्चात् तथा उसी के अनुकरण पर निर्मित हुई। किन्तु यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। उसके पूर्व की भी अनेक बाहुबलि मूर्तियां उपलब्ध है— चम्बल क्षेत्र में मन्दसौर जिले के घुसई स्थान से प्राप्त बाहुबलि मूर्ति ४थी-५वी शती ई० की अनुमान की गई है, बादाम की ६ठी-७वी शती की, एलोरा की ८वीं-९वी शती की, हुमच्च की गुड्डरबसदि मे तोलपुरुष विक्रम सान्तर द्वारा प्रतिष्ठापित बाहुबलि मूर्ति ८९८ ई० की है। महोबा, देवगढ़, श्रवणप्पगिरि आदि की कई मूर्तियां लगभग १०वीं शती की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विशिष्ट शैली मे बाहुबली मूर्तियों के निर्माण की परम्परा श्रवणबेलगोल की मूर्ति के निर्माणकाल से पांच-छः शताब्दियो पूर्व तक पहुंच जाती है।

उपलब्ध प्राचीन साहित्य मे भगवान बाहुबली का सर्वप्रथम उल्लेख भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के भावपाहुड़ की गाथा ४ में प्राप्त होता है—

देहादिचत्तसंगो माणकसायेण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियकालं॥

जिससे स्पष्ट है कि देहादि समस्त परिग्रह से मुक्त हो जाने और दीर्घकाल तक आतापन योग से एक ही स्थान मे अचल खड़े रहने पर भी मानकषाय से मन के रंजित होने के कारण बाहुबली को सिद्धि नही हो पा रही थी।

प्रथम शती ई० मे विमलसूरि द्वारा रचित प्राकृत पउमचरिउ के उद्देशक-४, गाथा३६-५५ मे बाहुबलीवृत्त दिया है—उसमे उन्हें तक्षशिला का स्वामी बताया है। पराजित भरत ने बाहुबली को वैराग्य से विरत करने के लिए समस्त राज्य उन्हे सौंप देने का प्रस्ताव भी किया बताया है। वह एक वर्ष का कायोत्सर्ग योग धारण करके स्थिर हुए थे, यह भी लिखा है, किन्तु उनके मन के किसी शल्य या विकल्प का उल्लेख नही किया।

रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण (६७६ ई०) के पर्व ४, पद्य ६७-७७ में बाहुबलि को पोदनपुर का नरेश सूचित किया है। उनके अहम्भाव का भी संकेत किया है और उभय सैन्य को अलग रख कर परस्पर विविध द्वन्द्वयुद्ध (दृष्टि-जल-बाहु) का तथा अन्त मे बाहुबलि के विरक्त होकर एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्कम्प खड़े रह कर प्रतिमायोग धारण करने का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि उनके पास अनेक बामियां लग गईं जिनके बिलों से निकले बड़े-बड़े सर्पों और श्यामा आदि की लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया था—इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तथा यह कि इस अवसर्पिणी मे उन्होने ही सर्वप्रथम मोक्षमार्ग विशुद्ध किया।

जिनसेन पुन्नाट के हरिवंशपुराण (७८३ ई०) के सर्ग ११ (पृ० २०२-२०५) में भी बाहुबली को पोदनपुर का स्वामी बताया है, बाहुबली द्वारा भरत के प्रतिकूलता प्रकट करने पर दोनों का युद्ध के लिए

सन्नद्ध होना, मन्त्रियों के प्रस्ताव पर धर्मयुद्ध (त्रिविध द्वन्द्व युद्ध) करना, भरत का पराजित होकर चक्र चलाना, बाहुबलि का वैराग्य, कैलाश पर्वत पर जाकर एक वर्ष का प्रतिमायोग लेकर निश्चल खड़े रहना, माधवी लता एवं बामियों से निकले मणि सर्पों द्वारा शरीर का आवेष्ठित होना, भरत द्वारा नमस्कार किये जाने पर कषायों से मुक्त होकर केवलि-जिन के रूप में भगवान ऋषभदेव के समवसरण में सभासद बनना वर्णित हुआ है। इस पुराण में एक विचित्र संकेत है (श्लो० १०१) कि दो खेचरियाँ (विद्याधरियाँ) उनके शरीर पर लिपटी लता आदि को हटाती रहती थी—यही वह रहस्य है जो कतिपय बाहुबलि मूर्तियों के साथ अंकित युगल स्त्री मूर्तियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है।

जिनसेन स्वामि (ल० ८३७ ई०) ने अपने आदिपुराण (पर्व ३५-३६, पृ० १७२-२२०) में बाहुबली वृत्तान्त विस्तार से दिया है। स्थूलतः हरिवंश पुराण से अन्तर नहीं है सिवाय अधिक विस्तार के इसमें भी बाहुबली का पोदनपुर नरेश व स्वाभिमानी होना, भरत के दूत को तिरस्कृत लौटाना, त्रिविध द्वन्द्व रूपी धर्मयुद्ध, बाहुबलि का वैराग्य, बन में जाकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण करना, लता एवं बामी से निकलते सर्पों द्वारा शरीर का वेष्टित होना, भरत को मेरे निमित्त से दुःख पहुचा है, इस विकल्प का बना रहना, भरत द्वारा नमस्कार एवं स्तुति करने से विकल्पमुक्त होकर कैवल्य प्राप्त करने आदि का सुन्दर वर्णन है। इस पुराण में बाहुबली के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम महाबली दिया है।

इन्हीं जिनसेन के शिष्य, उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य ने अपने आत्मानुशासन (श्लो० २१७) में बाहुबली की मुक्ति में बाधक उनके मानरूपी शल्य का संकेत किया है—

> चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहु संस्थं यत्प्राव्रजन्ननु न वैव स तेन मुञ्चेत्।
> क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय, मनो मनागपि क्षतिमहती करोति ॥

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने अपभ्रंशमहापुराण (६६५ ई०) की सन्धि १६-१८ मे भी विस्तार के साथ बाहुबली का इतिवृत्त दिया है। इसी प्रकार चामुण्डराय के कन्नड महापुराण, मल्लिषेण के महापुराण, दामनंदि के पुराणसार, हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि सभी जैन महापुराणों में बाहुबली का इतिवृत्त प्राप्त होता है। उत्तर काल में, विशेषकर कन्नड भाषा मे कई स्वतन्त्र भुजबलिचरित भी लिखे गये।

बाह्य एव आभ्यन्तर, लौकिक एवं आत्मीक स्वातन्त्र्य की साकार सजीव मूर्ति भगवान बाहुबली का पुण्य चरित्र और उनके अप्रतिम विग्रह के दर्शन लोक को सदैव धन्य करते रहेंगे।

> तुभ्यं नमोऽस्तु निखिल—लोक विलोचनाय,
> तुभ्यं नमोऽस्तु गुण अनन्त सुबोधकाय।
> तुभ्यं नमोऽस्तु परमार्थ गुणाकराय,
> तुभ्यं नमोऽस्तु विभवो जिनगोम्मटाय !
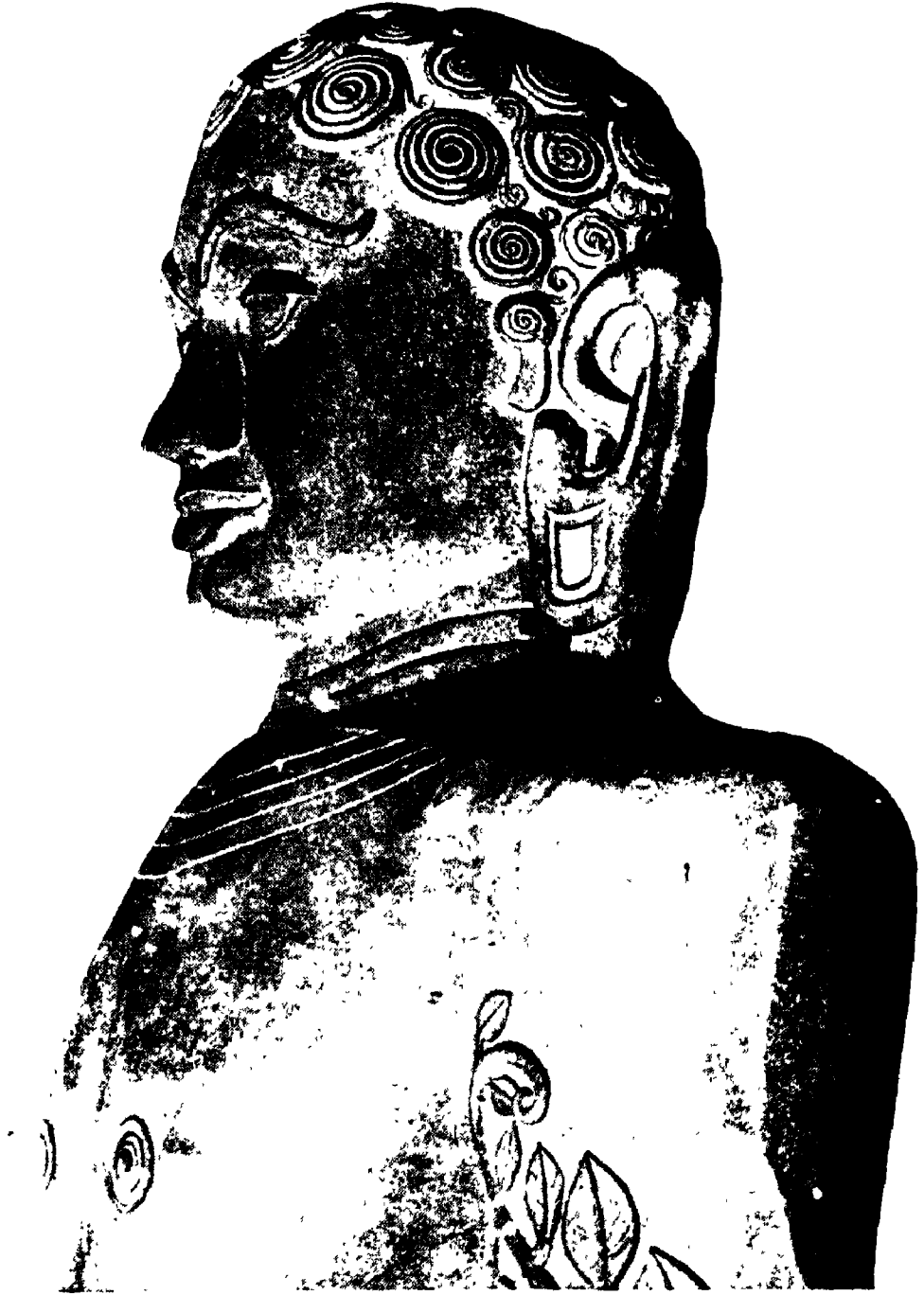
ज्योतिनिकुंज
चारबाग, लखनऊ-१

ज्योतिप्रसाद जैन

योगचक्रेश्वर भगवान् बाहुबली
फिरोजाबाद (जिला आगरा), उत्तर प्रदेश

The 57-foot high statue of Lord Bahubali (also known as Gomateshwara) was carved out of a single rock in 981 AD. It is believed to be the world's biggest monolithic statue

श्री गोम्मटेश्वर की ५७ फुट ऊंची सुविशाल प्रतिमा
श्रवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३३ किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०७, वि० सं० २०३७ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८०

गोम्मटेस-थुदि

(गोम्मटेश-स्तुति)

(आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती विरचित)

विसट्ट-कंदोट्ट-दलाणुयारं ।
सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं ।।
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।१।।

अच्छाय-सच्छं-जलकंत-गंडं ।
आबाहु-दोलंत सुकण्ण-पासं ।।
गइंद-सुण्डुज्जल-बाहुदण्डं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।२।।

सुकण्ठ-सोहा जिय-दिव्व संखं ।
हिमालयुद्दाम - विसाल-कंधं ।।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।३।।

विज्झायलग्गे पविभासमाणं ।
सिहामणिं सव्व-सुचेदियाणं ।।
तिलोय-संतोसय-पुण्णचंदं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।४।।

लयासमक्कंत - महासरीरं ।
भव्वावलीलद्ध-सुकप्परुक्खं ।।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।५।।

दियंबरो यो ण च भीइ जुत्तो ।
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ।।
सप्पादि जंतुप्फुसदो ण कंपो ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।६।।

आसां ण ये पेंक्खदि सच्छदिट्ठि ।।
सोक्खे ण वंछा हयदोसमूलं ।।
विरायभावं भरहे विसल्लं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।७।।

उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं ।
सुसम्मजुत्तं मयमोहहारयं ।।
वस्सेय पज्जंतमुववास जुत्तं ।
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।८।।

□□□

गोम्मटेश्वर बाहुबली का सहस्राब्दी महामस्तकाभिषेक

☐ श्री गणेश प्रसाद जैन

भगवान गोम्मटेश्वर-बाहुबली की श्रमणबेलगोला की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर स्थित उत्तग प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक २२ फरवरी १९८१ को होने जा रहा है। वर्षों पूर्व से इस महामस्तकाभिषेक की तैयारी श्री १०५ भट्टारक चारुकीर्ति जी के निर्देशन में चल रही है। सम्पूर्ण धार्मिक-अनुष्ठान एलाचार्य मुनि श्री १०८ विद्यानन्द जी महाराज के तत्वाधान में विधिपूर्वक सम्पन्न होगे। अनुमान है कि इस महोत्सव के अवसर पर कम-से-कम दस लाख भक्तजन जुड़ेंगें। उनके निवास के लिये अनेक उपनगर निर्माण कराये जा रहे है।

उक्तमस्तकाभिषेक के निमित्त देश के अनेक भागो मे "जनमंगलमहाकलश" का विहार होगा। इस "जनमगल-महाकलश' के विहार का शुभारंभ प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी के हाथों २९ सितम्बर १९८० के दिन दिल्ली मे हुआ है। यह जनमगलमहाकलश देश की परिक्रमा करते हुए २१ फरवरी १९८१ तक 'श्रमणबेलगोला' पहुंचेगा।

"गोम्मटेश्वर और श्रमणबेलगोला" दोनो ही शब्द कन्नड़-भाषा के है। गोम्मटेश्वर का अर्थ है 'कामदेव' (अतिसुन्दर) और श्रमणबेलगोला का अर्थ है—"जैन-मुनियो का धवल-सरोवर। इस भूमि पर असख्य साधकों ने तपस्या कर लक्ष्य प्राप्त किया है।

विन्ध्यगिरि के दक्षिण विस्तार मे इन्द्रगिरि (दोड्डबेट) और चन्द्रगिरि (चिक्कबेट) नाम की पहाडियो की तलहटी में स्थित बसती (बस्ती) का नाम श्रमणबेलगोला है। कोई-कोई इसे श्रमणबेलगुल' भी कहते है। इसका शान्त वातावरण समशीतोष्ण ऋतुएं साधको के लिये अति अनुकूल है। इसे दक्षिणकाशी, जैनबद्री, देवलपुर और मोहम्मदपुर भी कहा जाता है।

उत्तरभारत म जब महादुष्काल के १२ वर्षों की सम्भावना श्रुतकेवली भद्रबाहु को लगी तो १२००० बारह हजार मुनियो के सघ सहित वह दक्षिण भारत चले गये। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली, और मुनि सघ के साथ वह दक्षिण चला गया।

भद्रबाहु ने विशाख मुनि को मुनि सघ का आचार्य पद देकर मुनि-सघ को चोलपाण्डय आदि राज्यो की यात्रा के निमित्त भेज दिया, और स्वयं नव प्रव्रजित मुनि चन्द्रगुप्त के साथ कटवप्र पर्वत पर रुक गये। वहाँ उन्होंने तपस्याये तपी, और आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक प्राण-विसर्जन किया। गुरु के पश्चात् भी चन्द्रमुनि उसी पहाड़ी पर १२ वर्षों तक कठिन तपस्याओं की साधना करते रहे। उन्होने भी समाधि मरण द्वारा मुक्ति लाभ लिया। जिस पहाडी पर श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रमुनि ने तपस्या की उसका नाम आज चन्द्रगिरि और जिस गुफा में वे निवास करते थे। उसका नाम चन्द्रगुफा प्रख्यात है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव (आदिनाथ) युवराज थे, तब उनका विवाह कच्छ और महाकच्छ राजा की राजकुमारियों यशस्वी और सुनन्दा से हुआ था। यशस्वी से भरतादि एक सौ पुत्र और ब्राह्मी नाम की कन्या, एव सुनन्दा से एक पुत्र बाहुबली और सुन्दरी नाम की एक कन्या थी। महाराज ऋषभदेव ने वैराग्य होने पर युवराज भरत को उत्तराखण्ड (उत्तर-भारत) का, और राजकुमार बाहुबली को दक्षिणपथ का शासन सोप दिया। और स्वय मुनि दीक्षा लेकर तपस्या करने वन-खण्ड को चले गए।

महाराजा भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। उन्होंने चतुरंगिणी सेना के साथ छः खण्ड पृथ्वी पर दिग्विजय किया। लौटने पर राजधानी अयोध्या के प्रवेश द्वार पर चक्ररत्न अटक गया। एक भी शत्रु शेष रहने पर चक्र-रत्न राजधानी में प्रवेश नहीं करता। विचार-विमर्श पश्चात् ज्ञात हुआ कि महाराज भरत के

अनुज पोदनपुर के महाराज बाहुबली ने अभी तक महाराजा भरत की आधीनता स्वीकार नहीं की है। जिससे उनका चक्रीत्व पूर्ण न होने से 'चक्ररत्न' राजधानी मे प्रवेश नही कर पा रहा है।

भरत ने अनुज बाहुबली को कहलाया—बाहुबली आकर मेरे चक्रीत्व-यज्ञ का स्वय समापन करें। महाराजा बाहुबली को महाराजा भरत के इस सन्देश मे चुनौती का आभास मिला। उन्होंने दूत से उत्तर मे कहला दिया। पोदनपुर का शासन स्वतन्त्र है और रहेगा। उसे आधीनता स्वीकार नही है। वह अपनी महत्ता युद्धभूमि मे स्वीकार करायें।

दोनों ओर की चतुरंगिणी सेनायें रण-भूमि में आ जुटी। मंत्रीपरिषद्, सेनाध्यक्ष और सेनापतियों का मण्डल वहाँ एकत्रित हो गया युद्ध प्रारम्भ होने वाला ही था, तभी सेनापतियो ने कहा—सगे भाइयों के युद्ध मे हम सैनिक सम्मिलित नहीं होगे। द्वन्द्व युद्ध से वे लोग जय-विजय स्वयं निर्णय करें। मन्त्रीपरिषद् सेनापतियों के बात से समर्थित हो भाइयों ने द्वन्द्व-युद्ध की घोषणा कर दी। तीन प्रकार के द्वन्द्वयुद्ध निश्चित हुए। जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध। तीनों युद्धों मे बाहुबली विजयी रहे। पराजित भरत ने बाहुबली पर चक्र से घात कर दिया। चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर भरत की ओर लौट रहा था। चक्र परिवार का घात नही करता।

उपस्थित जन समूह अनीति-अनीति कह कह चिल्ला उठा था। परन्तु जब चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा कर रहा था, तभी सबने बाहुबली की जयजयकार से आकाश को गुन्जरित कर दिया। भरत ग्लानि से क्षुब्ध मलीन मुख पृथ्वी को देखते खडे थे। वह चाह रहे थे कि पृथ्वी फट जाय और वह उसमें समा जाँय।

दूसरी ओर बाहुबली के मस्तिष्क मे द्वन्द्व मचा था। ज्येष्ठ-भ्राता ने सत्ता के लोभ मे विवेक को भुला दिया है। यही महत्त्वकांक्षा विनाश की मूल है। बनें भरत चक्रवर्ती, मेरा मार्ग तो पिता वाला है। मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने का। हमने भी इसी राज्य-सम्पदा के लोभ में आकर अग्रज भरत का अपमान कर अपकीर्ति ही तो कमाया। अपने अहं, बाहुबल के अहंकार से वशीभूत हो द्वन्द्व युद्ध किया। सामाजिक व्यवहार में भी अनुज अग्रज का सेवक है। मुझे उनके चक्रीत्व यज्ञ में सहायक होना चाहिये था, किन्तु मैंने विघ्न डाला। मेरे पिता ने जिस राज्य सम्पदा को तृणवत् त्यागा था उसी का मैं लोभी बना। धिक्कार है मुझे मैं अब इस मायावी का त्याग कर मुनि दीक्षा लूंगा। कठिन तपस्याओं की आराधना साध मोक्ष सम्पदा को वरण करूँगा।

बाहुबली अग्रज भरत के चरणों से लिपटे निवेदन कर रहे थे, अग्रज! आप मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरे 'अहं' ने मुझसे ये सारे अकृत्य कराये। आपको शारीरिक और मानसिक क्लेश मैंने दिया। हमारे ९९ भाइयों और दोनों बहिनों ने पिता के महान विचारो को समझा और उनका पथ अनुसरण किया। उस आदर्श को मेरे अहंकार ने मुझे भुलवा दिया था। आज दृष्टि खुल गई है। मैं वन को जारहा हूँ। मुनिव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त करूँगा।

स्वयं चक्रवर्ती भरत, उपस्थित मन्त्रिपरिषद, सेनानायक, सैनिक उपस्थित प्रजा-गण सभी द्वारा बाहुबली के जयकार से गगन गुंजित हो उठा। पड़ोसी की बोली सुनना दुश्वार था। चारों ओर बाहुबली के त्याग की चर्चायें चल रही थी। तीनो द्वन्द्व-युद्धों में विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी सर्व का त्याग कर मुनिव्रत की आकांक्षा? आश्चर्य महान आश्चर्य।

तभी वह कामदेव की साक्षात् प्रतिमूर्ति, आजानबाहु सारे राजसी ठाठ-बाटो को वही छोड़ एकाकी निर्ग्रन्थ मन से उतावलीपूर्वक कदम बढ़ाता वन-खण्ड को प्रस्थान कर गया। गहन वन के मध्य पहुंच कर महाराजा बाहुबली ने अपने राजसी वस्त्राभूषणो को उतार फेंका। दिगम्बर बन कर एक बड़े शिलाखण्ड पर पालथी मार कर बैठ गये। हाथो की मुट्ठियो से कुन्तल केश राशि उखाड़ फेंकी। और वहीं भूमि पर खड्गासन मे खड़े हो गये।

तीन बार ॐ नमः सिद्धेभ्यः कह कर ध्यानस्थ हो गये। दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, पक्ष पर पक्ष, मास पर मास बीतते रहे। ऋतुओं जाड़ा, गर्मी, वर्षा के झंझा वात आये चले गये। परन्तु वह तपस्वी अचल-अटल बना उसी भूमिखण्ड तपस्या मे लीन बना रहा कटीली वन लतायें

जाघों से होती बाहुओं में लिपटती कानों तक पहुंच रही थीं। पावों के पंजों के निकट बिच्छुओं सर्पों और चीटियों बिल बना बसेरा ले रही थीं। परन्तु वह अडिग तपस्वी उग्र साधना मे दत्तचित्त लगा था।

तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समवसरण में जाकर चक्रवर्ती भरत ने अर्हंत भगवान से जिज्ञासा प्रगट की—भगवन् तपस्वी बाहुबली को इतनी कठोर तपस्या के बाद भी मोक्ष क्यों नहीं हो रहा है? तीर्थंकर की वाणी खिरी। वत्स। तपस्वी बाहुबली के मन मे एक भारी शल्य चुभ रही है, कि जितनी भूमि खण्ड पर खड़ा होकर मैं तपस्या कर रहा हूं, वह भी चक्रवर्ती भरत की है। जिस समय उन्हे इस शल्य का समाधान मिल जायेगा, उसी समय उन्हे मोक्ष हो जायेगा।

चक्रवर्ती भरत ने समवसरण से सीधे बाहुबली के तपस्या भूमि पर पहुंच कर तपस्वी बाहुबली के चरणों मे साष्टांग नमस्कार करते हुए कहा। भगवन् आप कहा भूले हुए हैं। यह आपके मन मे कैसी शल्य लगी हुई है? मैं तो आपके चरणों का सेवक हूं। पृथ्वी न कभी किसी की रही है, न कभी रहेगी। महामुने! शल्य का त्याग करें। इतना सुनते ही तपस्वी बाहुबली को मोक्ष प्राप्त हो गया। इन्द्र ने देवपरिषद के साथ आकर भगवान बाहुबली का मोक्ष कल्याणक महोत्सव उस भूमि पर मनाया।

चक्रवर्ती भरत ने उस महातपस्वी बाहुबली की उस तपस्या भूमि पर रत्नो से उनके कद की प्रतिमा निर्माण करा कर उस भूमि पर उसकी स्थापना कर उस स्थल को तीर्थधाम बना दिया। दूर अतिदूर से भक्त जन वहां की यात्रा के लिए आने लगे। क्रम-क्रम काल ने इस तीर्थ धाम पर अपनी काली छाया बिखेरना प्रारम्भ कर दिया, और वह तीर्थ दुर्गम बन गया। वन-वृक्षों, कटीली लताओं के मण्डपो से घिरा, कंकड़ीले अगम मार्ग पर जनों का जाना असम्भव हो गया। उस तीर्थ की यात्रा बन्द हो गई और तभी एक दिन···

श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने शिष्य वीरवर चामुण्डराय की माता को उस तीर्थ की महानता का वर्णन सुना दिया। माता प्रतिज्ञा ले बैठी कि मैं जब तक उस तीर्थ की यात्रा कर उस बाहुबली भगवान की प्रतिमा का दर्शन न कर लूंगी तब तक दूध और दूध से निर्मित वस्तुओं का उपभोग न करूंगी। चामुण्डराय को माता की प्रतिज्ञा ज्ञात हुई, उन्होने नगर और निकटवर्ती स्थलों में घोषणा करवा दी कि जो भगवान बाहुबली की तीर्थ यात्रा को चलना चाहे निःसकोच भाव से चल सकता है।

गगावंशीय नरेश राचमल के प्रधान सेनापति और मन्त्री वीरवर चामुण्डराय सघ सहित नित्य आगे बढते मंजिल पार कर रहे थे। एक दिन ऐसा आया, कि उस दुर्गम पथ पर अनेक प्रयासो के बाद भी आगे बढना असम्भव हो गया, तब वह इन्द्रगिरि पहाडी के तलहटी मे पड़ाव डाल कर आगे बढ़ने के कार्यक्रम पर विचार-विमर्श के लिये रुक गये। दिन भर के विचार-विनिमय के पश्चात् भी कोई समाधान न निकला।

तभी रात्रि मे जब सब लोग निद्रा में अलमस्त थे, शासन देवी ने आचार्य नेमिचन्द्र, चामुण्डराय और उनकी माता जी को एक साथ स्वप्न देकर कहा कि कल प्रातः काल उषाबेला से पूर्व अपने सब नित्य कर्मों से निवृत्त होकर इन्द्रगिरि की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ कर चामुण्डराय सामने वाली बडी पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी की बड़ी शिला का छेदन स्वर्ण बाण से कर दें। भगवान बाहुबली की प्रतिमा का सघ को दर्शन होगा।

शासनदेवी के आदेशानुसार पुलकित मन से चामुण्डराय ने स्वर्ण बाण से सामने वाली पहाड़ी की सब से ऊँची और बड़ी चट्टान को बींध दिया। दशो दिशायें प्रतिध्वनित हो उठी। बींधी शिला की परतें झरने का क्रम कुछ देर तक चला, और उस शिला मे कामदेव सरीखा अति सुन्दर एक मुख बाहुबली भगवान का प्रगट हो पड़ा। सघ ने भगवान बाहुबली की प्रतिमा के मुख का दर्शन कर अपने को सराहा। भगवान गोम्मटेश्वर के जयकार से दोनो पहाड़ियां गुंजरित हो उठी। जय गोम्मटेश्वर, जय बाहुबली।

शिल्पकारो की छैनी उस बड़ी चट्टान को काट कर मानव आकृति के विधान मे जुटी अहर्निश पूर्ण योग दे रही है। चामुण्डराय शिल्पियो के निर्देशन और अन्य व्यवस्थाओ मे दत्तचित्त हो कार्य सम्पन्न कर रहे है।

(शेष पृ० १० पर)

प्रतिमा की पृष्ठभूमि

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र सरोज, एम० ए०

प्रतिमा की सहस्राब्दी :

जिस पावन प्रतिमा ने एक सहस्र बसन्त, एक सहस्र हेमन्त, एक सहस्र ग्रीष्म, एक सहस्र शरद और एक सहस्र शिशिर काल देखे तथा मध्ययुग मे सहस्र जीवन-संघर्ष उत्थान पतन, सुख-दुख मूलक परिसर-परिवेश देखे, उस पुनीत प्रतिमा को आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सान्निध्य मे सेनापति और अमात्य चामुण्डराय ने सन् ९८१ मे स्थापित किया था और इस पावन प्रतिमा का सहस्राब्दी महोत्सव २२ फरवरी ८१ को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है।

संघर्ष-आक्रमण-विग्रह, संस्कृति-जन्म-जीवन-मरण देखते और लेखते हुए महामानव भगवान बाहुबली की जीवन्त प्रतिमा अदम्य उत्साहपूर्वक आज भी गौरव से मस्तक उन्नत किए खड़ी है, अपनी ऐतिहासिकता और पावनता तप और त्याग, वीतरागता और विराटता की प्रतीक बनी है।

जिस प्रकार बाहुबली की प्रतिमा वस्तु कला मे अप्रतिम है उसी प्रकार बाहुबली अपने मानवीय जीवन मे भी अप्रतिम थे। उनका बल, उनका भोग, उनका ध्यान, उनका योग उनकी स्वतन्त्रता, उनका स्वाभिमान, उनका केवल ज्ञान, उनका मोक्ष-प्रस्थान उनका सारा जीवन ही एक अप्रतिम था। वे जैसे पहले कामदेव थे वैसे सर्वप्रथम मोक्षगामी भी थे। विस्मय की बात तो यह है कि तीर्थंकर नही होकर भी वे तीर्थंकर से पहले मोक्ष गये। वे अपने पिता श्री ऋषभदेव या महाप्रभु आदिनाथ, जो इस युग के सर्वप्रथम तीर्थंकर थे, उनसे भी पहले मोक्ष चले गए।

बाहुबलि मे क्या गुण थे ? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे यह प्रश्न पूछना ही समुचित समाधान कारक होगा कि बाहुबली में क्या-क्या गुण नही थे ? अर्थात् वे सभी पुरुषोचित सद्‌गुणों से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके विषय में तो यह भी जनश्रुति है कि प्रव्रज्या के उपरान्त और मोक्ष के प्रस्थान तक उन्होंने एक ग्रास आहार भी ग्रहण नहीं किया। उनकी अद्वितीय क्षमता को देख कर लगता है कि जैसे उनमे सभी मानवों का साहस पुंजीभूत हो गया हो। बाहुबली का जीवन और चरित्र यथानाम तथोगुण; का केन्द्रबिन्दु है।

बाहुबली की प्रतिमा के विषय में सुप्रसिद्ध मूर्तिकार मूलचन्द्र रामचन्द्र नाठा ने अभिमत दिया—एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतिमायें सहस्रों की संख्या मे आजकल उपलब्ध है जिनके दर्शन और पूजन करने के लिए हम तीर्थ क्षेत्रो पर जाते हैं परन्तु उनमे वह सौन्दर्य, वह कला नहीं है, जो श्रवणबेलगोला के बाहुबली की प्रतिमा में है। शिल्पकला की दृष्टि से यह प्रतिमा अद्वितीय और अप्रतिम, अप्रतिद्वन्दी और अजातशत्रु है।

प्रतिमा की रूप रेखा :

मैसूर संस्थान के चीफ कमिश्नर मि० बोरिंग ने स्वयं माप कर प्रतिमा की ऊँचाई ५७ फीट बतलाई। प्रतिमा के अवयवों का सक्षिप्त विवरण सप्रमाण निम्नलिखित है—

प्रमाण	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	५०	—
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	६	६
चरण की लम्बाई	९	—
चरण के अग्रभाग की चौड़ाई	४	६
चरण का अँगूठा	२	९
पाद पृष्ठ के ऊपर की गोलाई	६	४
जाघ की ऊपरी आधी गोलाई	१०	—
नितम्ब से कान तक	२४	६
रीढ़ की अस्थि अधोभाग से कर्ण तक	२०	—
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	१३	—
कटि और टेहुनी से कान तक	१७	—
बाहुमूल से कान तक	७	—
तर्जनी उँगली की लम्बाई	३	६
मध्यमा उँगली की लम्बाई	५	३
अनामिका की लम्बाई	४	७
कनिष्टका की लम्बाई	२	८
गरदन के नीचे भाग मे कान तक	२	६
मूर्ति की कुल ऊँचाई	५७	—

गोमटेश्वर द्वार की बायी ओर जो शिला लेख है, वह सन् १०८० का है, उसमें कन्नड़ कवि प० बोप्पण ने मूर्ति की महिमा का प्रतिपादक एक काव्य लिखा है,

जिसका हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद निम्नलिखित है—

जब मूर्ति आकार मे बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमे प्रायः सौन्दर्य का प्रभाव रहता है। यदि मूर्ति बड़ी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमे देवी चमत्कार होना असम्भव लगता है परन्तु गोम्मटेश्वर (कामदेव और चामुण्डराय के देवता) बाहुबली की मूर्ति ऊँची-बड़ी सुन्दर साश्चर्य-चमत्कारिणी है। दूसरे शब्दों मे ५७ फुट ऊँची होने से बड़ी है, सौन्दर्य मे अद्वितीय है और देवी चमत्कार-सम्पन्न है, अतएव यह प्रतिबिम्ब सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियों द्वारा दर्शनीय और पूजनीय है। इस तथ्य को समझ कर ही शायद कर्नाटक सरकार ने श्रवण बेलगोला को पर्यटन-स्थल बनाया।

बाहुबली की निरावरणता :

दिगम्बर जैन मूर्तियों की निरावरणता के रहस्य को जो लोग नही समझते है, वे नग्नता के साथ अपनी अश्लील भावनायें भी जोड़ लेते हैं। शिवव्रतलाल वर्म्मन सदृश अन्य लोग भी चाहे तो दिगम्बर जैन मदिर मे जाकर 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पै धरै' तुल्य प्रतिमा के दर्शन करके भूल सुधार सकते है। हिन्दी वाङ्मय के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार के शब्दो मे सूर्य सत्य तो यह है कि मनुष्य जब आता है तब वस्त्र साथ नही लाता है और जब जाता है तब भी वस्त्र साथ नही ले जाता है। वस्त्रों का उपयोग जन्म से मरण के मध्य सामाजिक जीवन के लिए ही है। निर्विकार होने से साधु-जन निर्वस्त्र भी रह सकते हैं इसलिए दिगम्बर साधुओ सदृश परम हंस और मादर जात फकीर भी होते रहे है।

भगवान बाहुबली ने निरावरण होकर, वस्त्राभूषण त्यागी होकर पुनीत साधना की थी और जब बाहर सदृश भीतर से भी निरावरण राग द्वेष रहित हुए तब ही उन्हे केवल ज्ञान की महामणि मिली और मुक्ति श्री भी। उनकी प्रतिमा भी एक सहस्राब्दी से निरावरण ध्यानस्थ वीतराग मुद्रा में खड़ी है और पुरुषो को ही नही बल्कि पशु-पक्षियों को भी दिव्य शान्ति का सन्देश दे रही है। बाहुबली की प्रतिमा की निरावरणता से प्रभावित होकर अब तो जैनेतर विद्वान भी दिगम्बरता के प्रति द्वेष भाव को छोड़ कर परम प्रीति को प्राप्त होने लगे है।

भगवान बाहुबली की निरावर्णता को लक्ष्य कर भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर ने अतीव मर्म-स्पर्शी हृदयोद्‌गार व्यक्त किये हैं, जो अक्षरशः अविकल माननीय हैं—

सांसारिक शिष्टाचार में फँसे हुए हम मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह नग्न है। क्या नग्नता वास्तव मे हेय है ? अत्यन्त अशोभन है ? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते है। प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है, वे शिशु भी नंगे रहते है। उनको अपनी नग्नता मे लज्जा नही लगती।

मूर्ति मे कुछ भी बीभत्स जुगुप्सित अशोभन अनुचित लगता है, ऐसा किसी भी दर्शक मनुष्य का अनुभव नही है। कारण नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य ने विकारो को आत्मसात करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नही होती। दोष नग्नता का नहीं अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे फल पौष्टिक मेवे या सात्त्विक आहार भी स्वतन्त्रता पूर्वक नही रखा जा सकता। दोष खाद्य पदार्थ का नही, बीमार को बीमारी का हैं। यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नही बल्कि अपने मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने मे नग्नता की सुरक्षा नही लज्जा ही है।

जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त पवित्र हो जाता है वैसे ही पुण्यात्माओं-वीतरागो के सम्मुख भी मनुष्य शान्त गम्भीर हो जाता है। जहाँ भव्यता और दिव्यता है वहाँ मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असम्भव नही होता पर तब तो बाहुबली भी स्वय अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब निरावरणता ही उन्हें पवित्र करती है तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का है ?

निष्कर्ष यह निकला कि निर्विकार श्रमण की नग्नता निन्दा योग्य नहीं है बल्कि विकारग्रस्त समाज की अश्लीलता मूलक नग्नता ही अतीव निन्दनीय है, संशोधन

योग्य है।

बाहुबली की योग-साधना :

प्रथम मुनि और प्रथम तीर्थंकर महाप्रभु आदिनाथ ने छह माह के लिए प्रतिमा योग धारण किया था पर उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एक वर्ष के लिए प्रतिमा योग स्वीकार किया। इसके पहले भरत सम्राट ने छह खण्ड पृथ्वी जीत कर जो कीर्ति उपार्जित की, जिससे वे चक्रवर्ती कहलाए, ऐसे भरतेश्वर की विजयलक्ष्मी दैदीप्यमान चक्र-मूर्ति के बहाने बाहुबलि के समीप आई परन्तु बाहुबलि ने उसे तृणवत समझ कर छोड़ दिया। भरत के चक्र चलाने का कारण यह था कि बाहुबली दृष्टियुद्ध जलयुद्ध और मल्लयुद्ध मे विजित हो चुके थे और उनके चक्र ने बाहुबली का बाल बांका भी नही किया था।

बाहुबली योग-साधना मे लीन है। एक स्थान एक आसन पर खड़े रहने का नियम लिए है। न आहार है न विहार और न निहार, न निद्रा है और न तन्द्रा, केवल ज्ञान है और ध्यान। एक से अधिक माह यो ही बीते। समीप का स्थान वन-वल्लरियो से व्याप्त हो गया, उनके चरणो के समीप सर्पों ने वामियां बना ली। वामियो से सर्पों के बच्चे निकल रहे, उनके लम्बे-लबे केश कन्धों तक लटक रहे, फूली हुई वासन्ती लता अपनी शाखा रूपी भुजाओ से उनका आलिंगन कर रही।

बाहुबली महान अध्यात्म योगी है। इन्होंने शरीर से आत्मा को पृथक् समझ लिया है। ये अपनी आत्मा को अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय देख रहे है। अनन्त गुणो के पुंजस्वरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी मे तन्मयरूप चारित्र, यो ये भी निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणमन कर शुद्धोपयोग मे लीन हो रहे पर कालान्तर मे कभी उत्कृष्टतम शुभोपयोगी भी हो जाते है। इन्होने ध्यान और तपश्चरण के बल से मति, श्रुत अवधि और मनः पर्यय चार ज्ञान प्राप्त कर लिए। चूंकि ये तपस्यामूलक श्रम से अणु भर भी मन मे खेद खिन्न नहीं है अतएव आत्मिक आह्लाद की उज्ज्वल झलक इनके सुमुख पर है।

शरीर पर लतायें चढ़ गईं। सर्पों ने वामियां बना ली। विरोधी वनचर प्रशान्त होकर विचरण कर रहे। बाहुबली सुमेरु सदृश सुदृढ़ हो रहे और निष्कम्प प्रतिमा योग धारण किए है और अब पूर्णतया केवलज्ञानी हो गये हैं इसलिए चक्रवर्ती भरत उनकी प्रशंसा कर रहे है—

आपकी एकाग्रता, आपका धैर्य धन्य है। आपने आहारादि संज्ञाओं सदृश क्रोधादि चार कषायों को ही नही जीता बल्कि चार घातिया कर्मों को भी जीत लिया और अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के धनी हो गए। स्वर्ग के देवता और मर्त्यलोक के मनुष्य स्तुति कर रहे—

आपने जैसा ध्यान किया वैसा ध्यान भला कौन कर सकता, ध्यान-चक्रवर्ती योगीश्वर बाहुबली तृतीय काल मे जन्मे, जीवन जिया, जीवन्मुक्त हुये और मुक्ति श्री का वरण भी किया। यद्यपि भगवान बाहुबली तीर्थंकर नही थे तथापि उनकी प्रतिमाएँ कारकल, मूडबिद्री, बादामि पर्वत संग्रहालय बबई, जूनागढ़ खजुराहो, लखनऊ, देवगढ़, तिलहरी, फिरोजाबाद, हस्तिनापुर, एलोरा आदि मे है। यह उनके अप्रतिम त्याग और अद्भुत तपश्चरण का ही प्रभाव है जो आज भी उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगम्बरत्व गौरवान्वित हो रहा है।

महाश्रमण गोमटेश्वर बाहुबली की दिगम्बर मूर्ति युग-युग तक असंख्य प्राणियों को सुख और शान्ति, सन्तोष और समृद्धि बन्धन और मुक्ति, भोग और योग स्वतन्त्रता और स्वाभिमान का सन्देश देती रहेगी और सृष्टि को शिव का मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी तथा अतीत की भांति आज भी अपने चरित्र और चारित्र का पुनरावलोकन करने के लिए प्रेरणा देती रहेगी।

जब तक सूर्य और चन्द्र प्रकाश देते है, सरितायें बहती है, सरोवर लहराते है, समुद्र उद्वेलित होते हैं तब तक भारतीय संस्कृति की ज्वलन्त उदाहरण जैसी गोमटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का पूजन-अर्चन-वन्दन करते हुये भक्तजन श्रैविद्यदेव नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के स्वर मे स्वर मिला कर कहते रहेंगे—

परम दिगम्बर ईतिभीति से रहित विशुद्धि विहारी।
नाग समूहों से आवृत फिर भी स्थिर मुद्रा धारी॥
निर्भय निर्विकल्प प्रतिमायोगी की छवि मन लाऊं।
गोमटेश के श्रीचरणों में बारम्बार झुक जाऊं॥

२२, बजाजखाना, जावरा (म० प्र०)

बाहुबली बोले

श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', एम० ए०

आदिनाथ का तनय बाहुबलि तुम सबको प्रेरित करता हूँ।
यत्न करो, नीचे से ऊपर उठो नित्य यह कहता हूँ॥
सदियों से यद्यपि मौन खड़ा, देखा करता नित नील गगन।
तथापि मेरे मानस पर शत अंकित जीवन के परिवर्तन॥
अगणित वर्षों से छत्र किये मेरे ऊपर नभ के बादल।
श्रम-युक्त हुआ विहगों का दल मंडराता होकर कुछ चञ्चल॥
रवि-शशि निशि-दिन प्रतिवेला, उपहार मुझे देते आला।
पद-पूजा नित करती आकर, सन्ध्या-ऊषा रूपी बाला॥
सत्य अमावास्या में पाता, निस्तब्ध सरोवर शान्त हुआ।
देखा करता ज्योत्स्ना में, भूतल चाँदी का कान्त हुआ॥
मेरी मुख मुद्रा पर अंकित, शत सत्य त्याग के भाव सबल।
मेरे चिर परिचित हैं जितने, उनके श्रद्धामय भाव प्रबल॥
मैंने महलों की माया में, सुख-दुख के देखे वातायन।
जहाँ दिखा था गायन-नर्तन, सुना वहाँ पर क्रन्दन-रोदन॥
मैंने देखे अपनी आँखों वे राजाओं के सेनानी।
जो नगरों के रत्न लूटते, जिनके हमले थे तूफानी॥
देखी राज्यों में उलट-पुलट, सम्राटों को मिटते देखा।
मानव के जीवन को मैंने, दुख-भोगों में लुटते देखा॥
पर मैं युग-युग से मौन खड़ा, हूँ आत्मध्यान में सतत मगन।
इससे ही मुझको प्राप्त हुआ अनन्त सुख वह जीवन दर्शन॥
मानव तू मुझसे पूछ नहीं किसने मेरा निर्माण किया?
मैं कहता विषयों में फँस कर तूने जीवन निष्प्राण जिया॥
सीधे मानव हो सावधान तू जड़ शरीर से ऊँचा।
उतनी ऊँची तेरी आत्मा धरती से जितना नभ ऊँचा॥
यदि सचमुच ही यत्न करे तो नर से बन जावे नारायण।
लग जावे आत्म साधना में हो सफल मन्त्र का पारायण।
आदिनाथ का तनय बाहुबलि उद्धार तुम्हारा करता हूँ।
यत्न करो नीचे से ऊपर उठो नित्य यह कहता हूँ॥

२२, बजाजखाना, जावरा (रतलाम) म० प्र०

जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

सूर्योदय हुआ। चक्रवर्ती भरत और पराक्रमी बाहुबली पुष्पों से उपचित रणभूमि में आ गये। सारा नाराणय देवताओं से भर गया। भरत और बाहुबली के मस्तकों पर किरीट शोभित हो रहे थे। दोनो महान प्रतापी अपने शरीर पर कवच धारण किए हुए थे। दोनो एक ही जयलक्ष्मी का वरण करने को समुत्सुक थे। देवताकुल परस्पर विजय संदर्भित वितर्कणा कर रहे थे।

बिगुल बजा। 'दृष्टियुद्ध' आरम्भ हुआ। दोनो महाबलियों की उत्साह से सराबोर आँखे केहरि की भाँति एक दूसरे को घूर रही थी। भीगी पलको के अन्तराल में तारायें डूब रही थी। देवता, मनुष्य और किन्नर परस्पर मे आश्चर्य प्रदर्शित कर रहे थे। प्रहर बीत चला। जिस प्रकार दिवावसान मे भास्कर रश्मियां मंद हो जाती उसी प्रकार भरत की आँखे श्रान्त हो गईं। भरत हार गए।

अनन्तर में 'शब्दयुद्ध' प्रारम्भ हुआ। दोनो राजहस्तियों के सिंहनादो से कुञ्जर मृग-सदृश सत्रस्त हो गए। भयभीत वल्लरियाँ वृक्षो से जा लिपटी और कान्तायें अपने प्रियतमो से आलिंगित हुईं। मृगेन्द्र अपने गह्वर में जा छिपे। भुजगमो ने नागलोक का आश्रय ले लिया। सम्पूर्ण जगतीतल शब्दमय, अतिशय आतंकमय हो गया। यद्यपि भरत का सिंहनाद चहु ओर ध्वन्यायित हुआ तथापि बाहुबली के सिंहनाद मे वैसे ही ढका जा रहा था जैसे समुद्र मे मिलने वाला नदी का प्रवाह उदधि-कल्लोलों से आच्छन्न हो जाता है। भरत श्रम से थक गए। क्षणभर आँखें बन्दकर वह विश्रामार्थ विराज गए। बाहुबली विजयी हुए।

तदनन्तर 'मुष्टियुद्ध' हेतु दोनों भुजबलियों ने अपनी-अपनी मुट्ठियाँ तान लीं। मदोन्मत्त हाथी की तरह क्षयकालीन वात्याचक्र की तरह उछलते हुए एक दूसरे के सामने खड़े होकर परस्पर भुजायें उठा ली। कुपित हो भरत ने दृढमुष्टि से बाहुबली की छाती पर प्रहार किया। रोष आवेश में बाहुबली की आँखें विकराल हो गई। नासिका उच्छ्वास की वायु से भर गई। बाहुबली तक्षक की भाँति फुफकारने लगे। उन्होने भरत को उठाकर आकाश मे फेंक दिया। भरत आकाश मे इतनी दूर उछले कि दीखने बन्द हो गए। बाहुबली का मन अनुताप से भर गया, नानाविध सकल्पो मे उलझ गया। इतने में ही भरत आकाशमार्ग मे दीख पड़े। बाहुबली ने उन्हें अपनी भुजाओं से झेल लिया। भरत क्रुद्ध हो गए। जीत बाहुबली की हुई।

अन्त मे 'मल्लयुद्ध' की बारी थी। युद्ध आरम्भ हुआ। भरत के तीव्र प्रहारो से बाहुबली टखने-घुटने तक भूमि में धँस गए। उन्होने पुन. प्रहार करना चाहा लेकिन बाहुबली सभल चुके थे। उन्होने भरत पर प्रहार किया। भरत गले तक भूमि मे धँस गए। भरत घबड़ा गए। उनकी आँखें भय से भयभीत थी। बाहुबली ने देखा तो मन उनका खिन्न हो गया। उन्होने बार-बार सोचा किया कि यह मैंने क्या किया? शरद के चन्द्रमा सा निष्कलंक पूज्य पिता का वंश और मुझ द्वारा किया गया कलंक से पंकिल कर्म। मैं जानता हूँ सभी युद्ध क्रीड़ाओ में मेरी विजय हुई है तथापि धरणी के लिए अग्रज को मारना उचित नही है। इधर बाहुबली स्वगत कथन मे निमग्न-संलग्न थे उधर वातावरण हर्ष-विहँस उठा। विजय की दुन्दुभि बज उठी। लेकिन भरत ने अपनी पराजय को स्वीकार नही किया। वह बाहुबली से बोले-- "अनुजमन! अभी भी प्रणिपात कर लो, व्यर्थ ही क्यो मरते हो। अपने भुजबल के अहं को छोड़ दो। देखो, मेरे दीप्त चक्र की अग्नि मे तप्त-उत्तप्त होकर राजा कही भी सुख नही पा सके, फिर तुम क्या हो?"

भरत की वाणी सुन बाहुबली कुपित हुए और बोले—

"भाईवर ! तुम अपने आपको ही प्रभु मान रहे हो ? क्या मैं तुम्हारी इस प्रकार की बातो से डर जाऊँगा ? क्या मैं इस लोहे के टुकड़े चक्र से भयभीत हो जाऊँगा ?"

भरत से रहा न गया उन्होंने दीप्ति से जाज्वल्यमान चक्र को जोर से फेंका। वह चक्र बाहुबली के पास आकर चक्रवर्ती भरत की ओर मुड़-बढ गया। बाहुबली का रोष बढा और वे मुष्टिप्रहार से भरत को मारने दौड़े। तभी आकाशवाणी हुई—"हे बाहुबलि ! व्यर्थ अपने बल को युद्ध में नष्ट-विनष्ट कर रहे हो ? यह भवितव्य हेतु शुभ-कर नही। तुम्हे अपने क्रोध का संहरण करना पड़ेगा। भरत द्वारा आचीर्ण चरित्र को विस्मरण करना होगा। तुम्हे आत्म कल्याणार्थ अग्रसर होना है। मुनिपद की साधना करना है।"

आकाशवाणी सुन बाहुबली का रोष-आक्रोश शमित-शांत हुआ। बाहुबली ने अपने बल का प्रयोग हाथ से सिर के केश लुचन में किया और वे महाव्रतधारी मुनि बन गये। भोगी से योगी बन गए। यह देख भरत की आंखें डबडबा आईं। उन्होंने प्रेम प्रवण वचनों से मुनीन्द्र बाहु-बली की वंदना की।

बाहुबली कायोत्सर्ग में लवलीन थे। शरीर उनका मोक्ष का हेतु बन गया था। एक नही बारह महीने बीत गए। अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हुई। उनके मन में अहं का अकुर जो विद्यमान था। विभु ऋषभदेव ने यह जाना। उन्होने अपनी प्रव्रजित दुहिताओं ब्राह्मी और सुन्दरी को शका निवारणार्थ भेजा। उन्होने अपने बन्धु को प्रतिबोध दिया—"मुनीन्द्र ! गज से उतरिए।" बस फिर क्या था प्रतिबद्ध बाहुबली ने अहं के अंकुर को समूल उखाड़ फेंका। विनय के प्रवाह मे वे निमग्न हो गये। प्रबुद्ध हो गए। निरावरण ज्ञान की उपलब्धि हो गई। बाहुबली सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१

(पृ० ४ का शेषांश)

तन्मयता ने ५७ फुट उन्नत कामदेव सरीखी मानव आकृति को सन्तुलित रूप में सर्जन कर दुनियां को आठवां आश्चर्य भेंट कर दिया। ५७ फुट उन्नत नग्न खडी बिना आधार की यह प्रतिमा पहाड़ की सबसेऊंची चोटी पर आज एक हजार वर्षों से खडी भारतीय और विदेशी भक्तो का तीर्थ धाम बनी हुई है। यह धाम आज अन्तर्राष्ट्रीय तीर्थस्थल है।

प्रतिमा के मस्तकाभिषेक की परम्परा प्रतिमा के स्थापना दिवस से (कुभ के सदृश्य) १२ वर्षोंमे की है। परन्तु इस विधान मे अक्सर व्यवधान उपस्थित होता रहा है। २०वीं शती का मस्तकाभिषेक का क्रम इस प्रकार रहा है, १६०६, १६२५, १६४०, १६५२ और १६६७। अब २२ फरवरी १६८१ को हो रहा है।

सन् १६५२ ई० के मस्तकाभिषेक के अवसर पर मैसूर नरेश श्रीमन्त महाराजा कृष्णराज ने कहा था—"जिस प्रकार भगवान बाहुबली के अग्रज चक्रवर्ती भरत के साम्राज्य के रूप मे इस देश का नाम भरत वर्ष (बाद मे भारतवर्ष) कहलाया, उसी प्रकार यह मैसूर राज्य की भूमि भी भगवान गोम्मटेश्वर के आध्यात्मिक-साम्राज्य की प्रतीक है।

कल्कि संवत ६०० मे विभव संवतसर चैत्र शुक्ला ५ वार रविकुभ लग्न, सौ-मोयग्य योग, मृगाशिरा नक्षत्र मे प्रतिमा की प्रतिष्ठा और प्रथम मस्तकाभिषेक हुआ था। वर्तमान विद्वानो की गणनानुसार उस दिन २३ मार्च १०२८ ई० सन् था।

पोदनपुर के महाराजा बाहुबली को सुन्दरता के कारण गोम्मट कहा जाता था, अतएव गोम्मट की प्रतिमा गोम्मटेश्वर के नाम से विश्व में प्रख्यात हुई, और वह अपनी बहुमुखी प्रतिभा, शिल्प की अद्भुतता बिना आधार की ५७ फुट ऊँची प्रतिमा सभी ऋतुओं के विविध झझावातों का वरण करते हुए जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों मे प्रत्यक्ष प्रतीक रूप में अनुभव करा कर जन-जन का कल्याण कर रही है।

आज हम सहस्राब्दी महा महोत्सव की पवित्र बेला में भगवान बाहुबली गोम्मटेश्वर के चरणों में अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए अघा नहीं रहे हैं।

बनारसी माल के व्यापार, बसन्ती कटरा,
ठठेरी बाजार, वाराणसी-२२१००१

श्रवणबेलगोल के शिलालेख

□ श्री सतीशकुमार जैन, नई दिल्ली

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल मे अभी तक ५७३ शिलालेख ज्ञात हुए है। इन शिलालेखों के कारण श्रवणबेलगोल तथा जैन धर्म के दक्षिण मे प्रसार का प्राचीन इतिहास तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त यह शिलालेख वहाँ के स्थापत्य, निर्माण, निर्माताओं, राज-परिवारों, धर्म परायण व्यक्तियों आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते है।

मैसूर राज्य में शिलालेखों से संबंधित खोज एवं उनके संकलन के कार्य का आरंभिक श्रेय एक अंग्रेज विद्वान मि० बी० एल० राइस को प्राप्त होता है जिन्हें सन् १८८० मे मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग का अंशकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था। उन्होने अपने बारह वर्ष के सेवा काल में, सन् १९०६ तक, उस समय तक मैसूर राज्य मे सम्मिलित आठ जिलो तथा कुर्ग से, जो उस समय एक स्वतन्त्र रियासत थी, ८८६९ शिलालेखों का सकलन किया। इन शिलालेखों को उन्होने Transliteration एवं अंग्रेजी मे अनुवाद सहित ऐपिग्राफिया कर्नाटिका नामक पुस्तक के बारह भागों मे प्रकाशित करवाया। भाग दो में केवल श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेखों का ही संकलन है। सन् १९०६ मे श्री राइस के सेवा निवृत्त होने पर रामानुजापुरम् नरसिंहाचार्य (१८६०-१९३६) उस पद पर आरूढ़ हुए। अपने सोलह वर्ष के सेवाकाल मे उन्होने ५००० और शिलालेखों की खोज की। उनमें से महत्वपूर्ण शिलालेखों को उन्होंने राज्य के पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्टों मे भी प्रकाशित करवाया। मि० राइस ने ऐपिग्राफिया कर्नाटिका के दूसरे भाग मे, जिसका प्रकाशन सन् १८८९ में हुआ था, श्रवणबेलगोल में उस समय तक प्राप्त केवल १४४ शिलालेखो का ही संकलन किया था। पुरातत्व के धुरन्धर विद्वान श्री नरसिंहाचार्य ने अथक परिश्रम करके जब सन् १९२३ मे इसका परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया तब उसमें ५०० शिलालेख संकलित थे। ऐपिग्राफिया कर्नाटिका भाग दो का सन् १९७३ मे अन्य परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित होने पर उसमें तब तक प्राप्त ५७३ शिलालेखो का सकलन किया गया है। कन्नड़ विद्या संस्थान, मैसूर विश्वविद्यालय मानस गंगोत्री, मैसूर ने इस परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन कर पुरातत्व प्रेमियों एवं शोधकर्त्ताओं पर विशेष उपकार किया है। इन ५७३ शिलालेखों मे केवल पाषाण पर अंकित लेख ही सम्मिलित हैं। कागज पर लिखी सनदें अथवा काष्ठो पर उत्कीर्ण लेख शिलालेखो के अन्तर्गत न आने का कारण उनमे नही दिए गए है।

इन ५७३ शिलालेखों मे से २७१ चन्द्रगिरि पर, १७२ विध्यगिरि पर, ८४ श्रवणबेलगोल नगर में तथा ५० समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण हैं। समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण ५० लेखों का विवरण इस प्रकार है: बस्तिहल्लि—१, बेका—४, बोम्मेणहल्लि - २ चलया—२, हैलेबेलगोल—१, हालुमत्तिगत्ता—२, हिन्दलहल्लि—१, हिरेबेल्टी—१, होमाहल्लि—३, जिननाथपुर—१६ जिण्णेहल्लि—२, कब्बलु—१, कन्तराजपुर—१, कन्यिरयापुर—२, कुम्बेणहल्लि—१, मट्टकाले—१, परमा—१, रागीबोम्मणहल्लि—१, साणेहलि—४, सुन्दाहल्लि—१, वड्डरहल्लि—२।

इन ५७३ शिलालेखों में १, लेख छठीं-सातवी शताब्दी का, ५८ लेख सातवी शताब्दी के २० लेख आठवीं शताब्दी के तथा १० लेख नौवी शताब्दी के केवल चन्द्रगिरि पर ही उत्कीर्ण हैं। दसवी शताब्दी तथा उसके पश्चात् १९वी शताब्दी तक के शेष लेख चन्द्रगिरि के साथ-साथ विध्यगिरि, श्रवण बेलगोल एव समीपस्थ ग्रामों मे भी मिलते है।

इन ५७३ लेखों में से १०० लेख मुनियों, आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओ के समाधिमरण से, ४० लेख योद्धाओं की स्तुति, आचार्यों की प्रशस्ति अथवा कुछ

विशेष स्थानों के उल्लेख से, १६० लेख संघों एवं यात्रियों की समृद्धि से (जिनमे १०७ लेख दक्षिण से आए हुए तथा ५३ लेख उत्तर भारत से आए हुए संघों अथवा यात्रियो के सम्बन्ध मे है) १०० लेख मन्दिरो के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर, उद्यान आदि के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर, उद्यान आदि के निर्माण से तथा १०० लेख दान तथा दातारों से सम्बन्धित है, शेष ७३ लेख अन्य विषयो पर है।

प्राचीन तमिल और कन्नड, तेलगु, मलयालम, मराठी भाषाओं के यह लेख अधिकतर तमिल की प्राचीन लिपि ग्रन्थ-तमिल, कन्नड लिपि, मलयालम लिपि, और नागरी लिपि मे हैं। संस्कृत एवं मराठी भाषा के लेख कन्नड लिपि में उत्कीर्ण है। कन्नड मलयालम, तमिल व तेलगु लिपि के लेखों के अतिरिक्त ३६ लेख देवनागरी लिपि में तथा कुछ लेख हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों की टीकरी लिपि मे भी उत्कीर्ण है। प्राचीन होने के कारण बहुत से शिला-लेखो के अक्षर घिस गए है अथवा मिट गए है। कुछ लेखों को अज्ञानतावश मूल स्थान से उठा कर अन्यत्र भी जड़ दिया गया है जिससे उनका सन्दर्भ निकालना कठिन हो गया है कि वह शिलालेख वस्तुतः किस स्थान के प्रति है। शिलालेखों मे अक्षर घिस जाने के कारण कही-कही पर स्थानो एवं साधुओ व आचार्यों का नाम स्पष्ट हो गया है। उन स्थानो अथवा महापुरुषो का अन्यत्र भी उल्लेख होने के कारण सन्दर्भ जोड कर उनके नाम पूरे पढे जा सके है, अथवा पूरे किये जा सके है। इन शिलालेखो द्वारा तद्वर्ती काल अथवा पूर्वकाल के दक्षिण क्षेत्र के जैन धर्मावलम्बी तथा जैन धर्म से प्रभावित नरेशो अमात्यों, सेनापतियों, श्रेष्ठियो आदि के विषय मे तथा विंध्यगिरि पर निर्मित एक ही शिलाखण्ड मे विश्व की सबसे ऊँची ५७ फीट अद्वितीय मूर्ति के अमात्य चामुण्ड द्वारा उत्कीर्ण कराने तथा विंध्यगिरि एवं चन्द्रगिरि पर अनेक जैन बसदियो स्तम्भो आदि के निर्माण के विषय मे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। इनमे यह भी ज्ञात होता है कि किस राजा या सेनापति के काल मे कौन से जैन आचार्य थे और कौन सा नरेश, अमात्य अथवा श्रेष्ठी किन जैन आचार्य अथवा साधु का शिष्य था।

विविध भाषाओं एवं लिपियों मे उत्कीर्ण इन शिला-लेखों से तथा उनके विषय मे यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व काल से ही श्रवणबेलगोल समस्त भारत का पवित्र तीर्थस्थल रहा है तथा यातायात के साधनो के अभाव मे भी इस दूरस्थ तीर्थ के प्रति उत्तर भारत तक के धर्मी बन्धुओ की श्रद्धा रही है और यात्रा के कष्ट उठा कर भी वह निरन्तर ही वहाँ गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति के दर्शन के लिए आते रहे हैं। इन शिलालेखो से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति अबकी भांति पूर्व मे भी भारत व्यापी थी तथा जैन धर्म अनेक नरेशो द्वारा सम्मानित था। ऐतिहासिक महत्व होने के अतिरिक्त इन शिलालेखो द्वारा पूर्व काल मे जैन साधुओ के धार्मिक कृत्यो जैसे सल्लेखनाव्रत अथवा समाधिमरण, व्रत, उपवास, तप ध्यान आदि के भी यथेष्ट उल्लेख मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने के लिए जैन साधु कितना अधिक शारीरिक परिषद झेलते थे तथा आत्म-चिन्तन मे लीन रहतेथे। साधुओ के सल्लेखना व्रत धारण करने अर्थात् समाधि मरण पूर्वक देह त्याग करने सम्बन्धी अनेक उल्लेख इन शिलालेखो मे मिलते है। धर्म भावना को अन्तरग में सुरक्षित रखते हुए संयम एवं साधना पूर्वक शरीर त्याग को ही सल्लेखना (समाधि मरण) कहा गया है।

इन शिलालेखों मे अनेक शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण है और उनमे भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इनमे सबसे प्राचीन छठी शताब्दी का चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर वाली शिला पर पूर्व कन्नड़ लिपि मे उत्कीर्ण लेख क्रमांक १। यह गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व उत्कीर्ण किया हुआ है। इसमें उल्लेख है कि त्रिकालदर्शी भद्रबाहु स्वामी को अष्टांग निमित्त ज्ञान द्वारा यह विदित होने पर कि उज्जयिनी तथा उत्तराचल मे १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है वह अपने संघ को उत्तरापथ से दक्षिण की ओर ले गए और क्रम-क्रम से जनपद, नगर, ग्राम पार करते हुए 'कटवप्र' अर्थात् चन्द्रगिरि पर पहुंचे। अन्त समय निकट जानकर उन्होंने अपने संघ को अन्यत्र चले जाने का निर्देश दिया और वहाँ पर उनके साथ केवल एक शिष्य प्रभाचंद्र

(इतिहास नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य) ही रह गए, भद्रबाहु स्वामी को वहां समाधिमरण हुआ और उनके पश्चात् ७०० अन्य साधुओं को भी वहां मे समाधिमरण हुआ। शिलालेखो का काव्य सरस तथा प्रवाहमय भाषा में सुन्दरतम शब्दावली मे रचा गया है। घटनाओं व दृश्यो का चित्रण बहुत सजीव हुआ।

सन् ११५३ में उत्कीर्ण लेखक्रमाक ७१ मे भद्रबाहु को श्रुतकेवली एवं चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य कहा गया है। सन् ११२९ मे उत्कीर्ण लेख क्रमांक ७७ मे जो पार्श्वनाथ बस्दि के एक स्तम्भ पर अंकित है लिखा है कि स्वामी भद्रबाहु का शिष्य बनने के कारण चन्द्रगुप्त की इतनी पुण्य महिमा हुई कि वन देवता भी उनकी सुश्रूषा करने लगे। लगभग सन ६५० मे अंकित शिलालेख क्रमाक ३४ मे उल्लेख है कि जो जैन धर्म मुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के तेज मे भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किंचित क्षीण हो जाने पर शातिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। नागरी लिपि के ११वी शताब्दी के शिलालेख क्रमांक २५१ मे जो चन्द्रगिरि पर भद्रबाहु गुफा म शिला पर उत्कीर्ण है उल्लेख है कि जिनचन्द्र स्वामी ने भद्रबाहु स्वामी के चरणों को नमस्कार किया। (श्री भद्रबाहु स्वामिय पादुमं जिनचन्द्र प्रणमता) चद्रगिरि पर्वत के शिखर पर भी चरण-चिह्न अंकित है। चरणो के नीचे १३वी शताब्दी मे उत्कीर्ण लेख क्रमांक २५४ मे उल्लेख है कि यह चरण भद्रबाहु स्वामी के है (भद्रबाहु भलि स्वामिय पाद)। उल्लेखनीय है कि कर्नाटक राज्य मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान श्री रगपट्टन के सन ९०० मे उत्कीर्ण एक लेख मे जो श्रवणाबेलगोल से सम्बन्धित है, उल्लेख है कि कलबप्पू शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण चिह्न बने हैं। सन १४३२ के विस्तृत लेख क्रमाक ३६४ में जो विध्यगिरि पर निर्मित सिद्धरबसदि के बाएं स्तम्भ पर अंकित है एव भद्रबाहु तथा चंद्रगुप्त की प्रशस्ति रूप में है, उल्लेख है कि चद्रगुप्त श्रुतकेवली भद्रबाहु कि शिष्य थे।

जैन इतिहास की दृष्टि मे यह शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्मावलम्बी होने, स्वामी भद्रबाहु के इस समय विशालतम साम्राज्य मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने तथा उत्तर-मध्य भारत मे जैन धर्म की व्यापकता एवं दक्षिण मे जैन धर्म प्रसार के विषय मे ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते है। इन शिलालेखो से संशलिष्ट है जैन संस्कृति की सार्वभौमिकता के सवाहक तथा उस समय के महान धर्मगुरु आचार्य भद्रबाहु तथा महान प्रतापी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य विधान, कूटनीति एवं अर्थ-व्यवस्था के महान आचार्य चाणक्य का जीवन वृत्त एव कृतित्व भी जो वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के निर्माता थे।

मूलसघ एव कुन्दकुन्द आम्नाय के आचार्यों की पट्टावली श्रवणबेलगोल के आधार पर ही तैयार की गई है। शिलालेख क्रमाक १ मे भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से लेकर भद्रबाहु स्वामी तक आचार्यों के नाम क्रमबद्ध रूप मे यहां दिए गए हैं जिसे सम्मिलित है लोहार्य, जम्बू स्वामी, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल कृतिकार्य, जयनाम सिद्धार्थ धृतसेन, बधिला। होयसल नरेश विष्णुवर्धन द्वारा दिसम्बर ११२४ मे उत्कीर्ण लेख क्रमाक ५६९ म भी गौतम गणधर स लेकर श्रीपाल त्रैविद्यदेव तक की परम्परा दी गई है। कुछ शास्त्रकारो तथा उनकी रचनाओं के विषय मे भी उल्लेख किये गये है। लेख क्रमाक ३६०, ७७, ७१, ५६९, ३६४ आदि मे कुछ शास्त्रकारो तथा उनकी रचनाओ के विषय मे उल्लेख किये गये है।

अनेक शिलालेखो मे जिनमे जैनाचार्यों की जीवन की घटनाओं का उल्लेख है अथवा जो उनकी प्रशस्ति रूप मे अंकित है उल्लेख किया गया है कि वे शास्त्रार्थ मे अति निपुण थे और उन्होने प्रतिवादियों को अनेकों बार ज्ञान एव तर्क द्वारा परास्त किया। दक्षिण वाले महानवमि मण्डप के एक स्तूप पर अंकित लेख क्रमाक ७० मे उल्लेख है कि १२वीं शताब्दी मे महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडित ने चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक, कापालिक एवं वैशेषिको को शास्त्रार्थ मे परास्त किया।

जैन मुनि मल्लिसेण की नैषिद्धया रूप मे सन् ११२८ मे अंकित विस्तृत लेख क्रम संख्या ७७ मे जो पार्श्वनाथ के स्तंभ पर अंकितहै उल्लेख है कि मुनि महेश्वर ने ७७ में जो पार्श्वनाथ के स्तंभ पर अंकित है उल्लेख है कि मुनि

महेश्वरने ७० बार शास्त्रार्थमें प्रसिद्ध प्रतिवादियों पर विजय प्राप्त की। लेख क्रमांक ३६० मे कहा गया गया है कि पण्डिताचार्य चारुकीर्ति का यश इतना प्रशस्त था कि चार्वाकों को अपना अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियाँ, भट्ट को अपने सब साधन एवं कणाद को अपना हठ छोड़ना पड़ा।

कत्तले बसदि के लेख क्रमांक ७९ में आचार्य गोपनन्दि की शास्त्रार्थ प्रतिभा के विषय में कहा गया है। अन्य मतों के विद्वानों की अपेक्षा में उन्हें मुनि पुंगव कहा गया है। शिलालेख का भावार्थ है कि उस प्रखर विद्वान के सम्मुख जो मत्तगज के समान है जैमिनी, सुगत, अक्षपाद, लोकायत एवं सांख्य जैसे विरोधी हाथी भी आतंकित हो गए, परास्त हो गए, लज्जा से मुंह बचा कर भाग गए आदि। प्रचुर सिद्धान्त-ज्ञान एवं विशेष तर्क शक्ति पर आधारित जैन साधुओं की शास्त्रार्थ श्रेष्ठता ही उनकी ११वी से १४वी शताब्दी के मध्य पनपे प्रबल धार्मिक विरोध से उनकी रक्षा कर सकी। कहा जाता है कि उनके तप एवं ध्यान के प्रभाव से सिद्धि रूप में अलौकिक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाते थे। सन् १३९८ में सिद्धर बसदि के स्तंभ पर उत्कीर्ण अत्यन्त विस्तृत शिलालेख क्रमांक ३६० मे वर्णन है कि चारुकीर्ति पण्डित मृतप्राय: राजा बल्लाल को स्वस्थ कर "बल्ला जीव रक्षक" उपाधि से विभूषित हुए थे। सन् १४३२ के एक अन्य विस्तृत शिलालेख क्रमांक ३६४ मे, जो सिद्धर बसदि के बाए स्तभ पर उत्कीर्ण है, कहा गया है कि उनके शरीर को छूकर जो वायु प्रवाहित होती थी वह रोगों को शान्त कर देती थी। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जैन साधकों तथा साधुओं ने धर्म प्रचार अथवा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कभी भी चमत्कार अथवा मंत्र-तंत्र को साधन नहीं बनाया। यह दूसरी बात है कि उनके तप एवं ध्यान के प्रभाव के कारण अलौकिक चमत्कार घटित हो जाते थे जिससे राजा तथा प्रजा प्रभावित होते थे।

शिलालेखों में अनेक महिलाओं का उल्लेख भी हुआ है जो राजवंश, सेनापतियों, मंत्रियों, तथा श्रेष्ठियों के परिवारों से सम्बन्धित थीं। इनमें उनके द्वारा किये गए निर्माण कार्य, धार्मिक कृत्यों समाधिमरण आदि का वर्णन है। इनमें होयसल नरेश विष्णुवर्धन की पत्नि शान्तला रानी, उनकी दूसरी पत्नी लक्ष्मी देवी, पोयसल सेठ की माता शान्तिकब्बे, गंगराज की माता पोचब्बे अथवा पोचिकब्बे, गंगायी, चन्द्रमौलि मंत्री की माता अक्कब्बे, नागदेव की पत्नी का कामल देवी के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों मे उत्कीर्णकर्ताओं ने शूरवीर तथा रण-कुशल एव रण-बांकुरे वीरों को अनेक उपाधियो से विभूषित कर उनके प्रति अपने हृदय का आदर प्रदर्शित किया है। अनेक शूरवीरो को तो एक साथ कई-कई उपाधियों से विभूषित किया गया है।

अनेक शिलालेखो मे उन करो के नाम भी दिए गए हैं जिन्हें श्रवणबेलगोल की तीर्थरक्षा, मन्दिरो के जीर्णोद्धार, प्रहरियों व कर्मचारियों के वेतन भुगतान तथा तीर्थ-व्यवस्था आदि के लिए लगाया गया था।

श्रवणबेलगोल के इन शिलालेखों में दक्षिण के अनेक राजवशों राष्ट्रकूट वश, गंगवश, कल्याण के चालुक्य वंश, द्वारसमुद्र के होयसल वश, विजयनगर के राजवश, मैसूर नगर के ओडेयार राजवंश, चगलव वंश, नुग्गेहल्लि के तिरूमल नायक' कदम्ब वश के नरेश कदम्ब, नोलम्ब एव पल्लव वंश, चोलवंश, निड्गलवंश आदि के नरेशों तथा उनके अमात्यो, सेनापतियो एव श्रेष्टियों के सम्बन्ध मे अनेक उल्लेख मिलते है जिनसे उनके जैनधर्म प्रेम, पराक्रम, साहस, शौर्य, समरकुशलता, विद्वत्ता, दानशीलता आदि पर यथेष्ट सामग्री उपलब्ध होती है।

होयसल वंश से सम्बन्धित शिलालेखों की संख्या इस प्रकार के शिलालेखों मे सबसे अधिक है। विष्णुवर्धन के काल के सन् १११३ से ११४५ के मध्य उत्कीर्ण १० लेख, जिन पर समय अकित नहीं है उसके समय के ८ लेख, नरसिंह प्रथम के काल के सन् ११५९ एवं ११६३ मे उत्कीर्ण ३ लेख, जिन पर समय अकित नही है उसके काल के ऐसे-ऐसे लेख, बल्लाल द्वितीय के काल के सन् ११७३, ११८१ एवं ११९५ मे उत्कीर्ण ५ लेख तथा जिन पर काल अंकित नहीं है उसके समय के ऐसे तीन लेख, नरसिंह देव द्वितीय के काल के सन् १११७ से १२७३ के मध्य उत्कीर्ण ६ लेख, तथा १२वीं शती में उत्कीर्ण २३ तथा १३वीं शती में उत्कीर्ण ४ अन्य लेख यहां मिलते हैं। राष्ट्रकूट वंश के नरेशों, कम्बय्य एवं इन्द्र चतुर्थ के आठवीं

तथा दसवीं शताब्दी के २ लेख, गंगवंश के सत्यवाक्य पेरमानडि, राग्रमल्ल द्वितीय, एरेगंग द्वितीय तथा मारसिंह द्वितीय आदि के नौवीं एवं दसवीं शताब्दी के १० लेख, विजयनगर साम्राज्यके शासकों बुक्कराय प्रथम, हरिहर द्वितीय, देवराय प्रथम तथा देवराय द्वितीय के ६ लेख, मैसूर के ओडेयार राजवंश के चामराज सप्तम, दोड्डदेवराज, चिक्कदेवराज, दोड्डकृष्णराज प्रथम, तथा कृष्णराज तृतीय के ६ लेख, चंगल्व वंश के चंगल्व महादेव का सन् १५०६ का १ लेख, नुग्गेहल्लि के तिरुमल नायक का सोलहवीं शती का १ लेख, कदम्ब वंश के कदम्ब राजा का नौवीं शताब्दी का एक लेख, शकर नायक (पल्लव) के १३वी शती के २ लेख, चोलवंश के चोल पेर्मडि का १०वी शती का १ लेख तथा १२वी शताब्दी के ३ लेख तथा निड्डुगल वंश के इरुंगोल के १२वी शती के २ लेख यहा उत्कीर्ण है।

उपरोक्त शिलालेखो के अतिरिक्त सैंकड़ो ऐसे शिलालेख भी है जिनमे उपरोक्त वर्णित वंशों के साथ-साथ अन्यान्य अनेक वंशो के नरेशो, मंत्रियों, सेनापतियो आदि के नामो, कृतित्व आदि का उल्लेख हुआ है।

होयसल काल के लेखो मे सबसे अधिक वर्णन हुआ है नरेश विष्णुवर्धन, उनकी पत्नी शान्तला, उनके मंत्री गंगराज तथा नरेश नरसिंह देव द्वितीय का। प्रतापी होयसल नरेश जैन धर्म के पालन एवं सरक्षण के लिए प्रसिद्ध रहे है। विनयादित्य द्वितीय (१०४७—११००) इस वंश का ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध प्रथम नरेश था जिसे राज सत्ता, शक्ति एवं यश जैन साधु शांतिदेव के आशीर्वाद से प्राप्त हुए थे। वह जैन धर्मावलम्बी शासक था। अपने राजकाल (११११—११४१) के प्रारंभिक वर्षों में होयसल वंश के सबसे प्रतापी एवं यशस्वी नरेश विष्णुवर्धन जैन धर्मावलम्बी ही थे और उनका नाम था बिट्टिगदेव अथवा बिट्टिदेव। रामानुजाचार्य के प्रभाव से शैव धर्म अंगीकार कर लेने के पश्चात् उन्होंने विष्णुवर्धन नाम धारण किया। उनसे पूर्व सभी होयसल नरेश जैन धर्मानुयायी ही थे। कहीं-कहीं अन्यत्र यह उल्लेख हुआ है कि धर्म परिवर्तन के पश्चात वह रामानुजाचार्य के प्रभाव से जैनों के प्रति कठोर रहे उनके द्वारा जैनों को शारीरिक यातनाएं दी गई तथा उनका वध भी कराया गया किंतु यह सत्य प्रतीत नही होता। उनके धर्म परिवर्तन के पश्चात भी उनकी प्रमुख पत्नी रानी शांतला जैन धर्मावलम्बी ही बनी रही और अपने पति की स्वीकृति से अनेक जैन मन्दिरों तथा जैनों को भेंट आदि देती रहीं। उनके जैन धर्मावलम्बी मंत्री गंगराज भी उनके विशेष कृपापात्र बने रहे तथा उनसे भेंट में प्राप्त गाँवों को गंगराज ने जैन बसदियों की व्यवस्था के लिए सौप दिया। जहाँ शांतला रानी ने हैलेबिड मे तीन सुन्दर जैन मन्दिरों पार्श्वनाथ बसदि, आदिनाथ बसदि तथा शांतिनाथ बसदि का निर्माण कराया उन्होंने अपने पति के साथ हैलेबिड में ही विश्व प्रसिद्ध होयसलेश्वर – शांतलेश्वर नामक अत्यन्त कलात्मक संयुक्त शैव मन्दिर का भी लगभग सन् ११२१ मे निर्माण पूर्ण करवाया। यह उन पति-पत्नी की धर्म सहिष्णुता का भली-भाँति परिचायक है। यह धर्म सहिष्णुता न केवल उन दोनो के काल तक ही विद्यमान रही अपितु उनके वैष्णव उत्तराधिकारियों, नरसिंह प्रथम (सन् ११४३—७३), वीर बल्लाल द्वितीय (११७३—१२२०) तथा नरसिंह तृतीय (सन् १२५४—९१) आदि ने भी जैन मंदिरो के निर्माण मे सहयोग तथा जैन आचार्यों के संरक्षण द्वारा उसका भली-भाँति निर्वाह किया।

शिलालेख क्रमसंख्या ८२ एवं ५०२ मे विष्णुवर्धन को *महामण्डलेश्वर, त्रिभुवन मल्ल, तलकाडुविजयेता, भुजबल-वीरगंग*—विष्णुवर्धन होयसल देव आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। अनेक शिलालेखों मे जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, उनसे प्राप्त गाँवों को उनके अत्यन्त विश्वासपात्र तथा स्नेहपात्र मंत्रि एवं सेनापति गंगराज ने जैन बसदियों की व्यवस्था केलिए भेंट कर दिया था।

अनेक शिलालेखो मे शांतला रानी के विषय मे विविध उल्लेख हुए है। उनसे उसके सौंदर्य, नृत्य एवं कला प्रेम, जैन धर्म एवं साधुओ मे आस्था तथा उसके द्वारा मन्दिर निर्माण आदि के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है। अपनी प्रतिभा, कला प्रेम तथा सौन्दर्य के कारण वह विष्णुवर्धन को सभी रानियो में सबसे अधिक प्रिय थी। अन्य रानियों (सौतों) में मत्तगज के समान उसका

उपनाम ही सर्वतिगधवारण पड़ गया था।

शांतला रानी के पिता शैव थे एवं माता जैन। उसने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धांतदेव की प्रेरणा से जैन धर्म के उन्नयन के लिए अनेक कार्य किए। श्रवणबेलगोल में सवतिगंधवारण मंदिर का निर्माण करवाया तथा सन ११२३ में वहाँ तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित की। शिलालेख क्रमांक १७६ एवं १६२ मे उसकी धर्म परायणता एव पातिव्रत की भूरि-भूरि प्रशसा की गई। इस अत्यन्त धार्मिक महिला ने सल्लेखना व्रत द्वारा सन ११३१ मे समाधिमरण किया।

अनेक शिलालेखो मे नरेश विष्णुवर्धन के निपुण मन्त्री एव वीर सेनापति जैन धर्मावलम्बी गगराज के वीरोचित गुणो, विष्णुवर्धन के प्रति निष्ठा, धर्म-प्रेम, जैन साधुओ के प्रति आदर एव भक्ति, उनके द्वारा जैन मन्दिरो के निर्माण, उनमे निर्माण कार्य, जीर्णोद्धार एव सरक्षण के विषय मे विस्तार से उल्लेख हुआ है। शिलालेख क्रमांक ८२ एवं ५६१ मे उल्लेख है कि जिस प्रकार इन्द्र के लिए उनका वज्र, बलराम के लिए उनका हल, विष्णु के लिए उनका चक्र, शक्तिधर के लिए शक्ति तथा वीर अर्जुन के लिए गांडीव धनुष उनके सहायक रहे है उसी प्रकार गगराज भी विष्णुवर्धन के राज्य-सचालन, सैन्य-विजय आदि मे सहायक रहे। वह विष्णुवर्धन के राज्य कार्य का कुशलता एव निष्ठा से सचालन करते थे।

शासन बसदि के द्वार के दाहिनी ओर एक पाषाण खड पर उत्कीर्ण विस्तृत शिलालेख क्रम सख्या ८२ मे यह उल्लेख है कि कन्नेगल के युद्ध मे चालुक्य नरेश त्रिभुवन मल्ल परमादिदेव को अनेक बार सामंतो सहित परास्त करने पर विष्णुवर्धन ने प्रसन्न होकर गगराज को कोई भी इच्छित वस्तु मागने के लिए कहा किन्तु धर्म प्रेमी गगराज ने केवल परमा नामक ग्राम भेंट मे लेकर उन मन्दिरो की व्यवस्था के लिए अर्पित कर दिया जिनका निर्माण उनकी माता पोच्चवे (पोच्चल देवी) तथा पत्नी लक्ष्मी द्वारा हुआ था। अन्य विजय करने के उपलक्ष मे उन्होने विष्णुवर्धन से गोविन्दवाडी ग्राम भेंट लेकर उसे गोम्मटेश्वर मूर्ति की व्यवस्था के लिए अर्पित कर दिया।

इनका सारा परिवार धार्मिक वृत्ति का तथा शुभचन्द्र सिद्धांतदेव का शिष्य था। लेख सख्या ८२ में ही उल्लेख है कि गगराज ने गंगवाड़ी में सभी जैन बसदियों (जिनालयों) का जीर्णोद्धार करवाया, गोम्मटेश्वर मूर्ति के चारों ओर परकोटे का निर्माण करवाया तथा जहाँ-जहाँ भी गंगराज का प्रभाव रहा और वह जिस स्थान से प्रभावित हुए वहां शिलालेखों का निर्माण करवाया। इस लेख में यह भी वर्णन है कि तिगुलो को गंगवाड़ी से निष्कासित कर उन्होने उसे विष्णुवर्धन को वापिस दिलवाया। कर्नाटक में अनेक जैन मन्दिरों के निर्माण का श्रेय गगराज को प्राप्त होता है।

गगराज ने अपने बड़े भाई बम्मदेव की पत्नी जक्कमब्बे की स्मृति मे लेख उत्कीर्ण करवा कर उसमे उनके द्वारा किए गए सुकार्यों का वर्णन किया है।

गगराज की माता पोचब्बे (पोच्चल देवी) तथा पत्नि लक्ष्मी धर्म परायण महिलाए थी। लक्ष्मी ने एरडुकट्टे बसदि का निर्माण करवाया, पति की माता पोचब्बे की स्मृति में कत्तले बसदि तथा शासन बसदि का निर्माण करवाया। उसने अपने बड़े भाई बूच एव बहिन देमेति की मृत्यु की स्मृति मे शिलालेख उत्कीर्ण करवाया तथा जैनाचार्य मेघचन्द्र की स्मृति मे भी लेख अकित करवाया।

इन शिलालेखो द्वारा होयसल राजवंश के अतिरिक्त अन्य राजवंशों के अनेक नरेशो, अमात्यों, सेनापतियो तथा श्रेष्ठियो आदि के विषय मे भी जानकारी प्राप्त होती है। जहा उड़ीसा मे भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी पर हाथी गुम्फा मे महाराजा खारवेल द्वारा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे उत्कीर्ण १७ पक्तियों वाला शिलालेख जैन शिलालेखों मे सबसे प्राचीन है एवं जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष ऐतिहासिक महत्व का है, श्रवणबेलगोल एवं उसके अचल मे अभी तक ज्ञात यह ५७३ शिलालेख एक ही स्थान पर पाये जाने वाले शिलालेखों में संख्या की दृष्टिसे सबसे अधिक है। कटवप्र (चन्द्रगिरि) पहाड़ी पर छठी सातवीं शताब्दी का उपरोक्त वर्णित शिलालेख क्रम संख्या १ तो इन सभी में सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्व का है। □□□

युद्धमल्ल, भुजविक्रम, समरधुरंधर, वीर मार्तण्ड चामुण्डराय श्रवणबेलगोल जो गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे और जिन्होंने विश्वप्रसिद्ध बाहुबली प्रतिमा की प्रतिष्ठापना कराई।

विश्वधर्म के प्रेरक एवं जैन संस्कृति के समर्थ उद्बोधक एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी महाराज, जिनकी सत्प्रेरणा और सतत सान्निध्य में फरवरी, १९८१ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक में भगवान् बाहुबली प्रतिमा प्रतिष्ठापना सहस्राब्द समारोह मनाया जा रहा है।

पोदनेश भगवान् बाहुबली, श्रवणबेलगोल
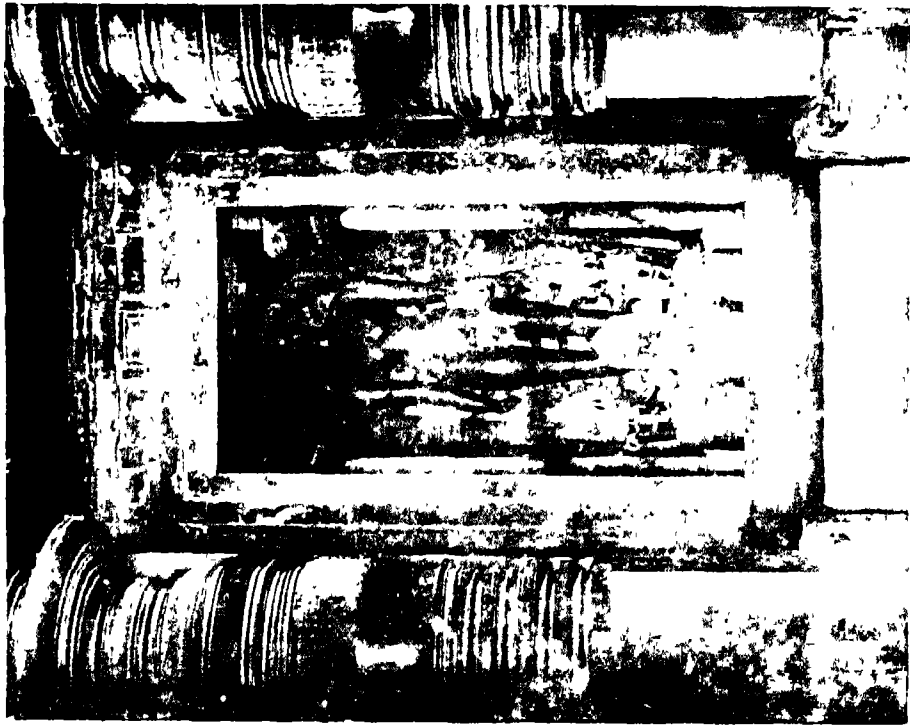
हलेबिड (दक्षिण भारत) के विजय पार्श्वनाथ

श्रवणबेलगोल-स्तवन

□ श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि'

तुम प्राचीन कलाओं का आदर्श विमल दरशाते।
भारत के ध्रुव गौरव-गढ़ पर जैन केतु फहराते।।
कला-विश्व के सुप्त प्राण पर अमृत रस बरसाते।
निधियों के हत साहस में नवनिधि-सौरभ सरसाते।।
आओ इस आदर्श कीर्ति के दर्शन कर हरषाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।१।।

शुभस्मरण कर तीर्थराज हे, शुभ्र अतीत तुम्हारा।
फूल-फूल उठता है अन्तस्तल स्वयमेव हमारा।।
सुरसरि-सदृश बहा दी तुमने पावन गौरव-धारा।
तीर्थक्षेत्र जग में तुम हो दैदीप्यमान ध्रुवतारा।।
खिले पुष्प की तरह विश्व में नवसुगन्ध महकाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।२।।

दिव्य विंध्यगिरि भव्य चन्द्रगिरि की शोभा है न्यारी।
पुलकित हृदय नाच उठता है हो बरबस आभारी।।
श्रुत-केवली सुभद्रबाहु सम्राट् महा यश-धारी।
तप-तप घोर समाधिमरण कर यहीं कीर्ति विस्तारी।।
उठो पूर्वजों की गाथाएं जग का मान बढ़ाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।३।।

सात-आठ सौ शिलालेख का है तुममें दुर्लभ धन।
श्रावक-राजा-सेनानी श्राविका-आर्यिका मुनिजन।।
धीर-वीर-गम्भीर कथाएं धर्म-कार्य संचालन।
उक्त शिलालेखों में है इनका सुन्दरतम वर्णन।।
दर्शन कर इस पुण्य क्षेत्र का जीवन सफल बनाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।४।।

पशु-रक्षा पर प्राण दिये जिन लोगों ने हँस-हँस कर।
वीर-बधू सायिबे लड़ी पति-संग समर के स्थल पर।।
चन्द्रगुप्त सम्राट् मौर्यका जीवन अति उज्ज्वलतर।
चित्रित है इसमें इन सबका स्मृति-पट महामनोहर।।
आ-आ एक बार तुम भी इसके दर्शन कर जाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।५।।

मन्दिर अति-प्राचीन कलामय यहां अनेक सुहाते।
दुर्लभ मानस्तम्भ मनोहर अनुपम छवि दिखलाते।।
यहा अनेकानेक विदेशी दर्शनार्थ है आते।
यह विचित्र निर्माण देख आश्चर्यचकित रह जाते।।
अपनी निरुपम कला देखने देशवासियों! आओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।६।।

प्रतिमा गोम्मटदेव बाहुबलि की अति-गौरवशाली।
देखो कितनी आकर्षक है चित्त-लुभानेवाली।।
बढ़ा रही शोभा शरीर पर चढ लतिका शुभशाली।
मानों दिव्य कलाओं ने अपने हाथों ही ढाली।।
इस उन्नति के मूल केन्द्र में जीवन ज्योति जगाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ।।७।।

ऊंचे सत्तावन सुफीट पर नभसे शीश लगाए।
शोभा देती जैनधर्म का उज्ज्वल यश दरशाए।।
जिसने कौशल-कला-कलाविद के सम्मान बढ़ाए।
देख-देख हैदर-टीपू-सुल्तान जिसे चकराए।।
आओ इसका गौरव लख अपना सम्मान बढ़ाओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग मे यश पाओ।।८।।

(शेष पृष्ठ २१ पर)

करुणामूर्ति बाहुबली

☐ उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन-इतिहास का पहला अध्याय भगवान् ऋषभदेव मे प्रारम्भ होता है। वहीं से जीवन की कला उद्भूत होती है। भगवान् ऋषभदेव के समय मे ही उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया। वे लड़ाइयां लड़ते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व, आधिपत्य स्थापित हो गया। किन्तु उनके भाइयों ने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। तब भरत ने सोचा, जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जायें, तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा नहीं होगा। यह सोचकर भरत ने अपने ९९ भाइयो के पास दूत भेजा। बाहुबली विशेषरूप से महान् भुजबल के धनी और स्वाभिमानी थे। उन्होने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। परिणामतः भरत और बाहुबली की विशाल सेनायें मैदान में आ डटी। जब दोनों ओर की सेनायें जूझने को तैयार थी, सिर्फ शंखनाद करके आदेश देने की देर थी कि बाहुबली के चित्त मे करुणा की मधुर लहर उद्भूत हुई।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात कही जाती है। अनेक युद्धों में इन्द्र को बुलाने के प्रसग भी मिलते है। किन्तु, इतिहास के मूल में यह बात नही है। ऐसा कोई कारण नही है कि युद्ध मे होने वाली हिंसा की परिकल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाए और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह मे विरक्ति-भाव, अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदेव महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में इन्द्र के आगमन का उल्लेख नही किया है। उन्होंने स्वयं बाहुबली के हृदय में ही करुणा-स्रोत का उमड़ना लिखा है। दिगंबर-परम्परा भी इस बात को मानती है।

वस्तुतः बाहुबली ने सोचा कि भरत को चक्रवर्ती बनना है और मैं उसके पथ का रोड़ा हूं। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आदेश देता है कि मैं भरत की आज्ञा स्वीकार न करूं। क्योंकि यह अनुचित है। भाई को भाई से भाई के रूप में सेवा लेने का अधिकार है। मैं भरत से छोटा हूं। मैं हजार बार सेवा करने को तैयार हूं। परन्तु, भाई बनकर ही सेवा करूंगा, दास और गुलाम बनकर नहीं।

बाहुबली की वृत्ति में यही चिन्तन था। उन्होने सोचा—भरत हैं, जो चक्रवर्ती बनने को उत्सुक है और मैं, अपने स्वाभिमान को तिलांजलि नही दे सकता। हम दोनो अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए तलवारें लेकर युद्ध के मैदान मे आये है। प्रश्न है—मेरा और भरत का। बेचारे सैनिक एवं यह गरीब प्रजा क्यों कट-कट कर मरे? हम दोनों के झगड़े मे हजारों-लाखो व्यक्ति दोनों ओर के कट मरेंगे, कितना भीषण नर-संहार होगा? न मालूम, कितनी सुहागिनों का सिंदूर पुंछ जायगा? कितनी मातायें अपने कलेजे के टुकड़े के लिए विलाप करेंगी और कितने पुत्र अनाथ होकर अपने पिताओ के लिए हजार-हजार आँसू बहायेंगे?

अतः बाहुबली ने भरत के पास संदेश भेजा—"आओ, भाई! इस लड़ाई का फैसला मैं और आप दोनों आपस मे कर लें। यह उचित नही है कि सैनिक लड़ें और हम लोग अपने-अपने कैम्पो मे बैठे दर्शकों की तरह युद्ध देखते रहें? अच्छा हो, सिर्फ हम दोनो परस्पर मल्ल-युद्ध करें और व्यर्थ के नर-संहार को समाप्त करें। इसका अर्थ हुआ—युद्ध कराना नहीं, स्वयं करना है। कराने मे जो विराट् हिंसा थी, उसे स्वय के करने में सीमित कर दिया गया। इस विचार से दोनों भाई युद्ध-मैदान में उतर आये। आँखों का युद्ध हुआ, मुष्टि-प्रहार का युद्ध हुआ। इस युद्ध मे अहिंसा की उल्लेखनीय सीमा यह थी कि किसी को मरना-मारना नही था, केवल जय-पराजय का निर्णय करना था। और यह निर्णय खून की एक बूंद बहाये बिना उक्त तरीके से हो सकता था, जिसे किया गया। विश्व के इतिहास मे वह युद्ध सर्व-प्रथम अहिंसक युद्ध था।

प्रस्तुत प्रसंग में जैन-धर्म का अहिंसा एवं करुणा का

(शेष पृ० २१ पर)

बाहुबली और महामस्तकाभिषेक

□ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़

श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतिया मिल कर भारतीय संस्कृति को स्थिर करती है। ब्राह्मण से वैदिक और श्रमण से बौद्ध तथा बौद्ध से बहुत पहिले जैन संस्कृति का अभिप्राय लिया जाता है। वैदिक वाङ्मय के लिए वेद, बौद्ध वाङ्मय के लिए पिटक और जैन वाङ्मय के लिए आगम शब्द का प्रयोग आरम्भ से ही होता आ रहा है।

आगम को विषय की दृष्टि से चार भागो मे विभाजित किया गया है। प्रत्येक भागको अनुयोग की संज्ञा दी गई है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग नामक ये चार पूरे आगम के रूप को स्वरूप प्रदान करते है। प्रथमानुयोग मे जिनेन्द्र देवो पर आधृत अनेक कथाएं और पुराण रचे गए है। करणानुयोग मे कर्म-सिद्धान्त और लोक-व्यवहार, चरणानुयोग से जीव का आचार-विचार तथा द्रव्यानुयोग से चेतन-अचेतन द्रव्यो का स्वरूप तथा तत्त्वो का निर्देश सम्बन्धी बातों की विशद विवेचना सम्बद्ध है।

जैनागम के अनुसार जैनतत्त्व चिन्तन प्रणाली वस्तुतः अनादि है। इस अवसर्पिणी काल मे जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव के द्वारा हुआ। चौवीस तीर्थंकरो मे भगवान ऋषभदेव आद्य तीर्थंकर है अज्ञानता से कुछ लोग कभी-कभी अंतिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भगवान को ही जैन धर्म का प्रवर्तक घोषित कर देते है। वास्तविकता यह है कि जैन धर्म एक प्राकृत धर्म है। उसका कोई व्यक्ति विशेष निर्माता या कर्ता नही है। किसी व्यक्ति द्वारा धर्म विशेष का नहीं अपितु किसी मत का प्रवर्तन हुआ करता है। हाँ समय-समय पर तीर्थंकरों द्वारा जन साधारण के लाभ हेतु धर्म का उन्नयन अवश्य हुआ करता है। उनके द्वारा धर्म की प्रभावना अवश्य होती है।

प्रथमानुयोग मे अनेक पुराणों का उल्लेख मिलता है। पुराण परम्परा मे महापुराण का स्थान बड़े महत्व का है। महापुराण मे चौबीसों तीर्थंकरों के विषय मे पर्याप्त चर्चा हुई है। प्रथम तीर्थंकर से सम्बन्धित यहाँ संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है। कहते है कि अयोध्या के महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी के यशस्वी पुत्र ऋषभदेव उत्पन्न हुए। युवराज ऋषभ का नन्दा और सुनन्दा नामक राजकुमारियों के साथ मंगल परिणय हुआ महारानी नन्दा के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे जिनके नाम पर इस विशाल देश का नाम भारत पड़ा। भरत के उपरान्त उनके निन्यानवें भाई और हुए। वे सभी प्रतापी थे। भरत की बहिन का नाम ब्राह्मी था। महादेवी सुनन्दा के महा-प्रतापी पुत्र बाहुबली तथा सुन्दरी नामक सुपुत्री का जन्म हुआ था।

बाहुबली के विषय मे महापुराण में विशद विवेचन विद्यमान है। बाहुबली के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए महापुराणकार की मान्यता है कि उन तेजपुंज विशाल बाहु की दोनो भुजाएँ उत्कृष्ट बल परिपूर्ण थी, इसीलिए उनका नाम बाहुबली वस्तुतः सार्थक था। यथा—

> बाहु तस्य महाबाहोः अधातां बल मर्जितम ।
> यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य करणां निधेः ।।

महापुराण—१६-१७

महाराजा ऋषभ अपनी संतति को विविध शास्त्रो का अध्ययन कराते। और उन्हें लोक और लोकोत्तर ज्ञान से विभूषित करने। इसी क्रम मे भरत जी को अर्थशास्त्र और नृत्य शास्त्र का और बाहुबली को काम नीति, स्त्री-पुरुष के लक्षण, आयुर्वेद, तंत्र-शास्त्र तथा रत्नपरीक्षा आदि के अनेक शास्त्रों का अध्ययन कराया गया। कुछ

ही समय मे ऋषभ संतति सुयोग्य-शक्तिशाली तथा प्रशासन पटु हो गई। संयोगवश नीलांजना के नृत्य के समय आयु समाप्ति के निमित्त से भगवान को वैराग्य उत्पन्न हुआ फलस्वरूप अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को साम्राज्य पद पर अभिषेक कराया और बाहुबली को युवराज पद पर अलंकृत किया। भरत अयोध्या के राजा हुए और शेष पुत्रों को विभिन्न राज्यों का प्रशासक बनाया गया। बाहुबली जी पोदनपुर के राजा बनाए गए।

कालान्तर में भरत ने दिग्विजय हेतु देश-देशान्तरों में गमन करना प्रारम्भ किया। जहाँ-जहाँ वे गए उन्हे सफलता प्राप्त होती गई। उन्होने चक्रवर्ती यश अर्जित किया। दिग्विजयी होकर जब वे अपनी राजधानी मे वापस आए तब उनका चक्ररत्न गोपुर द्वार के पास रुक गया। इसका अर्थ यह होता है कि भरत जी को अभी भी कोई जीतना शेष है। निमित्त ज्ञानियों के सहयोग से यह स्पष्ट हुआ कि बाहुबली द्वारा उनकी अधीनता स्वीकार नही हुई है। यह जान कर महाराजा भरत का उद्विग्न होना स्वाभाविक था। उन्होंने क्रमशः अपने सभी भाइयों के पास राजदूत भेजे। बाहुबली के अतिरिक्त सभी बन्धुओं ने अपने-अपने अग्रज भरत जी की शरण स्वीकार करली। बाहुबली जी अपने को सर्वथा स्वाधीन अनुभव कर निर्बाध राज करते रहे।

ऐसी स्थिति मे दोनो राजाओ की शक्ति-सामर्थ्य का अपनी-अपनी शक्ति परीक्षण करने-कराने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग अथवा उपाय शेष नही रहा। परिणाम-स्वरूप इनमे युद्ध प्रतियोगिताएं स्थिर हुईं। नर-संहार से बचने के लिए व्यक्तिशः जल, मल्ल, तथा दृष्टि नामक युद्ध प्रतियोगिताएं इन उभय बन्धु राजाओ के बल-विक्रम का निर्णायक-निष्कर्ष सर्वमान्य हुआ। दोनो ओर की प्रजा, प्रभु और आगत दर्शनार्थियो के समक्ष युद्ध-प्रतियोगिताएं प्रारम्भ हुईं। दिग्विजयी भरत इन प्रतियोगिताओ मे क्रमशः पराजित होने लगे। आयोजित इन प्रतियोगिताओ ने उपस्थित अपार जन समूह को आश्चर्य अन्वित कर दिया और महाराजा बाहुबली का बल-विक्रम सर्वोपरि घोषित किया गया।

इस भौतिक विजय से उनका मन क्षुब्ध हो उठा और वे काम-क्रोधादिक अभ्यन्तर काषायिक शत्रुओं को जीतने की अनुमोदना कर उठे। उन्हे सांसारिक ऐश्वर्य नीरस और निरर्थक प्रतीत हो उठा। वे वैराग्योन्मुख हुए। उन्होंने एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर घोर तप किया। उनके इस निर्णय ने पराजित भरत के मनोरथ को पूर्ण किया फलस्वरूप भरत जी निर्बाध चक्रवर्ती बन कर राज्य भोगने लगे।

महातपस्वी बाहुबली जी आध्यात्मिक-साधना में जुट गए महातपश्चरण करते हुए वे सिद्धि-शीर्ण तक पहुंच रहे थे कि उनके मन मे एक शल्य ने जन्म लिया। शल्य यह कि वे भरत-भूमि पर अध्यात्म-साधना कर रहे हैं। निःशल्य हुए बिना केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही होती। उधर महाराजा भरत अपार राज-वैभव को भोगते हुए ऊबने लगे। संयोगवश जब उन्हे यह ज्ञात हुआ कि महातपस्वी बाहुबली जी शल्यशील होने से अधर मे है तो वे उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। नमोस्तु करते हुए उन्होंने निवेदन किया कि—

भरत चक्रवर्ती बनकर जब कीर्ति-शिला पर अपना नाम अंकित करने हेतु मेरा जाना हुआ तो शिला को देख कर मैं दंग रह गया। पूरा शिला खंड चक्रवर्तियो के नामो से भरा पड़ा है। किसी नए नाम को उस पर लिखना सम्भव नही दिखा फलस्वरूप मैंने अंतिम नाम को मिटा कर अपना नाम उत्कीर्ण कराया है। नाम तो उत्कीर्ण करा लिया किन्तु मेरे मन मे चक्रवर्ती होने का उत्साह प्रायः समाप्त हो गया और वह भारी छोभ से भर गया। क्षोभ इस बात का कि चक्रवर्ती पद कोई निराला नही है। और इस प्रकार मेरा सारा पुरुषार्थ निरर्थक हो रहा। सोचकर मैं आपकी इस शरण मे चला आया हूं।

महामुने-भरत जैसे अगणित चक्रवर्ती राजा इस भूमि के स्वामी बनने का मिथ्या दावा करते गए—किसी ने अभी तक वास्तविक स्वामित्व प्राप्त करने का संकल्प ही नही किया, वस्तुतः आश्चर्य का विषय है। मुनिवर—यह भूमि कभी किसी की नही हुई है। कहा भी है—जहां देह अपनी नही वहां न अपना कोय।—अन्यत्व भावना। उद्बोधन सुनते हुए महामुनि बाहुबली ने अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखा और देखते-ही-देखते वे निःशल्य हो गए,

आवागमन से मुक्त हो गए। वे कैवल्यज्ञान को पा गए।

बाहुबली जी वस्तुतः जीत को जीत कर अजीत बन गए। संसार सागर से तिरने का अमोघ साधन सुझा गए तथा बुझा गए वह रहस्य जिसको जाने बिना राजा और रंक अनादि काल से मानवीयपर्याय पाकर निरर्थक ही गंवाता रहा। कल का बाहुबली वस्तुतः आज का बोधबली बन गया। आचार्य नेमिचन्द्राचार्य की शब्दावली में श्री गोम्मटेश हमारी स्तुति के स्तुत्य बन गए। यथा—

> उपाहिमुत्तं धण-धाम वज्जियं,
> सुसम्मजुत्तं मय-मोह हारयं।
> वस्सेयपज्जंत भुव वास-जुत्तं,
> तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥

अर्थात् जो समस्त उपाधि परिग्रह से मुक्त है, धन और धाम का जिन्होंने अन्तरंग से ही परित्याग कर दिया, मद और मोह, राग दोष को जिन्होंने तप द्वारा जीत कर क्षायिक भाव में स्थित हुए तथा पूरे एक वर्ष तक जिन्होंने अखंड उपवास व्रत लिया है, ऐसे श्री गोम्मटेश महा-तपस्वी के श्री चरणों में मन, वचन और काय से मेरा नमोस्तु निवेदित है।

एक हजार वर्ष पूर्व की घटना है। गंगवंशीय नरेशों के धर्मप्राण सेनापति श्रीमान् चामुण्डराय ने विंध्यगिरि, (श्रवणबेलगोला, कर्णाटक) पर आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को प्राणप्रतिष्ठित करने के लिए बाहुबली की प्रतिमा स्थापित की। सिद्धांताचार्य श्री नेमिचन्द्राचार्य जी द्वारा प्रतिष्ठा-अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। सत्तावन फीट ऊंची एक ही शिलाखंड से उकेरी गई इस प्रतिमा की भव्यता तथा शान्तिदायिनी प्रभा आज भी सन्मार्ग को प्रशस्त करती है।

विश्व-व्यापी कला-कीर्ति की अधिष्ठात्री इस प्रतिमा का सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक दिनांक २२ फरवरी उन्नीस सौ इक्यासी को होने जा रहा है। भक्त समुदाय अपनी वर्तमान पर्याय में पहली और अकेली बार इस मांगलिक अवसर पर श्रवणबेलगोला पहुंच कर कलशाभिषेक कर भगवान के श्री चरणों में अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित कर सकते हैं।

□□□

(पृ० १७ का शेषांश)

गंग-वंश के राचमल्ल नृप विश्व-कीर्ति-व्यापक हैं।
नृप-मन्त्री चामुण्डरायजी जिसके संस्थापक हैं॥
जो निर्माण हुआ नौसे नब्बे में यशवर्द्धक है।
राज्य-वंश मैसूर आजकल जिसका संरक्षक है॥
उसकी देख-रेख रक्षा में अपना योग लगाओ।
वन्दनीय हे जैन तीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ॥९॥

कहें लेखनी पुण्य-तीर्थ क्या गौरव कथा तुम्हारी।
विस्तृत कीर्ति-सिन्धु तरने में हूं असमर्थ विचारी॥
नत मस्तक अंतस्तल तन-मन-धन तुम पर बलिहारी।
शत-शत नमस्कार तुम को हे नमस्कार अधिकारी॥
फिर सम्पूर्ण विश्व में अपनी विजय-ध्वजा फहराओ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ॥१०॥

□□□

(पृ० १८ का शेषांश)

महान् दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, जिसके लिए बाहु-बली को हजारों-हजार धन्यवाद हैं। उनके मन में करुणा की, अहिंसा की वह उज्ज्वल-धारा प्रवाहमान हुई कि उन्होंने हजारों-लाखों व्यक्तियों को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया। उन्होंने स्वयं न लड़कर दूसरों को लड़वाने में, युद्ध की आग में झोंकने में अपने जीवन को अधिक कलुषित होते देखा। जैन-धर्म का वह युग-पुरुष, जब दूसरों से युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ, तो उस महान् ऐतिहासिक निर्णय की तेजस्विता से उसका अंग-अंग आलोकित हो उठा, चमकने लगा।

□□□

उत्तरभारत में गोम्मटेश्वर बाहुबली

☐ डा० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी

बाहुबली गोम्मटेश्वर प्रथम जैन तीर्थंकर (या जिन) आदिनाथ के पुत्र हैं। जैन परम्परा में इनका गोम्मट, गोम्मटेश्वर भुजबली, एवं कुक्कटेश्वर आदि नामो से भी उल्लेख हुआ है। बाहुबली को जैन परम्परा मे वर्तमान अवसर्पिणी युग का प्रथम कामदेव भी कहा गया है। कैवल्य प्राप्ति के लिए बाहुबली ने एक वर्ष तक जो कठिन तपस्या की थी, उसी कारण उन्हें जैन देवकुल मे विशेष प्रतिष्ठा मिली। मूर्तियों मे बाहुबली को सदैव कायोत्सर्ग मुद्रा में दोनों हाथ नीचे लटकाकर सीधे खड़ा दिखाया गया है। यह मुद्रा स्वत: उनकी कठिन तपस्या को मूर्त रूप में व्यक्त करती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्परा के ग्रन्थों मे बाहुबली के जीवन और उनकी तपस्या का विस्तार से उल्लेख हुआ है। पर शिल्प मे बाहुबली की सर्वाधिक मूर्तिया दिगंबर स्थलो पर बनी। उनमें भी सर्वाधिक मूर्तियां दक्षिण भारत मे बनी।

श्वेतांबर स्थलों पर १४वी शती ई० के पूर्व बाहुबली की कोई स्वतन्त्र मूर्ति सम्भवत: नही बनी। १४वी शती ई० की श्वेत वस्त्रधारी बाहुबली की श्वेतांबर मूर्ति गुजरात के शत्रुंजय पहाड़ी पर है। श्वेतांबर स्थलो पर आदिनाथ के जीवन दृश्यों के अंकन के प्रसंग मे भी कुंभारिया (गुजरात) और आबू (विमलवसही-राजस्थान) मे भरत-बाहुबली की तपस्या का निरूपण हुआ है। दिगंबर स्थलों पर छठी-सातवीं शती ई० में ही बाहुबली की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जिसके प्रारम्भिकतम उदाहरण कर्नाटक स्थित बादामी और अयहोल मे है।

बाहुबली गोम्मटेश्वर की ज्ञात मूर्तियों में विशालतम और श्रेष्ठतम श्रवणबेलगोला (हसन जिला, कर्नाटक) की मूर्ति है। ५७ फीट ऊँची यह दिगंबर प्रतिमा न केवल भारत वरन् विश्व की भी सम्भवत: विशालतम धार्मिक मूर्ति है। इस मूर्ति में बाहुबली के मुख पर मन्दस्मित और गम्भीर चिन्तन का भाव व्यक्त है। बाहुबली की कायोत्सर्ग मुद्रा पूर्ण आत्मनियंत्रण का भाव व्यक्त करती है। इसका निर्माण काल ९८१ ई० मे गंग शासक के मन्त्री चामुण्डराय द्वारा कराया गया था। फरवरी ८१ में स्थापना के १००० वर्ष पूरा करने के अवसर पर इस प्रतिमा के सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। यह धार्मिक महोत्सव विशाल स्तर पर आयोजित है। इस अवसर पर हम प्रस्तुत लेख के माध्यम से यह बतलाना चाहते है कि बाहुबली मूर्तियों का निर्माण उत्तर भारत मे भी पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। इस क्षेत्र में प्रभास पाटण (गुजरात), खजुराहो, (पार्श्वनाथ मंदिर-मध्य प्रदेश), बिल्हारी जबलपुर, मध्य प्रदेश) एवं देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) जैसे स्थलों से नवी से १२वी शती के मध्य की कई मूर्तियाँ मिली है। एक मूर्ति राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक ९४०) मे भी है। विशालता की दृष्टि से उत्तर भारत के दिगबर स्थलो की उपर्युक्त मूर्तियां दक्षिण भारत की श्रवणबेलगोला, कारकल, वेणूर एव गोम्मट गिरि जैसे स्थलो की १८ से ५७ फीट ऊँची मूर्तियो की समता नही करती, पर उनमे कुछ ऐसे मौलिक प्रतिमालाक्षणिक तत्वो के दर्शन होते है, जो इस क्षेत्र की बाहुबली मूर्तियो की निजी विशेषताएँ रही है। आशय यह कि बाहुबली मूर्तियो के लक्षणो के विकास मे उत्तर भारत के दिगबर स्थलो की मूर्तियो का अग्रगामी योगदान रहा है। इस क्षेत्र मे कलाकार का सारा प्रयास इस बात पर केन्द्रित था कि किस प्रकार बाहुबली को तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की जाय। यह बात देवगढ़ की बाहुबली मूर्तियो के अध्ययन से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। प्रस्तुत विषय पर लेखक की एक पुस्तक भी प्रकाशन मे है।

देवगढ की बाहुबली मूर्तियों की चर्चा के पूर्व यहाँ ग्रन्थो मे बाहुबली के जीवन एव उनकी तपस्या से संबंधित विवरणो का उल्लेख पृष्ठभूमि सामग्री के रूप में आवश्यक होगा। इस पृष्ठभूमि के बिना हम उन मूर्तियों के स्वरूप एव महत्व का वास्तविक निरूपण नही कर सकेंगे। जैन परम्परा में बाहुबली प्रसग का प्रारम्भिकतम उल्लेख विमलसूरिकृत पउमचरियम (तीसरी शती ई०) में हुआ है। तदनन्तर दोनो परम्परा के कई ग्रन्थो में बाहुबली की कथा का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें वसुदेव हिण्डी (छठीं शती ई०), हरिवंशपुराण (८वीं शती ई०), पद्मपुराण (७वी शती ई०), आदिपुराण (९वीं शती ई०) एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (१२वीं शती ई०) मुख्य

है। संक्षेप में इन ग्रन्थों में वर्णित बाहुबली कथा इस प्रकार है :—

बाहुबली के पिता आदिनाथ और माता सुनन्दा थीं। आदिनाथ के १०० पुत्रों और २ पुत्रियो मे भरत सबमे बड़े थे। जैन परम्परा मे भरत को प्रथम चक्रवर्ती बतलाया गया है आदिनाथ के दीक्षा ग्रहण करने के बाद भरत चक्रवर्ती विनीता और बाहुबली तक्षशिला के शासक हुए। दिगबर परम्परामें बाहुबली को पोदनस या पोदनपुर का शासक बनाया गया है। दिग्विजय के उपरान्त चक्रवर्ती भरत ने अपने ९८ भाइयो से सत्ता स्वीकार करने को कहा। इस पर सभी ९८ भाइयों ने राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत ने बाहुबली से भी यही प्रस्ताव किया, जिसे बाहुबली ने अस्वीकार कर दिया। फलतः दोनों भाइयों के मध्य युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। युद्ध की विभीषिका की कल्पना करते हुए उसमें होने वाले भीषण नरसहार को रोकने के उद्देश्य से बाहुबली ने भरत से शस्त्रविहीन द्वन्द्व युद्ध का प्रस्ताव किया। इस द्वन्द्व युद्ध मे जब भरत किसी प्रकार बाहुबली पर नियन्त्रण नही कर सके, तब निराशा मे उन्होंने देवताओं से प्राप्त कालचक्र से बाहुबली पर प्रहार किया। भरत की राज्यलिप्सा और उसके कारण अपने वचन से विमुख होने की इस घटना से बाहुबली इतने दुःखी हुए कि तत्क्षण उन्होंने ससार त्यागकर दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया। बाहुबली ने केशों का लुंचन कर वस्त्राभूषणो का परित्याग किया। बाद में भरत को भी अपनी भूल का अहसास हुआ, और वे सेना सहित राजधानी लौट गये।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद बाहुबली ने अत्यन्त कठिन तपस्या की और पूरे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े रहे। ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग मुद्रा कठिन तपस्या की मुद्रा है। इसी मुद्रा मे सभी तीर्थंकरो ने तपस्या की थी। बाहुबली की मूर्तिया केवल इसी मुद्रा मे बनी है। एक वर्ष की कठिन तपस्या के बाद बाहुबली को कैवल्य प्राप्त हुआ। पर श्वेतांबर परंपरा, के अनुसार दर्प के कारण बाहुबली कुछ समय तक कैवल्य प्राप्ति से वंचित रहे। इस पर आदिनाथ ने बाहुबली को दोनों सुन्दरी, बहिनों ब्राह्मी और को उनके पास दर्प दूर करने के लिए भेजा। इस प्रकार दर्प से मुक्त होने के बाद ही बाहुबली केवल-ज्ञान प्राप्त कर सके। दिगंबर परम्परा में इस प्रसंग का अनुल्लेख है। एक वर्ष की कठिन तपस्या की अवधि में बाहुबली ठण्ड, सूर्य की ताप, वर्षा, वायु और बिजली की कड़क को शान्तभाव से सहते रहे। उनका सम्पूर्ण शरीर लता वल्लरियों से घिर गया, और उस पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली जैसे जन्तुओ का निवास बन गया। चरणों के समीप वल्मीक से ऊपर उठते सर्प विचरण करते थे। किन्तु ध्यान निमग्न बाहुबली इन सबसे अविचलित और अप्रभावित रहे, जो बाहुबली की तपस्या की कठोरता का परिचायक है। उपर्युक्त परम्परा के अनुरूप ही मूर्तियों में बाहुबली कायोत्सर्ग मुद्रा मे निरूपित हुए और उनके शरीर पर माधवी, सर्प, वृश्चिक एवं छिपकली आदि का प्रदर्शन हुआ।

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ प्राचीन भारतीय स्थापत्य एव मूर्तिकला का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। देवगढ के गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर का महत्व सर्वविदित है। ब्राह्मण धर्म के साथ ही नवीं से १२वी शती ई० के मध्य देवगढ जैन-धर्म का भी एक प्रमुख केन्द्र रहा है, जिसकी साक्षी यहां की अपार जैन मूर्तिया और मंदिर हैं। यह दिगबर परम्परा का कला-केन्द्र था। जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन की जितनी प्रभूत सामग्री यहां है, उतनी सम्भवतः मथुरा के अतिरिक्त अन्य किसी एक स्थल पर नहीं मिलती है। २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का प्रारम्भिकतम प्रयास यहीं किया गया। २४ यक्षियों की मूर्तियां मन्दिर १२ (शांतिनाथ मंदिर, ८६२ ई०) की भित्ति पर बनी हैं। यक्ष और यक्षियों के निरूपण में जितनी विविधता यहां प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही स्थिति भरत चक्रवर्ती और बाहुबली की मूर्तियों की भी रही है। वर्तमान सन्दर्भ में हमारे लिए केवल बाहुबली मूर्तियों की ही प्रासंगिकता है।

देवगढ़ मे बाहुबली की कुल ६ मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां १०वीं से १२वीं शती ई० के मध्य की हैं। उदाहरणों में वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न से युक्त बाहुबली के शरीर से माधवी लिपटी है। मंदिर १२ की छोटी मूर्ति में दोनों ओर दो स्त्री आकृतियां बनी हैं, जिनमें से एक के हाथ में

चामर है, और दूसरे के हाथ में कलश। शेष चार मूर्तियों में से एक स्थानीय साहू जैन संग्रहालय मे है। यह मूर्ति पहले मंदिर १२ में थी। अन्य तीन उदाहरणों, में से दो मंदिर २ में हैं और एक मंदिर ११ मे है।

साहू जैन संग्रहालय की मूर्ति मे बाहुबली सामान्य पीठिका पर कायोत्सर्ग मे खड़े है, और उनके पैरों एव हाथों में माधवी की लताएं लिपटी है। पैरों पर वृश्चिक और छिपकली तथा उदर पर सर्प प्रदर्शित है। बाहुबली की केश रचना पीछे की ओर संवारी गयी है, और कुछ जटाएं कन्धों पर लटक रही हैं। सिर के ऊपर एक छत्र है, और पीछे की ओर प्रभामण्डल भी उत्कीर्ण है। ज्ञातव्य है कि तीर्थंकर मूर्तियों मे सिर के ऊपर एक छत्र के स्थान पर त्रिछत्र के प्रदर्शन की परम्परा रही है। हरिवंशपुराण एवं आदिपुराण जैसे दिगबर परम्परा के ग्रथों के उल्लेख के अनुरूप ही इस मूर्ति मे दोनो ओर विद्याधारियों की दो आकृतियां खड़ी है, जिनके हाथो मे माधवी की छोर प्रदर्शित है।

मंदिर-२ की दोनो मूर्तिया ११वी शती ई० की है। इन मूर्तियों में बाहुबली के लक्षणों में एक स्पष्ट विकास परिलक्षित होता है। विकास की इस प्रक्रिया मे बाहुबली के साथ तीर्थंकर मूर्तियों की कुछ अन्य विशेषतायें प्रदर्शित हुईं। इनमे सिंहासन, चामरधर सेवकों, त्रिछत्र, देवदुन्दुभि, उड्डीयमान मालाधरों तथा उपासकों से वेष्टित धर्मचक्र मुख्य हैं। धर्मचक्र एव उपासको के अतिरिक्त अन्य तत्त्व तीर्थंकर मूर्तियों में प्रदर्शित होने वाले अष्टप्रातिहार्यों का अग है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह रही है कि इनमें बाहुबली के दोनों ओर परम्परासम्मत विद्याधारियों की आकृतियां भी नही बनी हैं। विद्याधारियों के स्थान पर चामरधर सेवकों की मूर्तियां बनी है जो, तीर्थंकर मूर्तियों की एक प्रमुख विशेषता रही है। यह तथ्य पुन: हमारी इसी धारणा को पुष्ट करता है कि देवगढ में बाहुबली को पूरी तरह तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। इसी कारण बाहुबली की मूर्तियों में तीर्थंकर मूर्तियों की विशेषताएं प्रदर्शित हुई दोनों उदाहरणों में बाहुबली निर्वस्त्र और कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। हाथों और पैरों पर लता-वल्लरियों, सर्पों, वृश्चिकों एवं छिपकलियों का अंकन हुआ है। श्रीवत्स से युक्त बाहुबली की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है, जिसने मध्य में उष्णीष बना है एक उदाहरण में बाहुबली के वाम पार्श्व में नमन की मुद्रा में सम्भवत: उनके अग्रज भरत का निरूपण हुआ है। उपर्युक्त दोनों मूर्तियों में से एक मे बाहुबली के साथ दो अन्य तीर्थंकरों (शीतलनाथ और अभिनंदन) की भी मूर्तियां उत्कीर्ण है। दो तीर्थंकरों के साथ बाहुबली का अंकन पुन: हमारी उपर्युक्त धारणा का ही समर्थक प्रमाण है।

मंदिर ११ की तीसरी मूर्ति १२वीं शती ई० की है। यह मूर्ति देवगढ और साथ ही अन्यत्र की भी ज्ञात बाहुबली मूर्तियों में प्रदर्शित लक्षणों के विकास की पराकाष्ठा दरशाती है। इस मूर्ति में मंदिर २ की ऊपर विवेचित मूर्तियों की ही विशेषताएं प्रदर्शित हैं। केवल चामरधर सेवकों के स्थान पर विद्याधारियों का अंकन हुआ है, जिन्हें बाहुबली के शरीर से लिपटी माधवी का छोर पकड़े हुए दिखाया गया है। इस मूर्ति की प्रमुख विशेषता सिंहासन के छोरो पर द्विभुज गोमुख यक्ष और यक्षी का अंकन है। यक्ष और यक्षी का अंकन तीर्थंकर मूर्तियों की नियमित विशेषता रही है। यहाँ परम्परा के विरुद्ध बाहुबली के साथ यक्ष और यक्षी युगल का निरूपण स्थानीय कलाकारों या परम्परा की अपनी देन रही है। इस प्रकार कलाकार ने देवगढ में बाहुबली को पूरी तरह तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान करने का कार्य इस मूर्ति के माध्यम से पूरा किया था।

उपर्युक्त अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि बाहुबली मूर्तियों के विकास की दृष्टि से देवगढ़ की मूर्तियां का विशेष महत्त्व है। ये मूर्तियां बाहुबली के लक्षणों में एक क्रमिक विकास दरशाती हैं। इस विकास की प्रक्रिया मे बाहुबली की मूर्तियों मे तीर्थंकर मूर्तियों के तत्त्व जुड़ते गये जिसे १२वी शती ई० में बाहुबली के साथ यक्ष और यक्षी युगल को सम्बद्ध करके पूर्णता प्रदान की गयी।

□□□

व्याख्याता, कला इतिहास विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दिव्य चरित्र बाहुबली

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी (अजमेर)

१६९ विशिष्ट महापुरुषों में २४ कामदेव भी हैं इन २४ कामदेवों में सर्वप्रथम बाहुबली है। अतः इन्हें गोम्मटेश्वर=कामदेवों मे प्रमुख कहते है। "तिलोयपण्णत्ती" अधिकार ४ में लिखा है—

कालेसु जिणवराण, चउवीसाणं हवंति चउवीसा।
ते बाहु बलिप्पमुहा, कंदप्पा णिरुवमायारा ॥१४७२॥

(चौबीस तीर्थंकरों के समय में महान् सुन्दर बाहुबली प्रमुख चौबीस कामदेव होते हैं।)

कामदेव बाहुबली प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सुपुत्र थे। हुंडावसर्पिणी के तृतीय काल में महारानी सुनन्दा से उत्पन्न हुए थे। सर्वार्थसिद्धि की अहमिन्द्र पर्याय से चलकर आये थे। चरमशरीरी और ५२५ धनुष की उन्नत काय के धारी थे। जिनसेनाचार्यकृत महापुराण पर्व १६ मे इनका पावन चरित्र दिया है वहा लिखा है—

बाहू तस्य महाबाहोः, अधातां बलमूर्जितम्।
यतो बाहुबलीत्यासीत्, नामास्य महसां निधेः ॥१७॥
तेषु तेजस्विनां धुर्यो, भरतोऽर्क इवाद्युतत्।
शशीव जगतः कान्तो, युवा बाहुबली बभौ ॥६१॥

(लम्बी भुजा वाले तेजस्वी उन बाहुबली की दोनों भुजायें उत्कृष्ट बल को धारण करती थी अतः उनका "बाहुबली" नाम सार्थक था। उनके बड़े भाई भरत सूर्य के समान तेजस्वी थे तो वे चन्द्र के समान सारे जगत के प्रिय थे।)

१. सबसे प्रथम मोक्ष किनका ?

महापुराण पर्व ३६ श्लोक २०४ में—सर्वप्रथम मोक्ष इन बाहुबली स्वामी का ही बताया है। पद्मपुराण पर्व ४ श्लोक ७७ में भी ऐसा ही कथन है। महापुराण पर्व २४ श्लोक १८१ में भरत के छोटे भाई अनन्तवीर्य का भी सर्वप्रथम मोक्ष बताया है। श्वे० हेमचन्द्राचार्य ने मरुदेवी का बताया है।

२. बाहुबली ने किससे दीक्षा ली ?

महापुराण पर्व ३६ श्लोक १०४ तथा १०६ से ज्ञात होता है कि—गुरु (पूज्य पिता ऋषभ देव) के चरणों में में वे दीक्षित हुए थे और उनकी आज्ञा मे रहकर शास्त्राध्ययन किया था फिर एकल विहारी होकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया था। श्लोक १८६ मे बताया है कि—"भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हुए है" ये विचार बाहुबली के केवलज्ञान मे बाधक हो रहे थे। भरत के द्वारा बाहुबली की पूजा करते ही बाहुबली का हृदय एकदम पवित्र हो गया और उन्हे केवलज्ञान हो गया।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित में हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—भगवान् ऋषभदेव के पास बाहुबली दीक्षा लेने को इस विचार से नही गये कि—वहाँ उनके लघु भ्राता पहिले से ही दीक्षा लिए बैठे थे उनका विनय करना पड़े। अतः वे स्वयं ही दीक्षित हो गये और एक वर्ष का कायोत्सर्ग धार लिया। उन्होने यह सकल्प किया कि—केवलज्ञान होने पर ही मैं ऋषभदेव की सभा में जाऊंगा। फिर जब वे केवली हुए तब ऋषभ की समवशरण सभा में गये।

पहिले उनको घोर तपस्या करते भी केवलज्ञान न हुआ तो भगवान् की भेजी ब्राह्मी सुन्दरी ने आकर उनसे कहा—"तुम मान के हाथी पर चढ़े रहोगे तब तक तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नही होगी।" यह सुना तो उन्हे अपनी इस गलती (अपने लघुभ्राता मुनियों का विनय नहीं करने) का भान हुआ तो वे जाने को उद्यत हुए कि उन्हें केवलज्ञान हो गया। पउमचरिय और पद्मपुराण में यद्यपि इतना कोई विवरण नही है तथापि वहां भी बाहुबली को भगवान् से दीक्षा लेने का कथन नहीं है। (उन दोनों में लिखा है कि—भरत की अनीति को देख बाहुबली उसी समय दीक्षित हो गये। हरिवंशपुराण में तो

लिखा है कि—उनको केवलज्ञान हुए बाद में भगवान् की सभा में गये।

३. बाहुबली के नगर का नाम

महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराणादि में "पोदनपुर" लिखा है। किन्तु पउमचरिय में तक्षशिला लिखा है। यही हेमचन्द्र ने भी लिखा है।

४. भरत बाहुबली के युद्धों का नाम

महापुराणादि में दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और बाहुयुद्ध ये तीन युद्ध लिखे हैं। किन्तु पउमचरिय में दो ही युद्ध लिखे हैं—दृष्टियुद्ध और मुष्टियुद्ध। पद्मपुराण में ये दो लिखकर आदि शब्द दे दिया है। हेमचन्द्र ने तीन लिखे हैं।

५. ऋषभदेव की राणियों के नाम

महापुराण में यशस्वती और सुनन्दा ये दो राणियां बताई हैं। पउमचरिय और श्वे० ग्रन्थों में सुमंगला और नन्दा नाम दिये हैं। पद्मपुराण और हरिवंशपुराण तथा पउमचरिउ में नंदा सुनंदा दिये हैं। पद्मपुराण पर्व २० श्लोक १२४ में भरत की माता का नाम यशोवती भी लिखा है।

६. ऋषभदेव के युग्म-पुत्र

हरिवंशपुराण पर्व ९ श्लोक २१-२२ में भरत और ब्राह्मी का तथा बाहुबली और सुन्दरी का युगल जन्म लिखा है। श्वे० ग्रंथों में लिखा है कि—ऋषभदेव की एक राणी तो वही थी जो ऋषभ के साथ ही जन्मी थी और दूसरी राणी किसी दूसरे युगलिया के साथ पैदा हुई थी। युगलिया के मरने के बाद उसे ऋषभदेव ने अपनी रानी बनाई थी। उनसे भरत और ब्राह्मी व बाहुबली और सुन्दरी को युगल जन्म तथा शेष ९८ पुत्रों के भी युगल-जन्म हुए थे। महापुराण में ऐसा कथन नहीं है। किसी का युगल-जन्म नहीं लिखा है।

७. ऋषभदेव के कितने पुत्र थे?

पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पउमचरिय, और श्वे० ग्रन्थों में १०० संख्या लिखी है किन्तु महापुराण में १०१ पुत्र बताये हैं।

८. ऋषभदेव के साथ कच्छ महाकच्छ का क्या रिश्ता था?

महापुराण पर्व १४ श्लोक ७० में ऋषभदेव की दोनों राणियों को कच्छ महाकच्छ राजाओं की बहनें बताया है। यहां 'जामी' शब्द का प्रयोग किया है जिसका संस्कृत टिप्पणकार ने भगिनी (बहन) अर्थ किया है। इस तरह कच्छ महाकच्छ भगवान् ऋषभदेव के साले लगे यह सिद्ध होता है। कोशग्रन्थों में 'जामी' शब्द का अर्थ पुत्री भी दिया है। तदनुसार पुष्पदन्त ने अपभ्रंश महापुराण के प्रथम खण्ड पृ० ६२ और २५५ में भगवान् की राणियो को कच्छ महाकच्छ की पुत्रियां बताई हैं। हरिवंशपुराण और पद्मपुराण इस विषय में मौन हैं। भगवान् की दीक्षा के साथ ही कच्छ महाकच्छ ने भी दीक्षा ली थी अतः ये भगवान् के समवयस्क होने से भगवान् की रानियां इनकी बहनें थीं यह मानना ही संगत बैठता है। पुत्रियां मानने से तो इनकी उम्र नाभिराजा के तुल्य होगी। जो ठीक नही है।

९. श्रेयांस किसका पुत्र था?

हेमचन्द्राचार्य ने श्रेयांस को बाहुबली का पोता व सोमप्रभ का पुत्र लिखा है। पउमचरिय के पचम उद्देश्य में सोमवंश की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि—बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ से सोमवश का प्रारम्भ हुआ है। किन्तु सोमप्रभ के बाद श्रेयास का नाम नही लिखा है। पउमचरिय, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तीनो मे सोमवश की उत्पत्ति बाहुबली के पुत्र सोमयश अथवा सोमप्रभ से बताई है और सोमप्रभ का पुत्र महाबल लिखा है किन्तु महापुराण में सोमवंश नाम का कोई वंश ही नही बताया है। इसी से वहां "बाहुबली ने दीक्षा लेते वक्त राज्य अपने पुत्र महाबल को दिया" ऐसा लिखा है। इससे जाना जाता है कि—महापुराण के मतानुसार बाहुबली के सोमप्रभ नाम का कोई पुत्र ही न था। महाबल नाम का पुत्र था।

इस प्रकार इन ९ अनुच्छेदों से बाहुबली स्वामी के जीवन-चरित्र पर शास्त्रों मे जो परस्पर थोड़ा बहुत मत वैभिन्य पाया जाता है उसका सम्यक् परिज्ञान संभव है।

उन्हीं भगवान् बाहुबली की एक सातिशय विश्व विश्रुत ५७ फोट उत्तुंग विशाल प्रतिमा श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर्वत पर श्री चामुण्डराय नृपति ने सन् ९८२ में प्रतिष्ठित की थी। इस प्रतिमा की एक विशेषता खास तौर से लक्ष्य में लेने योग्य है कि—यह पर्वत पर एक ही पत्थर में काटकर निर्माण की गई है। अलग पत्थर में

(शेष पृ० २९ पर)

भगवान् बाहुबली को शल्य नहीं थी

□ आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में भगवान् बाहुबली के ध्यान के बारे में जैसा वर्णन किया है, उसके आधार से उनके शल्य मानना उनका अवर्णवाद है। सो ही देखिये—

"एकल विहारी अवस्था को प्राप्त बाहुबली ने एक वर्ष तक के लिये प्रतिमायोग धारण किया।"[1] वे रस गौरव, शब्द गौरव और ऋद्धि गौरव इन तीनों से रहित थे, अत्यन्त निःशल्य थे[2] और दश धर्मों के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में अत्यन्त दृढ़ता प्राप्त हो गई थी।

"तपश्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से होने वाली ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रगट हुई थी, जिससे कि उनके तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने की शक्ति प्रगट हो गई थी। मतिज्ञान की वृद्धि से कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ एवं श्रुतज्ञान की वृद्धि से समस्त अंगपूर्वों के जानने की शक्ति का विस्तार हो गया था। वे अवधिज्ञान में परमावधि को उल्लंघन कर सर्वावधि को और मनः पर्यय में विपुलमति मनः पर्ययज्ञान को प्राप्त हुए थे।"[3]

सिद्धान्त ग्रन्थ का यह नियम है कि भावलिंगी व वृद्धिगत चरित्र वाले मुनि के ही सर्वावधिज्ञान होता है तथा "विपुलमति मनः पर्यय तो वर्धमान चरित्र वाले एवं किसी-न-किसी ऋद्धि से समन्वित मुनि के ही होता है।"[4]

आगे भगवान् जिनसेन सभी प्रकार की ऋद्धियों की प्रगटता मानते हुए कहते हैं—

"उनके तप के प्रभाव से आठ प्रकार की विक्रयऋद्धि प्रगट हो गई थी आमर्शौषधि, जल्लौषधि, क्ष्वेलौषधि आदि औषधियों के हो जाने से उन मुनिराज की समीपता जगत का उपकार करने वाली थी यद्यपि वे भोजन नहीं करते थे तथापि शक्तिमात्र से ही उनके रसऋद्धि प्रगट हुई थी।"[5] उनके शरीर पर लतायें चढ़ गई थीं। सर्पों ने वामियां बना ली थीं और वे निर्भीक हो क्रीड़ा किया करते थे। परस्पर विरोधी तिर्यंच भी क्रूरभाव को छोड़ कर शान्तचित्त हो गए थे। विद्याधर लोग गतिभंग हो जाने से उनका सद्भाव जान लेते थे और विमान से उतरकर ध्यान में स्थित उन मुनिराज की बार-बार पूजा करते थे। तप की शक्ति के प्रभाव से देवों के आसन भी बार-बार कम्पित हो जाते थे जिससे वे मस्तक झुकाकर नमस्कार करते रहते थे। कभी-कभी क्रीड़ा के लिये आई हुई विद्याधारियाँ उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं।[6]

"इस प्रकार धारण किये समीचीन धर्मध्यान के बल से जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेश्या

---

१. प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल संवृतः।
महापुराण ३६.१०६

२. गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतां गतः। वही, १३७

३. मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन्।
श्रुतज्ञानेन विश्वांगपूर्वाविन्स्वादि विस्तरः॥
परमावधिमुल्लंघ्य स सर्वावधिमासदत्।
मनः पर्यय बोधे च संप्रापत् विपुलां मतिम्॥
वही, १४६-४७

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १.२५

५. विक्रियाष्टतयी चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात्।
प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत् संनिधिर्जगते हितः॥
आमर्शक्ष्वेल जल्लाद्यैः प्राणिनामुपकारिणः।
अनाशुषोऽपि तस्यासीद, रसर्द्धिशक्तिमात्रतः॥
तपोबल समुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे।
—महापुराण ३६.१५२-५४

६. विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः।
वल्लीरुद्वेष्टयामासुर्मुनेः सर्वांगसंगिनीः॥
—महापु०, ३६.१८३

की विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त हो गये। वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हो गया है यह विचार बाहुबली के हृदय मे रहता था, इसलिये केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। प्रसन्नबुद्धि सम्राट्, भरत ने केवल ज्ञान उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान के बाद मे जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिए की थी।"[१]

इस प्रकार महापुराण के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बाहुबली को कोई शल्य नहीं थी। मात्र इतना विकल्प अवश्य था कि "भरत को मेरे द्वारा संक्लेश हो गया है।" सो भरत को पूजा करते ही वह दूर हो गया।

"आप जाइये, कहां जायेंगे।" भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे। ऐसे मंत्रियों के द्वारा व्यंग्यपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबलो कुछ क्षुब्ध से हुए और मान-कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली उस समय से लेकर उनके मन में यही शल्य लगी हुई थी कि "मैं भरत की भूमि में खड़ा हुआ हूं।" अतः उन्हे केवलज्ञान नही हो रहा था। तब भरत ने जाकर भगवान् ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यो नही हुआ है? भगवान् ने कहा—भरत! उसके मन में शल्य है। अतः तुम जाओ और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसकी है! हमारे जैसे तो अनन्तों चक्रवर्ती हो चुके हैं। फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है! "इत्यादि समाधान करते हुए बाहुबली भगवान् की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया।"

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत है ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित हो है। जैसे कि शल्य तीन होती हैं—माया, मिथ्या और निदान।

माया का अर्थ है वंचना-ठगना, शल्य-मिथ्यात्व को कहते हैं "मैं भारत की भूमि पर खड़ा हूं" यह विपरीत ही मिथ्या शल्य कही जा सकती है सो भी बाहुबली के मानना सम्भव नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु के सर्वाधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और अनेकों ऋद्धियां प्रगट नहीं हो सकती थीं। निदान शल्य का अर्थ है आगामी काल में भोगों की वांछा रखते हुए उसी का चिन्तन करना सो भी उन्हें नही मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र मे श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि "निःशल्यो व्रती" जो माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों शल्यों से रहित होता है वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान ली जावे तो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेंगे। पुनः वे भावलिंगीमुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नही हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियो के भी माना गया है। जैसे कि उत्तरपुराण मे भगवान् शांतिनाथ के पूर्वभवों में एक उदाहरण आता है—

वज्रायुध ने विरक्त हो सहस्रायुध को राज्य दिया पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने "सिद्धिगिरि" पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीठे तैयार हो गये। उनके चारो तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पहुंची। इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना

१. इत्युपारूढसद्ध्यान बलोद्भूतं तपोबलः।
स लेश्या शुद्धिमास्कंदन्, शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः।
स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम्॥
संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्तः इति यत्किल।
हृदयस्य हार्दं तेनासीत्, तत्पूजाऽपेक्षि केवलम्॥
केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्याधात्।
सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः॥
स्वागः प्रमार्जनार्थेज्या प्राक्तनी भरतेशिनः।
पाश्चात्याऽस्ययताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत्॥
महापुराण ३६.१८४-८८

राज्य शतबली को दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुंचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या[1] की। पुनः भैभार पर्वत पर पहुंच कर अन्त मे सन्यास विधि से मरण कर अहमिन्द्र हो गये।

यह प्रकरण भगवान् शांतिनाथ के पांचवें भव पूर्व का है। यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्र मे ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते थे।

भगवान् बाहुबली चतुर्थ काल के आदि मे क्या तृतीय काल के अन्त मे जन्मे थे। और ध्यान मे लीन हुए थ तथा मुक्ति भी तृतीय काल के अन्त मे प्राप्त की थी। अतः उनमे एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बडी बात नहीं है। पुनः "शल्य थी इसलिए केवलज्ञान नही हुआ" यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता है।

रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नही किया है। यथा—"उन्होने उस समय सकल भोगों को त्याग दिया और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्प्रकंप खड़े रहकर प्रतिमा-योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियां लग गईं जिनके बिलो से निकले हुए बड़े-बड़े सांपों और श्यामा आदि की हरी-हरी लताओ ने उन्हे वेष्टित कर लिया, इस दशा मे उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया[2]।

अतएव भगवान् बाहुबली के शल्य नही थी।

कोई कहते है कि भरत के साथ ब्राह्मी-सुन्दरी बहनो ने भी जाकर उन्हे संबोधा तब उनकी शल्य दूर हुई।

यह कथन भी नितान्त असगत है। क्योंकि भगवान् वृषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद पुरिमताल नगर के नगर के स्वामी भरत के छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान् से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी दीक्षा ले पद प्राप्त किया एवं सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली[3]।

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया जहां उन्हे साठ हजार वर्ष लग गये। तदनंतर वापिस आने पर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है।

अतः भगवान् बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिये। चूंकि यह ग्रंथराज ऋषिप्रणीत होने से "आर्षग्रंथ" माना जाता है। अतः वह समस्त विवादो से रहित पूर्णतया प्रमाणिक है इसमे किसी को रचमात्र भी सदेह नही होना चाहिए। □□□

(पृ० २६ का शेषांश)

गढकर फिर स्थापित नही की गई है। अतः इसका पत्थर पर्वत का अंग होने से सचित्त है।

इसको एक हजार वर्ष हो गये है अतः इसका सहस्राब्दि महोत्सव मनाया जा रहा है। २२ फरवरी सन् १९८१ को इसका १००८ विशाल कलशों में महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होगा जिसमे ९-१० लाख मनुष्य इकट्ठे होंगे। वैदिक कुम्भ पर्व की तरह ही यह जैन कुम्भपर्व होगा।

जैनो में तीर्थंकर मूर्तियां ही बनाने का प्रचलन है। बाहुबली स्वयं कोई तीर्थंकर नही थे किन्तु तीर्थंकर पुत्र व कामदेव होने से साथ ही एक वर्ष तक घोर तपस्या कर केवली बन मुक्ति प्राप्त करने के कारण उनकी मूर्तियां बनाई गई है। श्रवणबेलगोल, कारकल, वेणूर आदि अनेक स्थानो पर उनकी विशाल और प्राचीन मूर्तियां पाई जाती है।

इस लेख द्वारा उन विश्ववंद्य गोम्मटेश्वर भगवान् बाहुबलि के चरणारविन्दो मे सहस्रशः प्रणामांजलि प्रस्तुत करता हूं।

केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)

१. अथ वज्रायुधाधीशो नप्तृकैवल्यदर्शनात्।
लब्धबोधिः सहस्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत्।।
दीक्षां क्षेमकराख्यान् तीर्थकर्तुरुपागतः।
प्राप्यः सिद्धिगिरौ वर्षप्रतिमायोगमास्थितः।।
तस्य पादौ समालम्ब्य वाल्मीकं बहुवतंत।
व्रतिन त व्रतस्थोऽपि माधव वा समीप्सवः।।
गाढं रुद्धा समासेदुर कण्ठमभितस्तनुम्।
किंचित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत्।
शयमं सम्यगादाय मुनीन्द्रात् पिहितास्रवात्।
योगावसाने स प्रापत् वज्रायुधमुनीश्वरम्।
तावुभौ सुचिरं कृत्वा प्रव्रज्यां सह दुःसहां।
उत्तरपुराण, ६३.१३१-१४०।

२. संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निः प्रकम्पकः।।
वल्मीक विवरोद्यातैरत्युग्रै स महोरगैः।
श्यामादीनां चवल्लीभिः विद्धिवेष्टितः प्राप केवलम्।।
पद्मपुराण, ४.७५-७६

३. महापुराण, पर्व-२४

की विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त हो गये। वह भरतेश्वर मुझसे सक्लेश को प्राप्त हो गया है यह विचार बाहुबली के हृदय मे रहता था, इसलिये केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। प्रसन्नबुद्धि सम्राट्, भरत ने केवल ज्ञान उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान के बाद मे जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिए की थी।"[1]

इस प्रकार महापुराण के इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बाहुबली को कोई शल्य नही थी। मात्र इतना विकल्प अवश्य था कि "भरत को मेरे द्वारा सक्लेश हो गया है।" सो भरत को पूजा करते ही वह दूर हो गया।

"आप जाइये, कहां जायेंगे।" भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे। ऐसे मन्त्रियो के द्वारा व्यंग्यपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबली कुछ क्षुब्ध से हुए और मान-कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली उस समय से लेकर उनके मन मे यही शल्य लगी हुई थी कि "मैं भरत की भूमि मे खड़ा हुआ हूं।" अतः उन्हे केवलज्ञान नही हो रहा था। तब भरत ने जाकर भगवान् ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यो नही हुआ है? भगवान् ने कहा—भरत! उसके मन मे शल्य है। अतः तुम जावो और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसकी है! हमारे जैसे तो अनन्तों चक्रवर्ती हो चुके हैं। फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है! "इत्यादि समाधान करते हुए बाहुबली भगवान् की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया।"

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत है ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित हो है। जैसे कि शल्य तीन होती हैं—माया, मिथ्या और निदान।

माया का अर्थ है वंचना-ठगना, शल्य-मिथ्यात्व का कहते हैं "मैं भारत की भूमि पर खड़ा हूं" यह विपरीत ही मिथ्या शल्य कही जा सकती है सो भी बाहुबली के मानना सम्भव नही है क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु के सर्वाधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और अनेकों ऋद्धिया प्रगट नहीं हो सकती थी। निदान शल्य का अर्थ है आगामी काल मे भोगों की वांछा रखते हुए उसी का चिन्तन करना सो भी उन्हे नही मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्वार्थ सूत्र मे श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि "निःशल्यो व्रती" जो माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों शल्यो से रहित होता है वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान ली जावे तो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेंगे। पुनः वे भावलिंगीमुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नही हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियो के भी माना गया है। जैसे कि उत्तरपुराण मे भगवान् शातिनाथ के पूर्वभवों में एक उदाहरण आता है—

वज्रायुध ने विरक्त हो सहस्रायुध को राज्य दिया पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने "सिद्धिगिरि" पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीठे तैयार हो गये। उनके चारो तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पहुची। इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना

---

१. इत्युपारूढसद्ध्यान बलोद्भूतं तपोबलः।
स लेश्या शुद्धिमास्कदन्, शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः।
स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम्॥
सक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मतः इति यत्किल।
हृदयस्य हार्दं तेनासीत्, तत्पूजाऽपेक्षि केवलम्॥
केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्याधात्।
सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः॥
स्वागः प्रमार्जनार्थेज्या प्राक्तनी भरतेशिनः।
पाश्चात्याऽत्ययताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत्॥
महापुराण ३६.१८४-८८

राज्य शतबली को दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुंचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या[1] की। पुन: भैभार पर्वत पर पहुंच कर अन्त मे सन्यास विधि से मरण कर अहमिन्द्र हो गये।

यह प्रकरण भगवान् शांतिनाथ के पांचवें भव पूर्व का है। यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्र मे ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते थे।

भगवान बाहुबली चतुर्थ काल के आदि मे क्या तृतीय काल के अन्त मे जन्मे थे। और ध्यान मे लीन हुए थ तथा मुक्ति भी तृतीय काल के अन्त मे प्राप्त की थी। अत: उनमें एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बडी बात नही है। पुन: "शल्य थी इसलिए केवलज्ञान नही हुआ" यह कथन सगत नही प्रतीत होता है।

रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नही किया है। यथा—"उन्होने उस समय सकल भोगो को त्याग दिया और निर्वस्त्र दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्प्रकप खड़े रहकर प्रतिमा-योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियाँ लग गई जिनके बिलो से निकले हुए बड़े-बड़े सांपों और श्यामा आदि की हरी-हरी लताओ ने उन्हे वेष्टित कर लिया, इस दशा मे उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया[2]।

अतएव भगवान् बाहुबली के शल्य नही थी।

कोई कहते है कि भरत के साथ ब्राह्मी-सुन्दरी बहनो ने भी जाकर उन्हे संबोधा तब उनकी शल्य दूर हुई।

यह कथन भी नितान्त असगत है। क्योंकि भगवान् वृषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद पुरिमताल नगर के नगर के स्वामी भरत के छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान् से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी दीक्षा ले पद प्राप्त किया एवं सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली[3]।

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया जहां उन्हे साठ हजार वर्ष लग गये। तदनतर वापिस आने पर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है।

अत: भगवान् बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिये। चूंकि यह ग्रंथराज ऋषिप्रणीत होने से "आर्षग्रथ" माना जाता है। अत. वह समस्त विवादो से रहित पूर्णतया प्रमाणिक है इसमे किसी को रचमात्र भी सदेह नही होना चाहिए। □□□

(पृ० २६ का शेषांश)

गढ़कर फिर स्थापित नही की गई है। अत: इसका पत्थर पर्वत का अंग होने से सचित्त है।

इसको एक हजार वर्ष हो गये है अत: इसका सहस्राब्दि महोत्सव मनाया जा रहा है। २२ फरवरी सन् १९८१ को इसका १००८ विशाल कलशो से महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होगा जिसमे ८-१० लाख मनुष्य इकट्ठे होंगे। वैदिक कुम्भ पर्व की तरह ही यह जैन कुम्भपर्व होगा।

जैनो मे तीर्थंकर मूर्तियां ही बनाने का प्रचलन है। बाहुबली स्वयं कोई तीर्थंकर नही थे किन्तु तीर्थंकर पुत्र व कामदेव होने से साथ ही एक वर्ष तक घोर तपस्या कर केवली बन मुक्ति प्राप्त करने के कारण उनकी मूर्तियां बनाई गई है। श्रवणबेलगोल, कारकल, वेणूर आदि अनेक स्थानो पर उनकी विशाल और प्राचीन मूर्तियाँ पाई जाती है।

इस लेख द्वारा उन विश्ववद्य गोम्मटेश्वर भगवान् बाहुबलि के चरणारविन्दो मे सहस्रशः प्रणामांजलि प्रस्तुत करता हू।

केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)

---

१. अथ वज्रायुधाधीशा नप्तृकैवल्यदर्शनात्।
लब्धबोधि: सहस्रायुधाय राज्य प्रदाय तत्।।
दीक्षा क्षेमकराख्यात् तीर्थकर्तुरूपाददे।
प्राप्य: सिद्धिगिरौ वर्षप्रतिमायोगमास्थित:।।
तस्य पादौ समालम्ब्य वाल्मीकं बहुवर्तन।
व्रतिन त व्रतत्योऽपि माधवं वा समीप्सव:।।
गाढं रुढा समासेदुर कण्ठमभितस्तनुम्।
किंचित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत्।
संयम सम्यगादाय मुनीन्द्रात् पिहितास्रवात्।
योगावसाने स प्रापत् वज्रायुधमुनीश्वरम्।
तावुभौ सुचिरं कृत्वा प्रव्रज्या सह दु:सहा।
उत्तरपुराण, ६३.१३१-१४०।

२. संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषण:।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्नि: प्रकम्पक:।।
वल्मीक विवरोद्यातैरत्युग्रै: स महोरगै:।
श्यामादीनां चवल्लीभि: वेष्टित: प्राप केवलम्।।
पद्मपुराण, ४.७५-७६

३. महापुराण, पर्व-२४

बाहुबलि-स्तवन

□ श्री भगवत जैन

जिस वीरने हिंसा की हुकूमत को मिटाया।
जिस वीरके अवतार ने पाखण्ड नशाया॥
जिस वीरने सोती हुई दुनिया को जगाया।
मानव को मानवीयता का पाठ पढ़ाया॥
उस वीर, महावीर के कदमों में झुका सर।
जय बोलियेगा एक बार प्रेम से प्रियवर!

कहता हूँ कहानी मैं सुनन्दा के नन्द की।
जिसने न कभी दिल मे गुलामी पसन्द की॥
नौबत भी आई भाई से भाई के द्वन्द्व की।
लेकिन न मोड़ा मुह, न जुबां अपनी बन्द की॥
आजादी छोड़ जीना जिसे नागवार था।
बेशक स्वतन्त्रता से मुहब्बत थी, प्यार था॥

थे 'बाहुबलि' छोटे, 'भरतराज बड़े थे।
छह-खण्ड के वैभव सभी पैरों में पड़े थे॥
थे चक्रवर्ति, देवता सेवा में खड़े थे।
लेकिन थे वे भाई कि जो भाई से लड़े थे॥
भगवान ऋषभदेव के वे नौनिहाल थे।
सानी न था दोनों ही अनुज बे-मिसाल थे॥

भगवान तो, दे राज्य, तपोवन को सिधारे।
करने थे उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर्म के आरे॥
रहने लगे सुख-चैन से दोनों ही दुलारे।
थे अपने-अपने राज्य में सन्तुष्ट बिचारे॥
इतने में उठी क्रान्ति की एक आग विषैली।
जो देखते ही देखते ब्रह्माण्ड में फैली॥

करने के लिए दिग्विजय भरतेश चल पड़े।
कदमों में गिरे शत्रु, नहीं रह सके खड़े॥

थी ताब, यह किसकी कि जो चक्री से आ लडे?
यों आके मिले आप ही राजा बड़े-बडे॥
फिर हो गया छह-खण्ड में भरतेश का शासन।
पुजने लगा अमरों से नरोत्तम का सिंहासन॥

था सबसे बड़ा पद जो हुकूमत का वो पाया।
था कौन बचा, जिसने नहीं सिर था झुकाया?
दल देव-व-दानव का जिसे पूजने आया।
फिरती थी छहों खण्ड मे भरतेश की छाया॥
यह सत्य हर तरह है कि मानव महान् था।
गो, था नहीं परमात्मा; पर, पुण्यवान् था॥

जब लौटा राजधानी को चक्रीश का दल-बल।
जिस देश में आया कि वहीं पड़ गई हल-चल॥
ले-लेके आए भेंट—जवाहरात, फूल-फल।
नरनाथ लगे पूछने—भरतेश की कुशल॥
स्वागत किया, सत्कार किया सबने मोद भर।
था गूंजता भरतेश की जयघोष से अम्बर॥

था कितना विभव साथ में, कितना था सैन्य-दल।
कैसे करूं बयान, नहीं लेखनी में बल॥
हां इतना इशारा ही मगर काफी है केवल।
सब कुछ था मुहैया, जिसे कर सकता पुण्य-फल॥
सेवक करोड़ों साथ थे, लाखों थे ताजवर।
अगणित थे अस्त्र-शस्त्र; देख थरहरे कायर॥

उत्सव थे राजधानी के हर शख्स के घर में।
खुशियां मनाई जा रही थी खूब नगर में॥
थे आ रहे चक्रीश, चक्ररत्न ले कर में।
चर्चाएँ दिग्विजय की थी घर-घर में डगर में॥

इतने में एक बाधा नई सामने आई।
दम-भर के लिए सबको मुसीबत-सी दिखाई ।।

जाने न लगा चक्र नगर-द्वार के भीतर।
सब कोई खड़े रह गए जैसे कि हों पत्थर ।।
सब रुक गई सवारियां, रास्ते को घेर कर।
गोया थमा हो मत्र की ताकत से समुन्दर ।।
चक्रीश लगे सोचने—'ये माजरा क्या है ?
है किसकी शरारत कि जो ये विघ्न हुआ है ?'

क्यो कर नही जाता है चक्र अपने देश को ?
है टाल रहा किसलिये अपने प्रवेश को ?
आनन्द मे क्यो घोल रहा है कलेश को ?
मिटना रहा है, शेष कहाँ के नरेश को ?
बाकी बचा है कौन-सा इन छहों खण्ड में ?
जो डूब रहा आज तक अपने घमण्ड में ।।

जब मंत्रियों ने फिक्र मे चक्रीश को पाया।
माथा झुका के सामने आ भेद बताया ।।
'बाहुबली का गढ नही अधिकार मे आया।
है उसने नही आके अभी शीश झुकाया ।।
जबतक न वे आधीनता स्वीकार करेगे।
तबतक प्रवेश देश में हम कर न सकेंगे' ।।

क्षण-भर तो रहे मौन, फिर ये बैन उचरा।—
'भेजो अभी आदेश उन्हे दूत के द्वारा' ।।
आदेश पा भरतेश का तब भृत्य सिधारा।
लेकर के चक्रवर्ती की आज्ञा का कुठारा ।।
वाचाल था, विद्वान, चतुर था, प्रचण्ड था।
चक्री के दूत होने का उसको घमण्ड था ।।

बोला कि—'चक्रवर्ति को जा शीश झुकाओ।
या रखते हो कुछ दम तो फिर मैदान में आओ।
मै कह रहा हूँ उसको शीघ्र ध्यान में लाओ।
स्वामी का शरण जाओ, या वीरत्व दिखाओ ।।'
सुनते रहे बाहुबली गभीर हो वानी।
फिर कहने लगे दूत से वे आत्म-कहानी ।।

'रे, दूत ! अहंकार में खुद को न डुबा तू।
स्वामी की विभव देख कर मत गर्व में आ तू ।।
वाणी को और बुद्धि को कुछ होश में ला तू।
इन्सान के जामे को न हैवान बना तू ।।
सेवक की नही जैसी कि स्वामी की जिन्दगी।
क्या चीज है दुनिया में गुलामी की जिन्दगी ।।

स्वामी के इशारे पै जिसे नाचना पड़ता।
ताज्जुब है कि वह शख्स भी, है कैसे अकड़ता ?
मुर्दा हुई-सी रूह में है जोश न दृढ़ता।
ठोकर भी खा के स्वामी के पैरों को पकड़ता ।।
वह आ के अहंकार की आवाज में बोले।
अचरज की बात है कि लाश पुतलियां खोले ।।'

सुनकर ये, राजदूत का चेहरा बिगड़ गया।
चुपचाप खड़ा रह गया, लज्जा से गड़ गया ।।
दिल से गरूर मिट गया, पैरों में पड़ गया।
हैवानियत का डेरा ही गोया उखड़ गया ।।
पर, बाहूबली राजा का कहना रहा जारी।
वह यों, जवाब देने की उनकी ही थी बारी ।।

बोले कि—'चक्रवर्ति से कह देना ये जाकर।
बाहूबली न अपना झुकाएँगे कभी सर ।।
मैं भी तो लाल उनका हूँ हो जिनके तुम पिसर।
दोनों को दिए थे उन्होंने राज्य बराबर ।।
सन्तोष नही तुमको ये अफसोस है मुझको।
देखो जरा से राज्य पै, क्या तो है मुझको।

अब मेरे राज्य पर भी है क्यों दांत तुम्हारा ?
क्यों अपने बड़प्पन का चलाते हो कुठारा ?
मैं तुच्छ-सा राजा हूँ, अनुज हूँ मैं तुम्हारा।
दिखलाइयेगा मुझको न वैभव का नजारा ।।
नारी की तरह होती है राजा की सल्तनत।
यों, बन्धु की गृहणी पै न बद कीजिए नीयत ।।

छोटा हूँ, मगर स्वाभिमान मुझमें कम नहीं।
बलिदान का बल है, अगर लड़ने का दम नहीं॥
'स्वातन्त्र' के हित प्राण भी जाएं तो गम नहीं।
लेकिन तुम्हारा दिल है वह जिसमें रहम नहीं॥
कह देना चक्रधर से झुकेगा ये सर नहीं।
बाहुबली के दिल पै जरा भी असर नहीं॥

बेचूंगा न आजादी को, लेकर मैं गुलामी।
भाई हैं बराबर के, हो क्यों सेवको स्वामी?
मत डालिए अच्छा है यही प्यार में खामी।
आऊँगा नहीं जीते-जी देने को सलामी॥'
सुन कर वचन, राजदूत लौट के आया।
भरतेश को आकर के सभी हाल सुनाया॥

चुप सुनते रहे जब तलक, काबू में रहा दिल।
पर देर तक खामोशी का रखना हुआ मुश्किल॥
फिर बोले जरा जोर से, हो क्रोध से गाफिल।
'मरने के लिए आएगा, क्या मेरे मुकाबिल?
छोटा है, मगर उसको बड़ा-सा गरूर है।
मुझको घमण्ड उसका मिटाना जरूर है॥

फिर क्या था, समर-भूमि में बजने लगे बाजे।
हथियार उठाने लगे नृप थे जो विराजे॥
घोड़े भी लगे हींसने, गजराज भी गाजे।
कायर थे, छिपा आंख वे रण-भूमि से भाजे॥
सुभगों ने किया दूर जब इन्सान का जामा।
घन-घोर से संग्राम का तब सज गया सामां॥

दोनों ही पक्ष आ गए, आकर अनी भिड़ी।
सबको यकीन यह था कि दोनों में अब छिड़ी॥
इतने में एक बात वहां ऐसी सुन पड़ी।
जिसने कि युद्ध-क्षेत्र में फैला दी गड़बड़ी॥
हाथों में उठे रह गए जो शस्त्र उठे थे।
मुंह रह गए वे मौन जो कहने को खुले थे॥

ये सुन पड़ा—न वीरों के अब खून बहेंगे।
भरतेश व बाहूबली खुद आके लड़ेंगे॥
दोनों ही युद्ध करके स्वर-बल आजमालेंगे।
हारेंगे वहां विश्व की नजरों में गिरेंगे॥
दोनों ही बली, दोनों ही हैं चरम-शरीरी।
धारण करेंगे बाद को दोनों ही फकीरी॥

क्या फायदा है व्यर्थ में जो फौज कटाए?
बेकार गरीबों का यहाँ खून बहाए?
दोजख का सीना किसलिए हम सामने लाए?
क्यों नारियों को व्यर्थ में विधवाएं बनाए?
दोनों के मंत्रियों ने इसे तय किया मिलकर।
फिर दोनों नरेशों ने दी स्वीकारता इस पर॥

तब युद्ध तीन किस्म के होते है मुकर्रर।
जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध, दृष्टि-युद्ध, भयंकर॥
फिर देर थी या? लड़ने लगे दोनों बिरादर।
दर्शक हैं खड़े देखते इकटक किए नजर॥
कितना यह दर्दनाक है दुनिया का रवैया।
लड़ता है जर-जमीं को यहां भैया से भैया॥

अचरज में सभी डूबे जब ये सामने आया।
जल-युद्ध में चक्री को बाहूबलि ने हराया॥
झुंझला उठे भरतेश कि अपमान था पाया।
था सब्र, कि है जंग अभी और बकाया॥
'इस जीत में बाहूबली के कद की ऊंचाई।—
लोगों ने कहा—खूब ही वह काम में आई!!'

भरतेश के छींटे सभी लगते थे गले पर।
बाहूबली के पड़ते थे जा आँख के अन्दर॥
दुखने लगी आँखें, कि लगा जैसे हो खंजर।
आखिर यों, हार माननी ही पड़ गई थक कर॥
ढाईसौ-धनुष-दुगनी थी चक्रीश की काया।
लघु-भ्रात की पच्चीस अधिक, भाग्यकी माया॥

फिर दृष्टि-युद्ध, दूसरा भी सामने आया।
अचरज, कि चक्रवर्ति को इसमें भी हराया॥
लघु-भ्राता को इसमें भी सहायक हुई काया।
सब दंग हुए देख ये अनहोनी-सी माया।
चक्रीश को पड़ती थी नजर अपनी उठानी।
पड़ती थी जबकि दृष्टि बाहूबली को झुकानी॥

गर्दन भी थकी, थक गए जब आँख के तारे।
लाचार हो कहना पड़ा भरतेश को—'हारे'॥
गुस्से में हुई आँखें, धधकते से अगारे।
पर, दिल मे बड़े जोर से चलने लगे आरे॥
तन करके रोम-रोम खड़ा हो गया तन का।
मुह पर भी झलकने लगा जो क्रोध था मन का॥

सब कांप उठे क्रोध जो चक्रीश का देखा।
चेहरे पर उभर आई थी अपमान की रेखा॥
सब कहने लगे 'अब के बदल जायेगा लेखा।
रहने का नही चक्री के मन, जय का परेखा॥'
चक्रीश के मन मे था—'विजय अबके मैं लूगा।
आते ही अखाड़े, उसे मद-हीन करूँगा॥'

वह वक्त भी फिर आ ही गया भीड़ के आगे।
दोनो ही सुभट लड़ने लगे क्रोध में पागे॥
हम भाग्यवान् इनको कहें, या कि अभागे?
आपस में लड़ रहे जो खड़े प्रेम को त्यागे।
होती रही कुछ देर घमासान लड़ाई।
भरपूर दाव पेच में थे दोनों ही भाई॥

दर्शक थे दंग—देख विकट युद्ध—थे थर-थर।
देवों से घिर रहा था समर-भूमि का अम्बर॥
नीचे था युद्ध हो रहा दोनों में परस्पर।
बाहूबली नीचे कभी ऊपर थे चक्रधर॥
फिर देखते ही देखते ये दृश्य दिखया।
बाहूबली ने भरत को कंधे पै उठाया॥

यह पास था कि चक्री को धरती पै पटक दे।
अपनी विजय से विश्व की सीमाओं को ढक दे॥
रण-थल में बाहुबल से विरोधी को चटक दें।
भूले नही जो जिन्दगी-भर ऐसा सबक दें॥
पर, मनमें सौम्यता की सही बात ये आई।—
'आखिर तो पूज्य हैं कि पिता-सम बड़े भाई!!'

उस ओर भरतराज का मन क्रोध में पागा।
'प्राणान्त कर दूं भाई का यह भाव था जागा॥
अपमान की ज्वाला में मनुज-धर्म भी त्यागा।
फिर चक्र चलाकर किया सोने में सुहागा॥
वह चक्र जिसके बल पै छहों खण्ड झुके थे।
अमरेश तक भी हार जिससे मान चुके थे॥

कन्धे से ही उस चक्र को चक्री ने चलाया।
सुरनर ने तभी 'आह' से आकाश गुंजाया॥
सब सोच उठे—'दैव के मन क्या है समाया?'
पर चक्र ने भाई का नहीं खून बहाया॥
वह सौम्य हुआ, छोड़ बनावट की निठुरता।
देने लगा प्रदक्षिणा धर मन में नम्रता॥

फिर चक्र लौट हाथ में चक्रीश के आया।
सन्तोष-सा, हर शख्स के चेहरे पै दिखाया॥
श्रद्धा से बाहुबलि को सबने भाल झुकाया।
फिर कालचक्र दृश्य नया सामने लाया॥—
भरतेश को रणभूमि में धीरे से उतारा।
तत्काल बहाने लगे फिर दूसरी धारा॥

धिक्कार है दुनिया कि है दमभर का तमाशा।
भटकता, भ्रमता है पुण्य-पाप का पाशा॥
कर सकते वफादारी की हम किस तरह आशा?
है भाई जहाँ भाई ही के खून का प्यासा॥
चक्रीश! चक्र छोड़ते क्या यह था विचारा?
मर जाएगा बेमौत मेरा भाई दुलारा॥

भाई के प्राण से भी अधिक राज्य है प्यारा।
दिखला दिया तुमने इसे, निज कृत्य के द्वारा॥

तीनों ही युद्ध में हुआ अपमान तुम्हारा।
जब हार गए न्याय से हट चक्र भी मारा ॥
देवोपुनीत शस्त्र न करते हैं वंश-घात।
भूले इसे भी, आ गया जब दिल में पक्षपात ॥

बस बच गया पर तुमने नहीं छोड़ी कसर थी।
सोचो, जरा भी दिल मे मुहब्बत की लहर थी ?
दिल में था जहर, आग के मानिंद नजर थी।
थे चाहते कि जल्दी बधे भाई की अरथी ॥
अन्धा किया है तुमको, परिग्रह की चाह ने ॥
सब कुछ भुला दिया है गुनाहों की छाह ने ॥

सोचो तो, बना रह सका किसका घमण्ड है ?
जिसने किया उसी का हुआ खण्ड-खण्ड है ॥
अपमान, अहंकार की चेष्टा का दण्ड है।
किस्मत का वदा, बल सभी बल में प्रचण्ड है ॥
है राज्य की ख्वाहिश तुम्हें लो राज्य संभालो।
गद्दी पै विराजे उसे कदमों में झुकालो ॥

उस राज्य को धिक्कार कि जो मद में डुबा दे।
अन्याय और न्याय का सब भेद भुला दे ॥
भाई की मुहब्बत को भी मिट्टी मे मिला दे।
या यों कहो—इन्सान को हैवान बनादे।
दरकार नही ऐसे घृणित राज्य की मन को।
मैं छोडता हूँ आज से इस नारकीपन को ॥'

यह कहके चले बाहूबलि मुक्ति के पथ पर।
सब देखते रहे कि हुए हों सभी पत्थर ॥
भरतेश के भीतर था व्यथाओं का बवण्डर।
स्वर मौन था, अटल थे कि धरती पै थी नजर ॥
आँखों में आगया था दुखी-प्राण का पानी।
या देख रहे थे खड़े वैभव की कहानी ॥

× × × ×

जाकर के बाहुबली ने तपोवन में जो किया।
उस कृत्य ने संसार सभी दंग कर दिया ॥
तपव्रत किया कि नाम जहां में कमा लिया।
कहते हैं तपस्या किसे, इसको दिखा दिया ॥
कायोत्सर्ग वर्ष भर अविचल खड़े रहे।
ध्यानस्थ इस कदर रहे, कवि किस तरह कहे ?

मिट्टी जमी शरीर से सटकर, इधर-उधर।
फिर दूब उगी, बेलें बढ़ी बाहों पै चढ़ कर ॥
बांबी बना के रहने लगे मौज से फनधर ॥
मृग भी खुजाने खाज लगे ठूठ जानकर ॥
निस्पृह हुए शरीर से वे आत्मध्यान में।
चर्चा का विषय बन गए सारे जहान मे ॥

पर, शल्य रही इतनी गोमटेश के भीतर।
'ये पैर टिके हैं मेरे चक्र की भूमि पर।'
इसने ही रोक रखा था कैवल्य का दिनकर।
वरना वो तपस्या थी तभो जाते पाप झर ॥
यह बात बढ़ी और सभी देश में छाई ॥
इतनी कि चक्रवर्ति के कानों में भी आई ॥

सुन, दौड़े हुए आए भक्तिभाव से भरकर।
फिर बोले मधुर-वैन ये चरणों मे झुका सर ॥
'योगीश ! उसे छोड़िये ! जो द्वन्द्व है भीतर।
हो जाय प्रगट जिससे शीघ्र आत्म दिवाकर ॥
हो धन्य, पुण्यमूर्ति ! कि तुम हो तपेश्वरी !
प्रभु ! कर सका है कौन तुम्हारी बराबरी ?

मुझसे अनेकों चक्री हुए, होते रहेगे।
यह सच है कि सब अपनी इसे भूमि कहेगे ॥
पर, आप सचाई पै अगर ध्यान को देंगे;
तो चक्रधर की भूमि कभी कह न सकेंगे ॥
मैं क्या हूँ ? तुच्छ ! भूमि कहाँ ? यह तो विचारो।
कांटा निकाल दिल से अकल्याण को मारो ॥'

चक्री ने तभी भाल को धरती से लगाया।
पद-रज को उठा भक्ति से मस्तक पै चढाया ॥

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

जैन काशी : मूडबिद्री

□ श्री गोकुल प्रसाद जैन, नई दिल्ली

मूडबिद्री यह क्षेत्र 'जैन काशी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान मंगलूर से उत्तर की ओर कार्कल तालूक (दक्षिण कन्नड जिले) में अवस्थित है। मूडबिद्री जैनों को अगर धार्मिक दृष्टि से पवित्र है तो अन्य लोगों को ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इसका अपर नाम संस्कृत में 'वंशपुर' अथवा 'वेणपुर' भी है। यहाँ का प्राचीन मन्दिर 'गुरुबसदि' (गुरुमन्दिर) या 'सिद्धांतबसदि' एक समय उन्नत स्थिति में था। एक समय इस गाँव का तथा इस मन्दिर का अधिकांश भाग जैनों के अभाव से और अन्य बाधाओं से अरण्यमय होकर पेड़ों और बाँसों (वंशवृक्ष) से व्याप्त हो गया था। इन्ही बातों के कारण इसका नाम 'बिदिरे' या 'वेणुपुर' पड़ा। कन्नड भाषा में बाँस को 'बिदिरु' कहते है। इस 'बिदिरु' शब्द से ही 'बिदिरे' बना है। 'बिद्रे' या 'बिद्री' इसका अपभ्रंश है। चूंकि यह स्थान मूलूकि, मगलूर आदि समीपस्थ बन्दरगाह या व्यापार स्थलों से 'मूडु' (पूर्व) दिशा मे स्थित है। अत: 'मूडुबिदिरे' 'मूडुबिद्री' नाम से पुकारा जाने लगा। जो आजतक प्रसिद्ध व मान्य बन गया है। इसके अलावा यहाँ अनेक जैन व्रतिक (साधु, गुरु, श्रमण) रहने के कारण, इसे शिला शासन मे 'व्रतपुर' भी कहा गया है।

यद्यपि मूडबिद्री 'तुलुनाडु' (यहाँ तुलु बोली बोली जाती है, अत: इस प्रदेश को 'तुलुनाडु' कहते हैं, नाडु=प्रदेश) या दक्षिण कन्नड जिले का एक छोटा-सा नगर है तथापि चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों से यह अतीव सुन्दर है। यहाँ बेशुमार फल-भरित हरे-भरे खेत हैं, बाग-बगीचे हैं। यत्र तत्र तालाब है। यहाँ पर नारियल, सुपारी, काजू, पान, कालीमिर्च आदि विशेष रूप से पैदा होता है। यहाँ का राज महल, जैनमंदिर शिल्प-कला की दृष्टि से विशेषाकर्षक हैं। इस क्षेत्र की जलवायु समशीतोष्ण है इसी कारण वहाँ पर सरकार ने भी टी० बी० (क्षयरोगी का हास्पिटल खोला है।

ई० पूर्व तृतीय शताब्दी मे श्रुतकेवली भद्रबाहु के उत्तर भारत से श्रवणबेलगोला पदार्पण से पूर्व ही मूडबिद्री व यहाँ के चारों ओर के प्रदेशों मे जैनों का अस्तित्व था। यद्यपि कि० श० ७वीं शती से पूर्व का ऐतिहासिक आधार प्राप्त नही होता, फिर भी दक्षिण कन्नड जिले के बहुभाग मे प्राप्त जैनत्व के अवशेषो से यह बात सिद्ध होती है।

इतिहास का प्रमाण है कि ई० पूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुजी ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त एवं १२००० शिष्यों के साथ दक्षिण मे आकर श्रवणबेलगोला मे निवास किया। उनके इन शिष्यों मे कुछ ने तमिल, तेलुगु कर्नाटक एवं तोलव देशों मे जाकर धर्म का प्रचार और यत्र तत्र निवास किया तब से मूडबिद्री मे भी जैन लोगों ने आकर वाणिज्य-व्यवसाय करते हुए अनेक जैन मन्दिर बनवाये, ये द्वीपांतर में व्यापार करते हुए विपुल धनार्जन कर प्रसिद्ध थे।

परन्तु कालदोष से धन-जन-संपन्न इस मूडबिद्री में भी जैनों का अभाव हो गया और यहाँ का जिनमन्दिर चारों ओर पेड़ों और वंशवृक्षों से घिर गया। लगभग ७वीं शताब्दी मे श्रवणबेलगोला से इधर आये हुए एक मुनि-महाराज ने एक जगह अन्योन्य स्नेह से खेलते हुए एक बाघ और गाय को देखा। इस अपूर्व दृश्य को देखकर मुनि जी ने यह निश्चय किया कि इस स्थान मे कुछ-न-कुछ अतिशय अवश्य है। जब घिरे हुए पेड़ो को कटवाया तब श्री भगवान पार्श्वनाथ प्रभु की विशालकाय, अतीव सुन्दर व मनोज्ञ मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। पाषाणमयी यह मूर्ति हजारों वर्ष प्राचीन है। उस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी गयी।

मूडबिद्री की प्रसिद्धि यहाँ 'गुरुबसदि' या सिद्धान्त मन्दिर' मे सुरक्षित मूलागम व परमागम धवलादि ग्रंथ व

अनर्घ्य नवरत्न प्रतिमाओं से हैं। धवलादि ग्रंथ कन्नड लिपि मे लिखे हैं, इनको करीब ८५० वर्ष हो गये हैं। जब उत्तर भारत में शास्त्र ग्रंथ कागज पर लिखे जाते थे, तब दक्षिण में द्राविडि लिपि के ग्रंथ ताडपत्र में सुई से कुरेद कर ऊपर से स्याही भरे जाने की प्रथा थी। लेकिन आश्चर्य यह है कि ये तीनों ग्रंथ सुई से न लिखे जाकर लेखनी द्वारा लाख की स्याही से लिखे गये हैं। यह नयी खोज उक्त लिपिकारों की अपनी ही है। बाद के किसी भी लिपिकार ने इस प्रथा को नहीं अपनाया। इस जिले में प्राप्त सहस्रशः ताडपत्रीय ग्रंथों में ये तीन मात्र ग्रंथ स्याही से लिखे गये हैं।

इसी 'गुरुबसदि' में वज्र, मरकत, माणिक्य, नील, वैडूर्य आदि बहुमूल्य रत्नों से निर्मित अद्वितीय व अनुपम जिन प्रतिमाएँ है। मूडबिद्री के प्राचीन श्रावक जहाजों के द्वारा द्वीपान्तर जाकर वाणिज्य करने मे प्रसिद्ध थे। वे अरेबिया, अफ्रीका आदि पश्चिम देशों मे और मलाया, जावा, इन्डोनेसिया, चीन आदि सुदूरपूर्व देशो मे जाकर व्यापार करते थे अतएव जिराफ चैनीस ड्रागन आदि प्राणियों से परिचित इन लोगों ने 'त्रिभुवनतिलकचूडामणि-मन्दिर की आधारशिला में इन विचित्र प्राणियों की आकृतियाँ विभिन्न ढगो मे आकर्षक भगियो मे खुदवाई। 'त्रिभुवनतिलकचूडामणि मन्दिर' के 'भैरोदेवी मण्डप' के निचले भाग के पत्थर मे जिराफ मृग और चीनि ड्रगन के चित्र चित्रित हैं। यह जिराफ मृग आफ्रिका मे पाया जाता है। और ड्रगन तो चीन देश मे पाया जाता है। यह वहाँ का पुराण प्रसिद्ध प्राणि है। यह मकर (मगर) आकृति का जलचर है। विदेश के यह प्राणि यहाँ पर चित्रित होने से सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय के जैन श्रावक व्यापारार्थ इन देशों मे भी गये होंगे व व्यापारिक संपर्क बढ़ जाने से वहाँ के रहने वाले प्राणि यहाँ पर चित्रित हुए होंगे।

मूडबिद्री के मन्दिर क्या है? शिलालेखों, शिल्पकला व शिलापट्टो का आगार ही हैं। एक अज्ञात कवि ने शिलालेख मे तत्कालीन 'वंशपुर' (मूडबिद्री) का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—

"सुन्दर बाग-बगीचे, विकसित पुष्पों की सुगन्ध से, व्याप्त हुवा से चारों ओर से सुशोभित, बाह्य प्रदेशों से घिरा हुआ, उत्तम जिनमन्दिरो से पवित्र एव रम्य आवास गृहों से सुशोभित यह मूडबिद्री देवांगनाओं के समान पुण्य स्त्रियों के विराजने से सुन्दर है।"

मूडबिद्री के एक और शासन मे तत्कालीन 'वेणुपुर' का जीता जागता चित्रण निम्न रूप में है :—

"तुलुदेश मे वेणुपुर नाम का एक विशिष्ट नगर सुशोभित है। यहाँ पर जैन धर्मानुयायी सुपात्र दानादि उत्साह से करने वाले भव्यजीव विराजमान है। साधु-सतो से वे श्रद्धापूर्वक शुद्धमन से जैन शास्त्र का श्रवण करते हैं। इस प्रकार यह वेणुपुर सुशील सत्पुरुषों से शोभित है।"

मूडबिद्री का गुरुपीठ या भट्टारक का गादी पीठ :

यहाँ के गुरुपीठ की स्थापना ई० सन् १२२० मे श्रवणबेलगोला के मठ के स्वस्ति श्री चारुकीर्ति पण्डिताचार्य स्वामीजी ने की थी। द्वारसमुद्र (हेळेयबीडु) के राजा बिट्टिदेवने (सन् ११०४—११४१) जैन धर्म को छोड़कर वैष्णव धर्म स्वीकार किया और विष्णुवर्धन कहलाया। मतांतरी राजा विष्णुवर्धन ने अनेको जैन जिनालयों को तुड़वाया, और बन्धुओं को मरवा डाला। इस अत्याचार के फलस्वरूप मानो वहाँ की जमीन पर बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गयी। लोगों और प्राणियों की बड़ी हानि हुई। कि० श० ११७२ से १२१९ तक यहाँ के शासन करने वाले वीर बल्लाल राय ने उस घोर उपसर्ग से बचने के लिए श्रवणबेलगोला के श्री चारुकीर्ति स्वामी जी से प्रार्थना की। राजा की प्रार्थना मान कर स्वामीजी द्वारसमुद्र आये। भगवान् पार्श्वप्रभु की 'कलिकुण्ड आराधना' करते हुए मन्त्रपूत 'कूष्माण्डो, (कुम्हड़ों) से दरारें पाट दी, जमीन पूर्ववत् हो गई।

वहाँ से श्री स्वामीजी सीधे दक्षिण कन्नड जिले के कार्कल तालूक के 'नल्लूर' आये और वहाँ एक मठ की स्थापना की। वहाँ से मूडबिद्री के सिद्धान्त दर्शन करने यहाँ आये और यहाँ पर भी सन् १२२० मे एक मठ की स्थापना की। इस तरह यह दोनों मठ श्रवणबेलगोला के शाखा मठ होने के कारण यहाँ के मठाधिपति भी 'चारु-कीर्ति' अभिधान से प्रसिद्ध हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से ७६० वर्ष पहले यहाँ के मठ की स्थापना हुई थी।

इस समय जैन मठ के भट्टारक गद्दी में विराजमान स्वस्ति श्रीमद्भिनव भट्टारक प० पूज्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी एम्० ए० (हिन्दी), एम्० ए० (संस्कृत) साहित्यशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री, उपाध्याय (० एम्पी० डी० दर्शन) का पट्टाभिषेकोत्सव दि० ३०—४--१९७६ को सम्पन्न हुआ था। अनेक भाषाओं के ज्ञाता, उद्भट विद्वान् प० पू० भट्टारकजी के संचालकत्व व सफल नेतृत्व मे क्षेत्र रात्रि-दिन प्रगति के पथ पर अग्रसर है। मूडबिद्री के अठारह मन्दिर और अनर्घ्य रत्नप्रतिमाएं आपके आधीन हैं। आप इन सब के मेनेजिंग ट्रस्टी व सर्वाधिकारी हैं।

मूडबिद्री के अठारह भव्य जिनमंदिर :

मूडबिद्री मे कुल मिला कर अठारह भव्य जिनमन्दिर हैं। इसमें 'श्री पार्श्वनाथ बसदि को 'त्रिभुवन तिलक चूडामणि बसदि' भी कहते है। इन मन्दिरों के अलावा अन्य मन्दिरों मे भी शिल्पकला की उच्चकोटि की गरिमा खुल कर सामने आई है। 'बसदि' यह सस्कृत 'वसति' शब्द का तद्भव है। इसी प्रकार होसबसदि, बडगबसदि, शेट्टरबसदि, हिरेबसदि, बेटकेरी बसदि, कोटिबसदि, विक्रमशेट्टिबसदि, कल्लुबसदि, लेप्पद बसदि, देरम्मशेट्टिबसदि, चोलशेट्टिबसदि, महादेवशेट्टिबसदि, वैकणतिकारिबसदि, केरेबसदि, पडुबसदि, श्री जैनमठबसदि, जैनपाठशालेयबसदि आदि बसदि विद्यमान हैं जो प्रतिबिम्बोंजिनलताओं से शोभायमान है और जहाँ नित्य अनेक धर्मानुष्ठान सम्पन्न होते रहते हैं।

मूडबिद्री के अन्य दर्शनीय स्थल

१. समाधिस्थान (निषिधियाँ) :

यहाँ स्वर्गीय मठाधिपतियों की १८ समाधियों के अतिरिक्त अंबुसेट्टी एवं आदुसेट्टी नामक दो श्रीमान् श्रावकों की समाधियाँ बेटकेरी बसदि से १ फर्लांग पर विद्यमान हैं। परन्तु यह जानना कठिन है कि ये समाधियाँ किन-किन की हैं? और कब निर्माण हुई हैं। केवल दो एक समाधियों में शिलालेख विद्यमान हैं।

२. कोडंकल्लु न्याय बसदि :

मूडबिद्री से करीब १ मील पर 'कोडंकल्लु' नामक स्थान में 'न्यायबसदि' नामक एक मंदिर एवं एक समाधिस्थान विद्यमान है। कहा जाता है कि इस मंडप में लोगों के न्याय-अन्याय का विचार और निर्णय होता था। इसी कारण से मंडप का नाम 'न्यायबसदि' नाम पड़ा है जो सार्थक ही है। इसके पास ही श्री चन्द्रकीर्ति मुनि (ई० सन् १६३७) का एक समाधिस्थान और सति सहगमन करने का एक स्थान "महासतिकट्टे (मास्तिकट्टे) भी है।

३. चौटर राजमहल :

दक्षिण कन्नड जिले के जैन राजाओं मे चौटरवंशीय राजा बड़े प्रसिद्ध थे। इनकी राजधानी पहले "उल्लाल" में थी। हळेबीड के राजा विष्णुवर्धन के अधीन रहने वाले राजागण स्वतन्त्र होने के बाद चौटर वंशीय राजाओं ने अपनी राजधानी को मूडबिद्री और इसके निकटवर्ती 'तुलिगे" मे स्थापित किया। इन राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष तक (११६० से १८६७ ई० सन् तक) स्वतंत्र रूप से शासन किया। इनके वंशज आज भी मूडबिद्री (चौटर पैलेस) मे रहते है जिनको सरकार से मालिखाना Poltical Pension) मिलता है। यह राजघर यद्यपि जीर्ण-शीर्ण है फिर भी इसे देखकर इसकी महत्ता का अनुभव कर सकते हैं। राजसभा के विशाल स्तंभों पर खुदे हुए चित्र दर्शनीय हैं। इनमें चित्रकला की दृष्टि से "नवनारीकुंजर" और "पचनारीतुरग" की रचना और शिल्पकला अत्यन्त मनोज्ञ है।

४. श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धांत भवन :

यह एक शास्त्रभंडार है। स्व० पं० लोकनाथजी शास्त्री ने इसका निर्माण किया और सैकड़ों ताडपत्रीय ग्रंथों को अन्यान्य गाँवों में जाकर संग्रहित किया और यहाँ सुरक्षित रखा है। इसकी अलग ट्रस्टी है। मुद्रित ग्रंथों का भी संग्रह अच्छा है।

५ श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान :

इस भवन का निर्माण स्वनामधन्य, श्रावकशिरोमणि, स्व० साहू श्री शांतिप्रसाद जी ने लाखों रुपये व्यय करके किया है। इस संस्थान या भवन में परम पुनीत अमूल्य ताडपत्रों पर लिखे सहस्रशः जैन पुराण, दर्शन, धर्म, सिद्धांत, न्याय, ज्योतिष, आचारपरक 'जिनवाणी माँ' का संग्रह है। इन ताडपत्रीय जैन शास्त्रों के अध्ययनार्थ व अवलोकनार्थ देश-विदेश के विद्वान यहाँ पधार कर, इन

अनमोल ग्रंथ रत्नों का दर्शन कर पुनीत हो जाते हैं। अनेक ताडप्रतियों का समुद्धार, पुनर्लेखन, संशोधन, संग्रह, प्रकाशन आदि कार्य प० पू० भट्टारकजी के नेतृत्व में संपन्न हो रहा है। देश-विदेश के जैन-जैनेतर विद्वानों के लिए तो यह संग्रहालय मानों ज्ञान का अजस्र स्रोत है और है सरस्वती का वरद और पुनीत अक्षुण्ण भंडार।

मूडबिद्री की अन्य संस्थाएँ और सामाजिक स्थिति :

अब तक ऐतिहासिक मूडबिद्री का अवलोकन हुआ। अब आधुनिक मूडबिद्री का अवलोकन करेंगे।

मूडबिद्री मे तीन हाय-स्कूल है—१) जैन हायस्कूल, २) बाबू राजेन्द्र प्रसाद हायस्कूल, ३) कान्वेन्ट गर्ल्स हायस्कूल। जैन हायस्कूल रजत जयंति मना कर अब जैन ज्यूनियर कालेज के रूप मे परिवर्तित हो गया है।

सन् १९६५ मे 'समाज मंदिर सभा' नामक सांस्कृतिक संस्था द्वारा यहाँ पर "महावीर आर्टस, सायन्स एण्ड कामर्स कालेज" खोला गया है।

सन् १९७९ में दक्षिण कन्नड जिला जैन समाज के सत्प्रयत्न से "श्री धवला कालेज" मूडबिद्री में प्रारंभ हुआ है।

'भरतेश वैभव' 'रत्नाकर शतक' आदि श्रेष्ट कृतियों के रचयिता महाकवि रत्नाकर वर्णी की जन्मभूमि भी यही मूडबिद्री है। इसी कवि के नाम से मूडबिद्री का एक भाग 'रत्नाकर वर्णी नगर' के रूप में नामकरण पाकर सुशोभित है।

मूडबिद्री की जनसंख्या लगभग १०-१२ हजार है। लोगों की आर्थिक स्थिति सामान्य है। जैन भाइयों के लगभग ६० घर हैं। जैनों की आर्थिक स्थिति (२-४ घर को छोड़ कर) सामान्य है। प्रायः सब लोगों का जीवनधार कृषि पर ही निर्भर है। नारियल, सुपारी, धान, काजू, आदि ही यहाँ की प्रमुख कृषि या उपज है। परंतु इस समय 'भू सुधारणा कानून' पास होकर लागू होने से सब खेतिहर जैनों के ऊपर और जैन मंदिरों के ऊपर भीषण संकट आया है।

□□□

(पृ० ३४ का शेषांश)

गोया ये तपस्या का ही सामर्थ्य दिखाया—
पुजना जो चाहता था वही पूजने आया ॥
फिर क्या था, मन का द्वन्द्व सभी दूर हो गया।
अपनी ही दिव्य-ज्योति से भरपूर हो गया ॥

कैवल्य मिला, देवता मिल पूजने आए।
नर नारियों ने खूब ही आनन्द मनाए ॥
चक्री भी अन्तरग मे फूले न समाए।
भाई की आत्म-जय पै अश्रु आँख मे आए ॥
है वंदनीय, जिसने गुलामी समाप्त की।
मिलनी जो चाहिए, वही आजादी प्राप्त की ॥

× × × ×

उन गोम्मटेश-प्रभु के सौम्य-रूप की झांकी।
वर्षों हुए कि विज्ञ शिल्पकार ने आंकी ॥
कितनी है कलापूर्ण, विशद, पुण्य की झांकी।
दिल सोचने लगता है, चूमू हाथ या टांकी ?
है श्रवणबेल्गोल मे वह आज भी सुस्थित।
जिसको विदेशी देख के होते हैं चकितचित ॥

कहते हैं उसे विश्व का वे आठवां अचरज।
खिल उठता जिसे देख अन्तरग का पंकज ॥
झुकते हैं और लेते हैं श्रद्धा का चरणरज।
ले जाते हैं विदेश उनके अक्स का कागज ॥
वह धन्य, जिसने दर्शनों का लाभ उठाया।
बेशक सफल हुई है उसी भक्त की काया ॥

उस मूर्ति से है शान कि शोभा है हमारी।
गौरव है हमें, हम कि हैं उस प्रभु के पुजारी ॥
जिसने कि गुलामी को बला सिर से उतारी।
स्वाधीनता के युद्ध की था जो कि चिंगारी ॥
आजादी सिखाती है गोम्मटेश की गाथा।
झुकता है अनायास भक्तिभाव से माथा ॥

× × × ×

'भगवत्' उन्ही-सा शौर्य हो, साहस हो, सुबल हो।
जिससे कि मुक्ति-लाभ ले, नर जन्म सफल हो ॥

□□□

बाहुबलि की प्रतिमा गोम्मटेश्वर क्यों कही जाती हैं ?

□ डा० प्रेमचन्द जैन, जयपुर

चामुण्डराय ने मैसूर के श्रवणबेलगोल नामक ग्राम के सन्निकट छोटी-सी पहाड़ी पर एक विशाल आकृति और अत्यन्त मनोहर मूर्ति निर्माण कराई थी। यह बाहुबलि जी की मूर्ति है और गोम्मटेश्वर कहलाती है।

श्रवण-बेलगोल के शिलालेख नं० २३४ (८५) मे श्रवण बेलगोल की बाहुबलि प्रतिमा और प्रतिष्ठा सम्बन्धी एक कहानी दी गई है, जो बहु प्रचलित हो चुकी है। इसके वर्णनानुसार गोम्मट, पुरुदेव अपरनाम ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबलि या भुजबलि था। ये भारत के लघु भ्राता थे। इन्होंने भरत को युद्ध परास्त कर दिया, किन्तु संसार से विरक्त हो राज्य भरत के लिए ही छोड़ उन्होंने जिन-दीक्षा धारण कर ली। भरत ने पोदनपुर के समीप ५२५ धनुष प्रमाण बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई। कुछ काल बीतने पर मूर्ति के आसपास की भूमि कुक्कुट सर्पों से व्याप्त और बीहड़ वन से आच्छादित होकर दुर्गम्य हो गई।

राचमल्ल नृप के मन्त्री चामुण्डराय को बाहुबली के दर्शन की अभिलाषा हुई, पर यात्राके हेतु जब वे तैयार हुए तब उनके गुरु ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इस पर चामुण्डराय ने स्वयं वैसा ही मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने का विचार किया और उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा करायी जो गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके पूर्व भी और पश्चात् भी दक्षिण में गोम्मटेश्वर की और विशालकाय मूर्तियां निर्माण हुई। चालुक्यों के समय मे ई० सन् ६५० मे निर्मित गोम्मट की एक मूर्ति बीजापुर के बादामी में है। मैसूर के समीप ही गोम्मटगिरि में १४ फीट ऊँचीं एक गोम्मट मूर्ति है जो १४वी सदी मे निर्मित है, इसके समीप ही कन्नंबाड़ी (कृष्णराज सागर) के उस पार १२ मील दूरी पर स्थित बसदि होसकोटे हुवल्ली मे गङ्गकालीन एक 'गोम्मट' मूर्ति है जो १८ फीट ऊँची है। मैसूर राज्य के अन्वेषण विभाग ने हाल ही मे इसका अन्वेषण किया है। एक कारकल में सन् १४३२ मे १४½ फीट ऊँची और दूसरी वेणूर में सन् १६०४ ईस्वी मे ३५ फीट ऊँची मूर्तियाँ स्थापित हुई और वे भी 'गोम्मट' 'गोमट' 'गोमट्ट' 'गुम्मट' अथवा गोम्मटेश्वर कहलाती है। अतः इस लेख में यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास है कि ये मूर्तियां गोम्मट क्यों कही जाती हैं ?

कुछ विद्वानों का मत है कि इस मूर्ति के निर्मापक का अपरनाम 'गोम्मट' या गोम्मटराय था। क्योंकि 'गोम्मट-सार' नामक ग्रन्थ मे उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ है, अतः उनके द्वारा स्थापित मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' अर्थात् (गोम्मटस्य)+ईश्वरः कहलाना उपयुक्त है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि जब श्रवणबेलगोल स्थित बाहुबलि की मूर्ति उपर्युक्त कारण से गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हो गई इसके पश्चात् से ही अन्यत्र भी तत्साम्य से बाहुबलि की मूर्तियां 'गोम्मट' 'गोमट' गोमट्ट' गोम्मटेश्वर आदि कही जाने लगीं। किन्तु निम्नलिखित कारणों से यह मत निस्सार प्रकट होता है—

(१) चामुण्डराय के खास आश्रय मे रहे हुए कवि रन्न ने अपने 'अजितपुराण' मे उनका उल्लेख इस नाम से कहीं पर भी नहीं किया है। अजितपुराण का समय ९९३ ई० है अतः इस दशा मे यह मानना उचित ही है कि सन् ९९३ ई० तक चामुण्डराय का 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' ऐसा कोई नाम नहीं था।

(२) कवि दोड्डय ने अपने संस्कृत ग्रन्थ 'भुजबलि शतक' सन् (१५५०) में लिखा है कि श्रवणबेलगोल की छोटी पहाड़ी 'चन्द्रगिरि पर खड़े होकर चामुण्डराय ने बड़ी पहाड़ी 'इन्द्रगिरि पर तीर मारा था जिससे इस विन्ध्य-गिरि पर पोदनपुर के गोम्मट प्रकट हो गये थे। और उनकी पूजा के लिए चामुण्डरायने कई ग्राम भेंट किये थे।

अब चूंकि 'भुजबलि शतक' मे भी चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मट' नाम से नही है; अतः यह नही कहा जा सकता कि श्रवणबेलगोल की मूर्ति का नाम उनके संस्थापक की अपेक्षा से गोम्मटेश्वर पड़ा था।

(३) बाहुबलि की मूर्ति के सस्थापक स्वय चामुण्डराय ने जो गोम्मट-मूर्ति के पाद-मूल मे तीन लेख अंकित कराये हैं, उनमे भी उन्होंने अपने को 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' नही लिखा है। वे ये है—

१. लेख नं० १७५—श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।" कब और किसे यह नहीं लिखा है। यह लेख कन्नड़ भाषा मे है।

२ लेख नं० १७६—"श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।" कब और किसे यह नही लिखा है। यह लेख तमिल भाषा में है।

३. लेख नं० १७९—"श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।" इसमें भी कब और किसको इसका उल्लेख नहीं है। यह लेख मराठी भाषा और नागरी लिपि में अंकित है। उपर्युक्त तीनों प्राचीन लेखों से भी स्पष्ट है कि स्वय चामुण्डराय भी गोम्मट नाम से परिचित नही थे।

४. श्रवणबेलगोल के शिलालेखो मे (एपीग्राफिया कर्णाटिका, भाग-२ अनुक्रमणी (Index) पृष्ठ १३ प्रकट है कि उनमे से जिन लेखो मे गोम्मट नाम का उल्लेख हुआ है वे सर्व-प्राचीन रूप मे सन् १११८ के न० ७३ व १२५ के शिलालेख है। इनमे मूर्ति को गोम्मटदेव लिखा है और चामुण्डराय 'राय' कहे गये है। इससे भी स्पष्ट होता है कि मूर्ति का नाम ही गोम्मटदेव कहा जाने लगा था।

५. श्रवणबेलगोल स्थित बाहुबली का नाम मूर्ति स्थापक की अपेक्षा से यदि गोम्मटेश्वर पड़ा होता तो अन्यत्र विभिन्न स्थानों पर स्थापित बाहुबलि की प्रतिमाओं का नाम अन्य स्थापकों (निर्मापकों) की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न क्यों नही पड़ा? वास्तविकता तो यह है कि श्रवण-बेलगोल के बाहुबलि की स्थापना के पूर्व भी बाहुबलि का गोम्मट अर्थ में उल्लेख हुआ है जिसका आगे प्रसंगानुसार वर्णन है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहुबलि का ही अपर नाम 'गोम्मट' 'गुम्मट' था। वह ही आगे चल कर गोम्मटेश्वर हो गया। जिसके लिए निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

गोम्मट शब्द की व्युत्पत्ति—प० के० बी० शास्त्री ने अपने एक लेख में गोम्मट शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि प्राकृत भाषा के त्रिविक्रम व्याकरण के "गुम्म गुम्मडौ मुहे:" ३-४-१३१) इस सूत्रानसार 'मोहक' अर्थ मे णिजन्तार्थ में 'मुह्' धातु को गुम्मड' आदेश होता है। इस शब्द के उकार के स्थान मे उसी व्याकरण के के गजडदव घझढधभ कचटतप खछठथफाल् (३-२-६५) सूत्रानुसार डकार आकर 'गुम्मट' शब्द बनता है। इस मूल रूप में ही उच्चारण भेद से गोमट और गोम्मट शब्द बन गये हैं।

परन्तु एक अन्य प्रकार से—कात्यायन की प्राकृत मंजरी के 'न्मो मः' (३-४२) सूत्र के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ' शब्द प्राकृत मे 'गम्मह' हो जाता है। उधर कन्नड़ भाषा में संस्कृत का 'ग्रन्थि' शब्द 'गण्टि' और 'रथ' शब्द 'बट्ट' आदि में परिवर्तित हो जाने है। अतएव संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का 'ह' उच्चारण जो उसे प्राकृत रूप मे नसीब होता है, वह कन्नड में नही रहेगा, बल्कि वह 'ट' में बदल जावेगा। इस प्रकार संस्कृत 'मन्मथ' प्राकृत गम्मह का कन्नड तद्भव रूप 'गम्मट' हो जायगा। और उसी 'गम्मट' का 'गोम्मट' रूप हो गया है, क्योकि बोलचाल की कन्नड में 'अ' स्वर का उच्चारण धीमे 'ओ' की ध्वनि में होता है, जैसे—'मृगु'='मोगुः'; 'सप्पु'='सोप्पु' इत्यादि।

उधर कोंकणी और मराठी भाषाओ का उद्गम क्रमशः अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह भी विदित है कि मराठी, कोंकणी एवं कन्नड भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले होता रहा है। क्योंकि इन भाषा-भाषी देश के लोगो का पारस्परिक विशेष सम्बन्ध था। अब कोंकणी भाषा का एक शब्द 'गोमटो' या या 'गोम्मटो' मिलता है और यह संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही रूपान्तर है। यह यद्यपि सुन्दर अर्थ मे व्यवहृत है। कोंकणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा मे पहुंच कर कन्नड भाषा में प्रवेश कर गया हो—कोई आश्चर्य नहीं।

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

मैं रहूं आप में आप लीन

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

'इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मये केवली भयवं॥'
—समयसार, २८

जीव से भिन्न, इस पुद्गलमयी देह की स्तुति करके मुनि वास्तव में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की।

विभाव हमारा स्वभाव जैसा बन गया है। हम अपने को विभावरूप अनुभव करने के अभ्यासी जैसे तो बन ही गए हैं, पर हम अपनी अहम्मन्य चतुराई से दूसरों को भी विभावरूपों के आधार से परखते है। कहने को हम वीतराग की वीतरागता के पुजारी है, उनकी उपासना वीतराग के आश्रय से करते है, हमारा धर्म वीतरागता के मूलाधार मे ही पनपा है। पर, हम वीतरागता की उपासना मे वीतरागता से विपरीत—सरागता मे मग्न होते है। इससे स्पष्ट होता है कि जिस विभाव को हमे छोड़ना चाहिए हम उसी मे दृढ़ होने का प्रयत्न करते है, जबकि आचार्यों ने मूर्ति को आधार मात्र मान कर केवली की वन्दना का संकेत दिया है, न कि मूर्ति की आराधना का।

आज भ० बाहुबली की अनुपम, आश्चर्यकारी, विशाल प्रस्तरमूर्ति के सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक समारोह मनाये जाने का उपक्रम है। इसके लिए हम जी-जान से जुटे हैं। जिस साक्षात् शरीर को भ० बाहुबली ने क्षणभंगुर समझ छोड़ने का उपक्रम किया—हम उसी के अनुरूप स्थापना निक्षेप द्वारा स्थापित प्रस्तरभूत-मूर्ति के संवारने मे लगे हैं। इसमें तथ्य क्या है? यदि इसे विचारें तो सहज ही वह तथ्य सामने आयगा कि—चूंकि हम छद्मस्थ और अशक्त हैं, हमें भक्ति के लिए सहायक अवलम्बन चाहिए और वह अवलम्बन मूर्तरूप होना चाहिए। यतः अमूर्त आत्मा मे हमारी गति नही है आदि। हम मूर्तरूप प्रतिकृति के आधार, प्रेरणा पाते हैं और वीतराग की वीतरागमुद्रा द्वारा आत्मा का मनन-चिन्तवन करते हैं।

बाहुबली कामदेव थे, उनका दिव्य-शरीर स्वस्थ सुडौल और अनुपम था, उन्होंने अपने स्वाभिमान को ठेस नहीं आने दी पर, क्या? वीतराग धर्म की दृष्टि में उक्त आधारों को उनकी पूज्यता में कारण कहा जा सकता है? उक्त बातें तो अन्य बहुतों में भी हुई, कामदेव अन्य भी हुए, स्वाभिमान की रक्षा शक्ति भर अन्य बहुतों ने भी की। इन सब बातों को करके भी वे सभी पूज्य न हो सके। अतः बाहुबली की पूज्यता मे मूल कारण कोई अन्य ही होना चाहिए और वह कारण अलौकिक ही होना चाहिए। जिन धर्म की दृष्टि से विचारने पर वह कारण समक्ष आता है—उनकी वीतराग-परिणति तथा वीतराग-परिणति मे साधन-भूत कठोर तपश्चर्या।

यद्यपि अभिषेक, तीर्थंकर-सम्बन्धी पंचकल्याणकों में से उनके जन्मकल्याणक की एक क्रिया का अनुकरण है। बाहुबली तीर्थंकर नही और उनकी मुनि व अरहंत अवस्थाएं भी अभिषेक योग्य नही तथापि बाहुबली-प्रतिमा का अभिषेक अपना विशेष महत्त्व रखता है। ये पहिले ही कहा जा चुका है कि छद्मस्थ को सहारा चाहिए और वह सहारा आगामी सहारे की दृष्टि से सुरक्षित भी रहना चाहिए। यदि सहारा रूप प्रतिबिम्ब सुरक्षित न होगा तो छद्मस्थ की साधना ही समाप्त हो जायगी। भक्त, सहारे-रूप मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान को देखता है—मूर्तिमान की वीतराग प्रतिकृति का अपने मे साक्षात्कार करता है—उनकी पूजा करता है। अभिषेक व्यवहार-पूजा का आवश्यक अंग है—इसके बिना पूजा अधूरी रहती है। यह सब अधूरा न रह जाय अतः अभिषेक और मूर्ति की सुरक्षा सभी आवश्यक हैं। आचार्य ने कहा है—

'तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥'
—समयसार, २९

मूर्ति का स्तवन ठीक नही है (न मूर्ति के स्तवन का विधान है) स्तवन तो केवली—वीतरागी का किया जाता है—केवली के गुणों का किया जाता है। परमार्थ से ज्ञानी पुरुष, निमित्त के आश्रित होते भी लक्ष्य बिन्दु केवली—वीतरागी को ही बनाता है। क्योंकि—वीतराग के द्वारा ही वीतरागता प्राप्त की जा सकती है। शरीर के गुणों का वर्णन करने से केवली—वीतरागी की स्तुति नहीं होती—

'णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥'

—समयसार, ३०

जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया नही होता, उसी तरह देह के गुणों का स्तवन होने से केवली के गुण स्तवन रूप किए नहीं होते।

उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि भ० बाहुबली की मूर्ति हमारा ध्येय लक्ष्य नही, वह तो मात्र निमित्त (आधार) रूप है, वह कुछ करती नही, कर सकती नहीं, अपितु उसके आधार से सब कुछ हमी को करना है। आइए, हम बाहुबली के अन्य रूपों मे मोहित न हो, उनके जीवन से आत्म-जागृति सीखें—मूर्तिमात्र मे ही अपने को न खो दें।

कहने को वर्तमान युग खोज का युग है। लोग खोजो में लगे है भौतिक पदार्थों की। वे खोज रहे है एटमशक्ति को, नक्षत्रों के घरों को। कोई खोज रहे है प्रस्तरखण्डों और ग्रन्थों में अपनी प्राचीनता को। भला, अध्यात्म मे भी कोई खोजने की वस्तुयें है। जैन मान्यतानुसार तो ये सब अनादि है—पुद्गल खण्ड है और इनमे परिवर्तन चलता रहता है। ये सभी आत्मा से भिन्न-स्वतन्त्र द्रव्य हैं, आत्मा से इनका या इनसे आत्मा का कोई बिगाड़-सुधार नही। पदार्थ स्व-चतुष्टय की अपेक्षा अपने मे ही विद्यमान रहता है। ऐसे मे जब हमे बाहुबली भगवान को निमित्त मान कर अपने को खोजना है तब इन पर-कथाओ की वास्तविक उपयोगिता कोई नही।

व्यवहार दृष्टि से आज जिस सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक का प्रसग है उसमें मुनिश्री विद्यानन्द जी का प्रमुख हाथ है। २५००वाँ निर्वाण उत्सव भी इन्हीं की कर्मठता से सफल रहा। ऐसे निमित्त भाग्य से ही मिलते है। ऐसे व्यवहारी प्रसग जनसाधारण के लिए पुण्यबन्ध मे विशेष सहायक हो सकते है और व्यवहारियों का मार्ग भी यही है। यत:—

'ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।'

जो जीव अपर भाव मे है अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुंच सके है, साधक अवस्था मे ही स्थित है, वे व्यवहार द्वारा ही उपदेश योग्य है। और ये सब जो उपक्रम है, सब व्यवहार ही है—अर्थात् प्रस्तुत प्रसग मे सब पुण्य ही है।

वास्तव मे—निश्चय शुद्धरूप से तो बाहुबली स्वामी की मुद्रा का अवलम्बन—निमित्त प्राप्त करने से जीव परम्परित ससार के पार का मार्ग ढूढ सकेगे। अनुभव तो उनका अपना ही होगा :—

'आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥'

ये सब जो बाह्य मे कहे जाने वाले दर्शन-ज्ञान चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर योग आदिक है, वे भी सब वास्तव मे अन्य कुछ नही—आत्मरूप ही है। बहिरग तो मात्र व्यवहार है और यह व्यवहार मेरे शुद्ध स्वरूप मे प्रयोजनीभूत नही है। जहाँ तक मन-वचन काय की प्रवृत्ति का प्रश्न है वह आस्रव की कारणभूत ही है और अन्ततोगत्वा आस्रव ससार की परिपाटी ही है। मोक्ष के साधनभूत तो केवल शुद्ध एकाकी—आत्म-भाव-वीतरागता मात्र है, जिसमे आस्रव-बंध नही। इसीलिए ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति ज्ञानमयी होती है—वह आत्मा-परिणामो का चितवन करता है और उसके लिए अन्य सब बाह्य-निमित्त बाह्य ही होते है- वह उनमे लीन नही होता। जैनागमों का सार भी यही है कि

(पृष्ठ ४० का शेषांश)

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का तद्भव रूप है और यह कामदेव का द्योतक है।

अब एक प्रश्न उठता है कि बाहुबलि की विशाल मूर्ति 'मन्मथ' या कामदेव क्यो कहलायी ? क्या बाहुबलि कामदेव कहलाते थे ? इसके उत्तर मे कहना होगा—हाँ। जैनधर्मानुसार बाहुबलि इस युग के प्रथम कामदेव माने गये है। संस्कृत भाषा के 'आदि-पुराण' (१६।६) मे, कन्नड भाषा के कवि पप कृत 'आदि-पुराण'—८६।५२-५३) में, चामुण्डराय पुराण मे भी उनको कामदेव कहा गया है।

श्रवणबेलगोल के न० २३४ (सन् ११६०) के शिलालेख मे भी उनको कामदेव कहा गया है। इसलिए श्रवण-बेलगोल मे या अन्यत्र स्थापित उनकी विशाल मूर्तिया उसके (मन्मथ के) तद्भवरूप 'गोम्मट' नाम से प्रख्यात हुई है।

□□□

आपा-पर की पहिचान पूर्वक आत्म-लाभ का उद्यम करे।

व्यवहारतः जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगो मे विभक्त है। इनमे कथाएँ है, लोक तथा जीवो के विविध भावो का वर्णन है, आचार-विधि है और षट्-द्रव्यो का विस्तृत विवेचन है। पर, इस सब विविध प्रक्रिया मे मूलभूत प्रयोजन मात्र एक ही है—आत्म-निरीक्षण, परीक्षण द्वारा आत्मावलोकन करना। यदि इतने बड़े महामस्तकाभिषेक का उपक्रम कर भी हम आत्म-लाभ न करें—ससार को ही बढ़ाएँ और बाहरी उठा-धरी मे ही लगे रहें तो इससे बड़ा हमारा दुर्भाग्य क्या होगा, कि इन महापुरुष के पुण्यस्मरण को भी हम ससार मे ही खोदें।

कहने को सभी कहते है कि एक दिन मरण निश्चित है, सब यही छूट जायगा, मैं किसी का नही और कोई मेरा नही। पर, इस सब कथनो पर बाहुबली की भांति कितने अमल करते हैं, यह देखना है? जैसे हम कितने पौष्टिक पदार्थो का और कितने परिमाण मे सेवन करते है? इसका मूल्य नही। मूल्य उतने मात्र का है जितने पदार्थ हम सुखद-रीति से पचा पाते है। वैसे ही बाह्य मे हम कितना क्या करते हैं? इसका मूल्य नही। मूल्य उस तथ्य का है जिसे हम अपने अन्तर मे उतार लेते हैं। यदि हम इस दृष्टि को लेकर चलगें तो हमारा भ० बाहुबली के प्रति सच्चा आदर-भाव होगा और उनके महामस्तकाभिषेक का उपक्रम सार्थक होगा।

जैन दर्शन मे राग का नही विराग का, प्रवृत्ति का नही निवृत्ति का मूल्य है। भ० बाहुबली ने ऐसा ही किया। जरा विचारिए—क्या हम इन दृष्टियों मे स्व उतरने का किंचित् भी प्रयत्न करते है? क्या हम बाह्य द्रव्यादि का त्याग करके भी प्रकारान्तर से उसकी सँभाल मे ही तो नहीं लगे हैं? हम पापो से निवृत्ति कर किन्ही बहानो से सर्वथा—पुण्य प्रवृत्तियो मे ही लीन होना तो नही चाहते? हमारा त्याग निःकांक्षित तो है आदि। शास्त्रो मे तो कहा है—

'परमाणु मित्तय पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणं तु सव्वागमधरोवि॥'
'जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥'

वास्तव मे जिस जीव के परमाणु मात्र—लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्वागम का धारी हो तथापि आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? जो चेतयिता कर्मों के फलों के प्रति तथा सर्व धर्म के प्रति कांक्षा नहीं करता उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्मफलो के प्रति तथा समस्त वस्तु धर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से निष्कांक्ष है।

स्वामी बाहुबली मे जब राग और कांक्षा का अभाव हुआ, तभी उन्हें भगवान पद मिल सका। यद्यपि आगमानुसार उन्हे मिथ्यात्वरूप कोई शल्य नहीं थी तथापि जितने काल उनके परिणाम भरत और या अन्य किसी के प्रति विद्यमान रहे—उन्हे दीक्षित होने व लम्बी तपस्या के बावजूद भी, केवलज्ञान न हो सका। अतः सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रस्तुत महामस्तकाभिषेक के बहाने अशुभ से निवृत्ति कर शुभ-संकल्प लें और क्रमशः उन शुभो के भी त्याग का विकल्प रखें। यही शुद्ध वस्तु की शुद्ध विचार श्रेणी है—जिसे हमे प्राप्त करना है। क्योकि हम अनादि से संसार भ्रमण मे व्यवहाररूप में सुखी और दुखी होते रहे है—और होते रहेंगे—कोई नई बात नही। हमे तो 'जो सुख आकर न जाए' उस सुख को प्राप्त करना है और सुख की परिभाषा भी यही है। आशा है भव्यजीव इस पुण्य अवसर से लाभ उठाएँगे और शुद्ध की ओर बढ़ेंगे।

भ० बाहुबली वर्ष तक अडिग रहे, उन पर लताएँ चढ़ गईं, दीमको ने बामियाँ बना ली, उनमें सर्प रहने लगे। क्या इसका मूल्य है या वे ध्यानमग्न रहे इसका मूल्य है? ये गम्भीर प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें सोचना है। अध्यात्मदृष्टि मे तो ये सब कुछ उपादेय नही चलेगा। वहाँ तो वह आत्म-ध्यान ही ग्राह्य होगा जिसने भरत-अनुज बाहुबली को साधक से सिद्ध बना दिया, उनको ससार से मुक्त करा दिया और जिस सबमे मूल निमित्त थी उनकी उत्कट अन्तरग भावना—

'मैं रहूं आपमे आप लीन।'

—वीरसेवामंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

श्री गोम्मटेश संस्तवन

□ श्री नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ 'प्रवनीन्द्र', इन्दौर

[परमपूज्य आचार्य श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती विरचित प्राकृत गोम्मटेस थुदि के आचार्य श्री विद्यानद जी महाराज कृत हिंदी गद्यानुवाद पर आधारित पद्यानुवाद]

शत-शत बार विनम्र प्रणाम !

विकसित नील कमल दल सम है जिनके सुन्दर नेत्र विशाल ।
शरदचन्द्र शरमाता जिनकी निरख शात छवि, उन्नत भाल ।
चम्पक पुष्प लजाता लख कर ललित नासिका सुषमा धाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥१॥

पय सम विमल कपोल, झूलते कर्ण कंध पर्यंत नितान्त ।
सौम्य, सातिशय, सहज शांतिप्रद वीतराग मुद्राति प्रशांत ।
हस्तिशुंड सम सबल भुजाएँ बन कृतकृत्य करें विश्राम ।
विश्वप्रेम उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥२॥

दिव्य संख सौंदर्य विजयिनी ग्रीवा जिनकी भव्य विशाल ।
दृढ़ स्कंध लख हुआ पराजित हिमगिरि का भी उन्नत भाल ।
जग जन मन आकर्षित करती कटि सुपुष्ट जिनकी अभिराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥३॥

विंध्याचल के उच्च शिखर पर हीरक ज्यों दमके जिन भाव ।
तपःपूत सर्वांग सुखद है आत्मलीन जो देव विशाल ।
वर विराग प्रसाद शिखामणि, भुवन शांतिप्रद चन्द्र ललाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥४॥

निर्भय बन बल्लरियाँ लिपटी पाकर जिनकी शरण उदार ।
भव्य जनो को सहज सुखद है कल्पवृक्ष सम सुख दातार ।
देवेन्द्रों द्वारा अर्चित है जिन पादारविंद अभिराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥५॥

निष्कलंक निर्ग्रंथ दिगम्बर भय भ्रमादि परिमुक्त नितांत ।
अम्बरादि-आसक्ति विवर्जित निर्विकार योगीन्द्र प्रशांत ।
सिंह-स्याल-शुंडाल-व्यालकृत उपसर्गों में अटल अकाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥६॥

जिनकी सम्यग्दृष्टि विमल है आशा-अभिलाषा परिहीन ।
संसृति-सुख बाँछा से विरहित, दोष मूल अरि मोह विहीन
बन संपुष्ट विरागभाव से लिया भरत प्रति पूर्ण विराम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥७॥

अंतरंग-बहिरंग-संग धन धाम विवर्जित विभु संभ्रांत ।
समभावी, मदमोह-रागजित् कामक्रोधउन्मुक्त नितांत ।
किया वर्ष उपवास मौन रह बाहुबली चरितार्थ सुनाम ।
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥८॥

□□□

भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का माप

□ श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

भ० गोमट्ट स्वामी की प्रतिमा १३ मार्च सन् ६८१ ई० मे मैसूर नरेश राचमल्ल के प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने अपनी मातु श्री के दर्शनार्थ निर्मित कराई थी। आज से ठीक हजार वर्ष पूर्व यह अपूर्व कलाकृति कैसे निर्मित हुई होगी, यह अपने आप मे एक महान आश्चर्य की बात है या दैवी अनुकम्पा कहना चाहिए। इसके प्रमुख शिल्पी श्री त्यागद ब्रह्मदेव थे।

संसार मे ताजमहल, ईजिप्ट (मिश्र) के पिरामिड आदि सात अद्भुत (Seven Wonders) प्रसिद्ध हैं पर बड़े खेद की बात है कि हमारे प्रचार के अभाव में अथवा जाति धर्मगत भेदभाव एव द्वेष के कारण इस अपूर्व कलाकृति की विशेषज्ञों ने परवाह ही नही की अन्यथा यह सात अद्भुतों मे अवश्य ही सम्मिलित की जाती। अब जब विदेशी पर्यटक आते है और इस अनुपम कलाकृति के दर्शन करते हैं तो भाव विभोर हो उठते है और भारतीय शिल्पियो की शिल्पकला की प्रशसा एव सराहना करते हुए नहीं अघाते है।

फरवरी १६८१ मे इस कलाकृति का हजारवा वर्ष बड़े समारोह से सम्पन्न किया जा रहा है इस अवसर पर देश-विदेश के अनेको दर्शनार्थी पधारेंगे सम्भवत: सयुक्तराष्ट्र संघ के विशेषज्ञ भी आवें हमारी प्रधानमन्त्री भी पहुचेंगी मेरा सुझाव है तथा जैन समाज से अनुरोध है कि भारत सरकार के शिक्षा एव सास्कृतिक मंत्रालय के माध्यम से सयुक्त राष्ट्र संघके शिक्षा सांस्कृतिक विभाग द्वारा (UNFSCO) इसे (Seven Wonders) मे सम्मिलित कर Eight Wonders (आठ अद्भुत) के रूप मे इस कलाकृति को सम्मिलित किया जावे। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जैन समाज के लिए होगी!

उस युग मे जब कि आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियां नही थीं यातायात के साधन सीमित और धीमे थे क्रेन जैसी मशीनो का सर्वथा अभाव था तथा स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला जैसी आधुनिक शिल्प सुविधाओं का सर्वथा अभाव था उस सक्रांतिकाल मे ऐसी विशाल प्रतिमा, सर्वांगीण सुन्दर एवं समचतुरस्र संस्थान वाली उच्चकोटि की ऐसी महान कलाकृति का निर्माण कर भारतीय शिल्पियों ने निश्चय ही भारतीय मूर्ति निर्माण एवं शिल्पकला के इतिहास मे स्वर्णमय पृष्ठ अंकित कर दिए हैं! धन्य हैं वे शिल्पी और धन्य है उनकी शिल्प विज्ञता, जिनके सधे हुए सुघड़ हाथों से एव अपने कलावान् छैनी हथौड़ों से ऐसे सुन्दर बिराट स्वरूप को उत्कीर्ण किया और विश्व को ऐसी अनुपम सर्वोत्कृष्ट कलाकृति भेंट की जो अपने वैशिष्ट्य एव सौन्दर्य तथा कलात्मकता के लिए संपूर्ण विश्व मे बड़े गौरव एवं आदर के साथ पूजी एवं अपनाई जाती है।

उपर्युक्त प्रतिमा को निर्मित हुए हजार वर्ष हो रहे हैं फरवरी १६८१ मे इस मूर्ति का हजारवां वर्ष बड़े समारोह के साथ मनाया जा रहा है और सदा की भांति महामस्तकाभिषेक भी होगा और सुना है प्रथम कलश भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागाधी अर्पित करेंगी (ढोरेंगी) यह महामस्तकाभिषेक इस युग की एक महनीय अद्भुत घटना सिद्ध होगी जबकि ससार की आधुनिक सारी वैज्ञानिक उपलब्धिया इसके आगे सर्वथा तुच्छ और नगण्य सिद्ध होंगी।

उपर्युक्त प्रतिमा का माप विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। सर्व प्रथम प्राचीन विदेशी मूर्ति विशेषज्ञ डा० बुकनन ने इसकी ऊचाई ७० फीट ३ इंच लिखी है। इसके बाद सर आर्थर वेल्जली ने इसकी ऊँचाई ६० फी० ३ इ० लिखी है। सन् १८६५ में मैसूर राज्य के तत्कालीन चीफ कमिश्नर श्री वौरिंग ने इस प्रतिमा का ठीक-ठीक माप कराकर केवल ५७ फी० ही लिखा है। सन् १८७१ मे महामस्तकाभिषेक के समय मैसूर के सरकारी

अफसरों ने इस प्रतिमा के प्रत्येक भाग का नाप लिया था जो निम्नप्रकार है—

चरण से कर्ण के अधोभाग तक ५० फी०। कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक लगभग ६ फीट ६ इं०। चरण की लम्बाई ६ फी०। चरण के अग्रभाग की चौडाई ४ फी० ६ इंच। चरण का अंगुष्ठ २ फी० ६ इंच। पाद पृष्ठ के ऊपर की गुलाई ६ फी० ४ इंच। जघा की अर्ध गुलाई १० फी०। नितम्ब से कर्ण तक २० फी०। नाभि के नीचे उदर की चौडाई १३ फी०। कटि की चौड़ाई १० फी०। कटि और टेहुनी से कर्ण तक ७ फी०। वक्षस्थल की चौड़ाई २६ फीट। ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक २ फी० ६ इंच। तर्जनी की लम्बाई ३ फी० ६ इंच। मध्यमा की लम्बाई ५ फी० ३ इं०। अनामिका की लम्बाई ४ फी० ७ इं०। कनिष्ठिका की लंबाई २ फी० ८ इं०।

पर इससे भी अधिक प्रामाणिक नाप हमें 'सरस जन चिन्तामणि' काव्य के कर्त्ता कवि चक्रवर्ती पंडित शान्तराज द्वारा निर्मित १६ श्लोकों से प्राप्त होता है जो निम्न प्रकार है। यह नाप पंडित शान्तराज जी ने अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सन् १८२५ में तत्कालीन मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर तृतीय के आदेश पर किया था यह नाप हस्त और अंगुलो में है जो पूर्णतया प्रामाणिक है आज भी प्रत्येक भाग श्लोक में वर्णित हस्त और अंगुलो में बिल्कुल ठीक-ठीक उतरता है केवल चरण के अंगुष्ठ में कुछ अंतर है। कविशान्तराज द्वारा निर्मित २ श्लोक निम्न प्रकार है।

जयति बेलुगुल श्री गोमटेशस्य मूर्तिः,
परिमितिमधुनामहवच्मि सर्वत्र हर्षात्।
स्व समय जनाना भावनादेशनार्थम्,
पर समय जनानामद्भुतार्थं च साक्षात् ॥१॥

पादान्मस्तकमध्यदेशचरम पादार्घ युग्मात्तु षट्,
त्रिंशद्धस्तमितोच्छ्रयास्तिहि यथा श्री दोर्बलिस्वामिनः।
पादाद्विंशतिहस्तसन्निभमितिर्नाभ्यन्तमस्त्युच्छ्रय,
पादार्धान्वित षोडशोच्छ्रयभरो नाभेर्शिरोरान्त तथा ॥२॥

चुबुकन्मूर्धपर्यन्त श्रीमद्बाहुबलीशिनः
अस्त्यङ्गुलित्रयी युक्तहस्तषट्कप्रमोछ्रयः ॥३॥
पादत्रयाधिक्य युयुक्त द्विहस्त प्रमितोच्छ्रयः।
प्रत्येकं कर्णयोरस्ति भगवद्दोर्बलीशिनः ॥४॥

पश्चाद्भुजबलीशस्य तिर्यग्भागोस्ति कर्णयोः।
अष्टहस्तप्रमोछ्राय:प्रमाकृद्भिः प्रकीर्तित ॥५॥
सौनन्देः परितः कण्ठ तिर्यगस्ति मनोहरम्।
पादत्रयाधिक दशहस्तप्रमितदीर्घतर ॥६॥
सुनन्दातनुजस्यास्ति पुरस्तात्कण्ठ रुच्छ्रयः।
पादत्रयाधिक्य युक्त हस्त प्रमिति निश्चयः ॥७॥
भगवद्गोमटेशस्यासयोरन्तरमस्य वै।
तिर्यगायतिरस्यैव खलु षोडश हस्तमा ॥८॥
वसश्चूचुक सलक्ष्य रेखा द्वितय दीर्घता।
नवांगुलाधिक्ययुक्त चतुर्हस्तप्रमेशितुः ॥९॥
परितोमध्यमेतस्य परीतत्वेन विस्तृतः।
अस्ति विंशतिहस्ताना प्रमाण दोर्बलीशिनः ॥१०॥
मध्यमांगुलिपर्यन्त स्कन्धाद्दोघत्वमोशितुः।
बाहुयुग्मस्य पादाभ्या युताष्टादश हस्त मा ॥११॥
मणिबन्धस्यास्य तिर्यक्परीतत्वात्समन्तत।
द्विपादाधिक षड्हस्त प्रमाण परिगण्यते ॥१२॥
हस्तागुष्ठोच्छ्रयोस्त्यस्यैकागुष्ठात्तदद्विहस्त मा।
लक्ष्यते गोम्मटेशस्य जगदाश्चर्यकारिणः ॥१३॥
पादागुष्ठस्यास्य दैर्घ्यं द्विपादाधिकता भुजः।
चतुष्टयस्य हस्ताना प्रणामर्मिति निश्चितम् ॥१४॥
दिव्य श्रीपाद दीर्घत्वं भगवद्गोमटेशिनः।
सैकांगुल चतुर्हस्त प्रमाणमिति वर्णितम् ॥१५॥

श्रीमत्कृष्णनृपाल कारित महासेक पूजोत्सवे,
शिष्टया तस्य कटाक्षरोचिरमृत स्नातेन शान्तेन वै।
आनीत कवि चक्रवर्त्युत्तर श्री शान्त राजेन तद्,
बोध्येत्थं परिमाण लक्षणमिहाकारीदमेतद्विभोः ॥१६॥

उपर्युक्त पं० शान्तराजकृत १६ श्लोकों का सारांश निम्न प्रकार है—

चरण से मस्तक तक ३६¼ हस्त। चरण से नाभि तक २० हस्त। नाभि से मस्तक तक १६½ हस्त। चिबुक से मस्तक तक ६ हस्त ३ अंगुल। कर्ण की लंबाई २¾ हस्त! एक कर्ण से दूसरे कर्ण तक चौड़ाई ८ हस्त। गले की गुलाई १०-३/४ हस्त। गले की लंबाई १-३/४ हस्त/एक कंधे से दूसरे कंधे तक चौड़ाई १६ हाथ। स्तनमुख की गोल रेखा ४ हस्त। कटि की गुलाई २० हस्त। कन्धे से मध्यमा अंगुली तक १८-१/२ हस्त। कलाई की गुलाई

६-१/४ हस्त। अंगुष्ठ की लम्बाई २-१/४ हस्त। चरण का अंगुष्ठ ४-१/२ (१) चरण की लम्बाई ४ हस्त। अंगुल।

उपर्युक्त विभिन्न मापों में पं० शान्तराज का माप बहुत अधिक प्रामाणिक और ऐतिहासिक है अब आवश्यकता है। इसे मीटर और सेंटीमीटरों में बदलने की जिससे आधुनिक गणित विशेषज्ञ इस प्रतिमा की निर्माण पद्धति से परिचित हो सके और उन शिल्पियो और कलाकार के गणित ज्ञान को सराह सके जिन्होंने मूर्ति के समचतुरस्र निर्माण में कहीं भी त्रुटि नही की और जो भाग जिस जगह जितना लंबा-चौड़ा, ऊँचा-मोटा होना चाहिए था उसे उतना ही रखा उसमे रंच मात्र भी अंतर नहीं आने दिया। और मूर्ति की सुघड़ाई एवं सौन्दर्य मे तनिक सी भी त्रुटि नहीं आने दी। अन्यथा मनुष्य तो भूलो का पुतला है कही भी भूल हो सकती थी पर इसे दैवी अनुकम्पा और प्रभु का वरदान समझना चाहिए और शिल्पियो की भगवद्भक्ति एवं मनोयोग पूर्वक की गई साधना और तपस्या ही उन्हें इस शुभ कार्य मे सफलता दिला सकी। और वे शिल्पी आज हजार वर्ष बाद भी कोटि-कोटि जनों के वंदनीय है और भविष्य मे भी जब तक भ० बाहुबली की प्रतिमा विद्यमान रहेगी वे शिल्पी कोटिश: वन्दनीय रहेंगेऔर भारत का मूर्ति निर्माण का इतिहास उन्हे कदापि न भुला सकेगा।

उपर्युक्त पं० शान्तराज के हस्त एवं अंगुल माप को फुट इंच मे बदलने के लिए १८ इच का (हस्त) तथा १.४ अंगुल का एक इंच यदि मान लें तो करीब-करीब प्रतिमा की ऊंचाई का मेल खा जाता है। अभी डा० जैनेन्द्र जैन इन्दौर ने साप्ताहिक हिन्दुस्तान के वर्ष ३१ अंक में (७ से १३ दिसंबर ८०) में बावनगजा का लेख लिखते हुए इस प्रतिमा की ऊंचाई १७.२ मीटर दी हुई है पं० शान्तराज के अनुसार इसकी ऊंचाई १६.६६६ मीटर निकलती है बहरहाल पुरातत्व विदों से अनुरोध है कि इस वर्ष में इस प्रतिमा का स्टेन्डर्ड माप प्राचीन मापों का तुलनात्मक अध्ययन कर सुनिश्चित अवश्य ही करना चाहिए जिससे आने वाली भावी पीढ़ी किसी तरह के भ्रम मे न रहें। मैंने विभिन्न मापों को मीटर सेंटीमीटर मे बदलने का जो दुस्साहस किया है उसे सुविज्ञ सुधी पाठक क्षमा करेंगे और यदि कहीं कोई त्रुटि हो तो मुझे अवगत कराने की महती अनुकम्पा करें मैं अति अनुगृहीत होऊंगा।

मिस्टर बुचानन के अनुसार यह २१ मी० पर से० है। श्री आर्थर वेलसली के अनुसार १८ मी० ३६ सें० है। मि० वौरिंग के अनुसार १७ मी० ३७ सं० है। डा० जैनेन्द्र जैन इंदौर के अनुसार १७ मी० २ से० है और पं० शान्त राज के अनुसार १६ मी० ६, सें० निकलती है।

चूंकि मि० वौरिंग १८६५ का माप प्राय: प्रचलित है इसलिए उनके अनुसार विभिन्न अंगों का माप मीटर सेंटीमीटर मे निम्न प्रकार है। चरण से कर्ण के अधोभाग तक १५ मी० २४ से०। कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक लगभग १ मी० ९८ से०। चरण की लम्बाई २ मी० ७४ से०। चरण के अग्रभाग की चौड़ाई १ मी० ३७ सें०। चरण का अंगुष्ठ ८४ से०। पादपृष्ठ की ऊपर की गुलाई १ मी० ९३ से०। जघा की अर्ध गुलाई ३ मी० ५ सें०। नितम्ब से कर्ण तक ७ मी० ४७ से०। पृष्ठ अस्थि के अधोभाग से कर्ण तक ६ मी० १० से०। नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई ३ मी० ९६ से०। कटि की चौड़ाई ३ मी० ०५ से०। कटि और टेहुनी से कर्ण तक ५ मी० १८ से०। बाहु मूल से कर्ण तक २ मी० १३ से०। वक्षस्थल की चौड़ाई ७ मी० ९२ से०। ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक ७६ से०। तर्जनी की लम्बाई १ मी० ०७ से०। मध्यमा की लम्बाई १ मी० ६० से०। अनामिका की लम्बाई १ मी० ४० से० कनिष्ठिका की लम्बाई ८१ से०।

इतने पर भी मेरा विश्वास प० शान्तराज के माप पर अधिक है अत: उसे कोई गणित विशेषज्ञ विद्वान् मी० से० में परिवर्तित कर नई पीढ़ी के लिए विशेष मार्गदर्शन करेगा। मैं श्री लखमीचंद जी सीहोर से अनुरोध करूँगा कि वे इस कार्य को सुगमता से कर सकेंगे।

अंत: मैं इस लेख के लिए स्व० डा० हीरालाल जी नागपुर का आभारी हूं जिनके द्वारा सकलित सामग्री का इसमें उपयोग हो सका।

□□□

श्रुतकुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२

बाहुबली : स्वतन्त्र चेतना का हस्ताक्षर

□ युवाचार्य महाप्रज्ञ

श्रवणबेलगोला मे भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा एक प्रश्नचिह्न है और एक अनुचरित प्रश्न का समाधान भी है। क्या मनुष्य शरीर इतना विशाल हो सकता है ? हजारो-हजारों वर्ष पहले कोई सौर मण्डल का ऐसा प्रभाव रहा होगा, मनुष्य ने विशाल शरीर पाया होगा। उसकी पुष्टि में अभी कोई तर्क प्रस्तुत नही करना है। वर्तमान की समस्या का वर्तमान के सन्दर्भ मे समाधान खोजना है। कभी-कभी बाहरी उपकरण मनुष्य की अन्तरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा का रहस्य उनकी अन्तरात्मा की विशालता मे खोजा जा सकता है। स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और त्याग की विशालता मे बाहुबली असाधारण है। यह विशाल प्रतिमा उसी विशाल व्यक्तित्व का एक प्राणवान दर्शन है।

भरत दिग्विजय कर अपनी राजधानी अयोध्या मे पहुचा। सेनापति सुषेण ने कहा, "चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है।" भरत ने जिज्ञासा के स्वर मे कहा— 'क्या कोई राजा अभी बचा है, जो अयोध्या के अनुशासन को शिरोधार्य न करे ? सेनापति बोला— "कोई बचा है इसीलिए चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है" कौन बचा है वह ? अपनी स्मृति पर दबाव डालते हुए भरत ने कहा। सेनापति फिर भी मौन रहा। भरत को उसका मौन अच्छा नही लगा। उसने झुंझलाहट के साथ कहा—'लगता है, तुम मुझ से कुछ छिपा रहे हो। तुम सकुचा रहे हो। मौन भग नही कर रहे हो"। सेनापति बोला—"क्या कहू ? समस्या घर की है। पराए सब राजे जीत लिए गये हैं। कोई बाकी बचा है तो वह अपना ही है" 'क्या बाहुबली बचा है" भरत के मुख से अचानक यह नाम निकल गया। "मेरा वह भाई है। फिर वह कैसे अवरोध पैदा करेगा मेरे चक्रवर्ती होने मे ? सेनापति ने विनम्र स्वर मे कहा—'सम्राट, मैं नही कहता, वह अवरोध पैदा करेगा। यह मैं कह सकता हू चक्र आयुधशाला में प्रवेश नही कर रहा है ? उसका कारण बाहुबली का आपके चक्रवर्तित्व मे विश्वास न होना ही है।

भरत ने सेनापति से विमर्श कर बाहुबली के पास अपने दूत को भेजा। दूत तक्षशिला मे पहुच बाहुबली के सामने उपस्थित हो गया। बाहुबली ने भरत का कुशल क्षेम पूछा। दूत बाहुबली के तेज से अभिभूत हो गया। वह मौन रहा। कहना चाहते हुए भी कुछ न कह पाया। बाहुबली ने उसकी आकृति को पढा। स्वय बोले—"भाई भरत मे और मुझ मे आज प्रेम और सौहार्द है पर क्या करें ? हम दोनो के बीच देशान्तर आ गया जिस प्रकार प्रेम से भीगी हुई आखों के बीच नाक आ जाता है दूत ! पहले मैं भाई के बिना मुहूर्त भर भी नही रहा सकता था। किन्तु आज मेरी आखे उसे देखने को प्यासी है। वे उपवास कर रही हैं। उसे देख नही पा रही है। इसलिए ये दिन मेरे व्यर्थ बीत रहे हैं। मैं उस प्रीति को स्वीकार नहीं करता जिसमे विरह होता है। यदि हम वियुक्त होकर भी जी रहे है तो इसे प्रीति नही रीति ही समझना चाहिए"—दूत बाहुबली की बातें सुन पुलकित हो उठा। उसने सोचा—मुझे भरत का सन्देश बाहुबली को देना ही नही पडा। यह भरत से प्यार करता है। मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे अकेला नही लौटना पड़ेगा। मैं बाहुबली के साथ ही भरत के चरणो मे उपस्थित होऊंगा। दूत नहीं जानता था कि प्रेम और स्वतन्त्रता दोनो अलग-अलग हैं। बाहुबली प्रेम करना जानता है, पर स्वतन्त्रता को बेचना नहीं। बाहुबली ने दूत के स्वप्न को भग करते हुए कहा "दूत, पिताश्री ने मुझे एक स्वतन्त्र राज्य सौंपा है, इसलिए मैं अयोध्या जा नहीं सकता। मेरा हृदय वहां

जाने के लिए वैसे ही उत्कंठित है, जैसे रात के समय चकवा चकवी से मिलने के लिए उत्कंठित रहता है। दूत ! तुम बोलो, मौन क्यों बैठे हो ? भरत ने तुमको किस लिए यहां भेजा है, उसे स्पष्ट करो"। बाहुबली की वाणी से दूत कुछ प्राण-संचार हुआ वह साहस बटोर कर बोला —"महाराज ! आपको पता है आपके भाई भरत दिग्विजय कर अयोध्या लौट चुके हैं। उनकी सभा मे संसार के सभी राजे है वे सभी सम्राट के सामने नतमस्तक है, सम्राट की आज्ञा को शिरोधार्य किए हुए हैं। उनकी उपस्थिति मे आपकी अनुपस्थिति सम्राट को खल रही है। वे चाहते है आप उस महापरिषद में उपस्थित हों उनकी आज्ञा शिरोधार्य करें"। परामर्श मांगे बिना ही दूत अपना परामर्श दे बैठा —"सम्राट ने जो कहलाया है, उसे मैं भी उचित मानता हूं। आपके हित की दृष्टि से कहना चाहता हूं कि आप उनकी इच्छा का मूल्यांकन करे। आप यह सोचकर निश्चित है कि भरत मेरा भाई है, किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि राजाओं के साथ परिचय करना अन्ततः सुखद नहीं होता। यद्यपि आप बलवान है, फिर भी कहां सार्वभौम सम्राट भरत और कहा एक देश के अधिपति आप। दीपक कितना भी बड़ा हो, वह एक ही घर को प्रकाशित करता है, सारे जगत को प्रकाशित करने वाला तो सूर्य ही है"।

दूत की वाचालता ने बाहुबली की शौर्य ज्वाला को प्रदीप्त कर दिया। वे बोले—ऋषभ के पुत्रों के लिए राजाओं को जीत लेना कौन सी बड़ी बात है ? मुझे जीते बिना ही भरत सार्वभौम चक्रवर्ती बनकर दर्प कर रहा है, यह बहुत आश्चर्य की बात है। आज तक मेरे लिए भाई भरत पिता की भांति पूज्य था, किन्तु आज से वह मेरा विरोधी है। वह अपने छोटे भाइयों के राज्यों का हड़प कर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। अब मुझ पर अपनी आज्ञा थोपना चाहता है और मेरे राज्य को अपने अधीन करना चाहता है। पर, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मेरे निन्यानवे भाई राज्य को छोड़ पिता के पास चले गए— मुनि बन गए। वैसे ही मैं भी चला जाऊंगा ? उन्होंने संघर्ष को टालने के लिए वैसा किया, किन्तु मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मैं उनकी भांति सीधा नहीं, अपना पराक्रम दिखाने के बाद जाऊंगा। दूत ! तुम शीघ्र जाओ और भरत से कहो— हम अपनी मर्यादा का लोप न करें। यदि तुमने युद्ध लाद दिया तो मैं पीछे नहीं रहूंगा। जय पराजय की कथा दुनियां कहेगी। मैं संघर्ष से नहीं घबड़ाता। मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि भगवान ऋषभ ने सारे संसार को मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन का पाठ पढ़ाया। हम दोनों युद्ध में उतरेंगे तो लोग क्या कहेंगे। इतिहास लिखा जाएगा, भगवान ने व्यवस्था दी और उनके पुत्रों ने ही सबसे पहले उस व्यवस्था को तोड़ा। भाई-भाई की लड़ाई के लिए भरत-बाहुबली की लड़ाई उदाहरण बन जाएगी।

दूत हतप्रभ हो बाहुबली की उदात्त वाणी को सुनता रहा। वह बाहुबली से विदा ले भरत के पास पहुंच गया। बाहुबली ने जो कहा, वह भरत को बता दिया।

क्या भरत बाहुबली से युद्ध करना नहीं चाहता था। नहीं क्यों चाहता था, चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा है तो वह युद्ध चाहता ही था। भरत ने विजय यात्रा के लिए प्रयाण कर दिया। बाहुबली भी रणभूमि में आ गया। दोनों की सेनाएं आमने-सामने डट गईं। परस्पर युद्ध हुआ। मानवीय हित के पक्ष मे सेना का युद्ध स्थगित हो गया। भरत और बाहुबली दोनों ने परस्पर युद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने दृष्टि युद्ध, मुष्टि युद्ध, शब्द युद्ध और यष्टि युद्ध—ये चार युद्ध निश्चित किए। भरत और बाहुबली की का दृष्टि युद्ध कुछ प्रहरों तक चला। उनकी अनिमेष आंखें एक दूसरे को घूर रही थी। भीगी हुई पलकों के अन्तराल मे तारायें डूब रही थी। भरत को दोनों आंखें श्रांत हो गई। बाहुबली वैसे ही एकटक निहारते रहे। भरत पराजित हो गया। मुष्टि युद्ध, शब्द युद्ध और यष्टि युद्ध मे भी भरत को पराजय मिली। पराजित भरत ने मर्यादा का अतिक्रमण कर बाहुबली पर चक्र अस्त्र का प्रयोग किया। चक्र बाहुबली के पास गया। प्रदक्षिणा कर भरत के पास लौट आया। चक्र वह आत्मीय जनों पर प्रहार नहीं करता।

(शेष पृ० ५३ पर)

बाहुबली और दक्षिण की जैन परम्परा

□ श्री टी० एन० रामचन्द्रन्

मैसूर में श्रवणबेलगोल नगर मे विंध्यगिरि पर्वत पर जो गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति है, वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की महारानी सुनन्दा के पुत्र बाहुबली की है। दक्षिण भारत में जैन धर्म का स्वर्णयुग साधारणतया और कर्नाटक में विशेषतया गंगवंश के शासको के समय मे था, जिन्होंने जैन धर्म को राष्ट्र-धर्म के रूप में अंगीकार किया था। महान् जैनाचार्य सिंहनन्दी गंगराष्ट्र की नींव डालने के ही निमित्त न थे, बल्कि गंगराष्ट्र के प्रथम नरेश कोंगुणिवर्मन के परामर्शदाता भी थे। माधव (द्वितीय) ने दिगम्बर जैनों को दानपत्र दिये। इनका राज्यकाल ईसा के ४५०-५६५ रहा है। दुर्विनीत को वन्दनीय पूज्यपादाचार्य के चरणो मे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनका राज्यकाल ई० ६०५ से ६५० रहा है। ई० ६५० में दुर्विनीत के पुत्र मुशकारा ने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म घोषित किया। बाद के गंग-शासक जैनधर्म के कट्टर संरक्षक रहे हैं। गगनरेश मारसिंह (तृतीय) के समय मे उनके सेनापति चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल मे गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति का निर्माण कराया। मारसिंह का राज्यकाल ईसा की ६६१-६७४ रहा है। जैनधर्म मे जो अपूर्व त्याग कहा जाता है, मारसिंह ने उस सल्लेखना द्वारा देहोत्सर्ग करके अपने जीवन को अमर किया। राजमल्ल (प्रथम) ने मद्रास राज्यान्तर्गत उत्तरी आरकोट जिले मे जैन गुफाएं बनवाई। इनका राज्यकाल ई० ८१७-८२८ रहा है। इनका पुत्र नीतिमार्ग एक अच्छा जैन था।

बाहुबली के त्याग और गहन तपश्चर्या की कथा को गुणग्राही जैनों ने बड़ा महत्त्व दिया है और एक महान् प्रस्तर खण्ड की विशाल मूर्ति बना कर उसके सिद्धान्तों का प्रचार किया है, जो इस बात का द्योतक है कि बाहुबली की उक्त मूर्ति त्याग, भक्ति, अहिंसा और परम आनन्द की प्रतीक है। इस मूर्ति की पृष्ठभूमि विस्तीर्णता, पूर्णता और अव्यक्त आनन्द की जनक है और मूर्ति की अग्रभूमि काल, अन्तर, भक्ति और नित्यता की उद्बोधक है। यद्यपि दक्षिण भारत में कारकल और वेणूर में भी बाहुबली की विशाल मूर्तियां एक ही पाषाण मे उत्कीर्ण की हुई हैं तथापि श्रवणबेलगोल की यह मूर्ति सबसे अधिक आकर्षक होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

बाहुबली की मूर्ति का इतिवृत्त हमे दक्षिण भारत के जैनधर्म के रोचक इतिहास की ओर ले जाता है। श्रवणबेलगोल में उत्कीर्ण शिलालेखों के आधार पर इस बात का पता लगता है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु १२००० जैन श्रमणों का संघ लेकर उत्तरापथ से दक्षिणापथ को गये थे। उनके साथ चन्द्रगुप्त भी थे। प्रोफेसर जेकोबी का अनुमान है कि यह देशाटन ईसा से २९७ वर्ष से कुछ पूर्व हुआ था। भद्रबाहु ने अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने से पूर्व ही मार्ग मे चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिमरण-पूर्वक देह का विसर्जन किया। इस देशाटन की महत्ता इस बात की सूचक है कि दक्षिण भारत में जैनधर्म की व्यापक प्रभावना इसी समय मे हुई है। इसी देशाटन के समय से जैन श्रमण-संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भागों में विभक्त हुआ है। भद्रबाहु के संघ गमन को देखकर कालिकाचार्य और विशाखाचार्य के संघ ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। विशाखाचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे जो दक्षिण भारत के चोल और पांड्य देश में गये। महान् आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे तामिल देश मे जैनधर्म की ख्याति मे और भी वृद्धि हुई। कुन्दकुन्दाचार्य द्राविण थे और स्पष्टतया दक्षिण भारत के जैनाचार्यों मे प्रथम थे। कांचीपुर और मदुरा के राजदरबार तामिल देश मे जैनधर्म के प्रचार मे विशेष सहायक थे। जब चीनी यात्री युवान चुवांग ईसा की ७वीं शताब्दी में इन दोनों नगरों मे गया तो उसने

कांची में अधिकतर दिगम्बर जैन मन्दिर पाये और मदुरा मे दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी।

इतिहासज्ञ इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईसा से १२वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत मे जैनधर्म सबसे अधिक शक्तिशाली, आकर्षक और स्वीकार्य धर्म था। उसी समय वैष्णव आचार्य रामानुज ने विष्णुवर्द्धन को जैनधर्म का परित्याग कराकर वैष्णव बनाया था।

कांचीपुर के एक पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन (प्रथम) राज्यकाल ६०० से ६३० ई०, पांड्य, पश्चिमी चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयशल वंश के बहुत से राजा जैन थे। महेन्द्रवर्मन के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि वह पहले जैन थे, किन्तु धरमसेन मुनि जब जैनधर्म को त्याग कर शैव हो गये तो उनके साथ महेन्द्रवर्मन भी शैव हो गया। शैव होने पर धरमसेन ने अपना नाम अप्पड़ रखा।

आठवीं शताब्दी का एक पांड्य नरेश नेदुमारन अपर नाम कुणपाड्या जैनधर्मावलम्बी था और तामिल भाषा के शैव ग्रंथों के अनुसार शैवाचार्य सम्बन्ध के ने उससे जैन-धर्म छुड़वाया।

कर्नाटक मे बनवासी के कादम्ब शासकों में कुकुस्थ-वर्मन (४३० से ४५० ई०) मृगेशवर्मन (४७५ से ४९० ई०), रविवर्मन (४९७ से ५३७) और हरीवर्मन (५३७ से ५४७) यद्यपि हिंदू थे तथापि उनकी बहुत-सी प्रजा के जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे। कुकुस्थवर्मन ने अपने एक लेख के अन्त मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को नमस्कार किया है। उसके पोते मृगेशवर्मन ने वैजयन्ती मे अर्हंतों के अर्थ बहुत-सी भूमि प्रदान की। अन्य और समय मे कालवंग ग्राम को तीन भागों मे विभक्त किया। पहला भाग उसने जिनेन्द्र भगवान को अर्पण किया, दूसरा भाग श्वेतपथ वालों और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ को। पालासिका (हालसी) मे रविवर्मन ने एक ग्राम इसलिए दान मे दिया कि उसकी आमदनी से हर वर्ष जिनेन्द्र भगवान् का उत्सव मनाया जाय। हरि-वर्मन ने भी जैनियों को बहुत दानपात्र दिये।

पश्चिमी चालुक्य वंश के शासक जैनधर्म की संरक्षकता के लिए प्रख्यात थे। महाराज जयसिंह (प्रथम) ने दिगंबर जैनाचार्य गुणचन्द्र, वासुचन्द्र और वादिराज को अपनाया। पुलकेशी (प्रथम) ५५० ई० और उसके पुत्र कीर्तिवर्मन (प्रथम) राज्यकाल ५६६ से ९७ ई० ने जैन मन्दिरों को कई दानपत्र दिये। कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) (राज्यकाल ६०९ से ६४२ ई०) प्रख्यात जैन कवि रवि-कीर्ति का उपासक था, जिन्होंने ऐहोल नामक ग्रंथ रचा। इसमें रविकीर्ति को कविताचातुरी के लिए कालिदास और भैरवि से उपमा दी। ऐहोल ग्रंथ के कथनानुसार रवि-कीर्ति ने जिनेन्द्र भगवान् का एक पाषाण का मन्दिर भी बनवाया। रविकीर्ति को सत्याश्रम (पुलकोशी) का बहुत संरक्षण था और सत्याश्रम के राज्य की सीमा तीन समुद्रों तक थी। पूज्यपाद के शिष्य निरवद्य पंडित (उदयदेव) जयसिंह (द्वितीय) के राज्यगुरु थे और विनयादित्य (६८० से ६९७ ई०) और उनके पुत्र विजयादित्य (६९६ से ७३३ ई०) ने निरवद्य पंडित को जैन-मन्दिर की रक्षा के लिए एक ग्राम दिया। उसके पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने (राज्यकाल ७३३ से ७४७ ई०) एक जैन मन्दिर की भली प्रकार मरम्मत कराई और एक दूसरे जैन साधु विजय पंडित को इस मन्दिर की रक्षा के लिए कुछ दान दिया। किन्तु वास्तव में जैनधर्म का स्वर्णयुग गंग-राष्ट्र के शासकों के समय मे था और यह पहले ही बताया जा चुका है कि श्रवणबेलगोल मे मारसिंह (तृतीय) के सेनापति चामुण्डराय ने बाहुबली की अविनश्वर मूर्ति बनवाई। संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि गंगराष्ट्र के शासक कट्टर जैन थे।

राष्ट्रकूट वंश के शासक भी जैनधर्म के महान संरक्षक रहे हैं। गोविंद (तृतीय) (राज्यकाल ७९८ से ८१५ ई०) महान् जैनाचार्य अरिकीर्ति का संरक्षक था। उसके पुत्र अमोघवर्ष (प्रथम) राज्यकाल ८१४ से ८७८ ई० को जिनसेनाचार्य के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्य जिनसेनाचार्य के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्य जिनसेन गुणभद्र के गुरु थे। इन्होंने सन् ७८३-८४ में गोविंद (तृतीय) के समय में आदि-पुराण के प्रथम भाग की रचना की और उसका उत्तरार्द्ध गुणभद्राचार्य ने सन् ८९७ में अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकाल ८८० से ९१२ में पूर्ण

किया। अमोघवर्ष प्रथम के समय में राष्ट्रकूट की राजधानी में 'हरिवंशपुराण', 'आदिपुराण' और उत्तर पुराण, अकलंक चरित, जयधवला टीका आदि ग्रंथों की रचना हुई है। जयधवला टीका दिगम्बर जैन सिद्धांत का एक महान् ग्रन्थ है। यहीं पर वीराचार्य ने गणित शास्त्र का 'सार-संग्रह' नाम का एक ग्रंथ रचा। अमोघवर्ष ने स्वयं नीतिशास्त्र पर एक 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' बनाई। संक्षेप मे, अमोघवर्ष (प्रथम) के समय मे यह कहा जाता है कि उसने दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया था और वह अपने समय मे दिगम्बर जैनधर्म का सर्वश्रेष्ठ संरक्षक था। कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकाल मे उसकी प्रजा और सरदारो ने या तो स्वयं मन्दिर बनवाये, या बने हुए मन्दिरों को दान दिया। शक संवत् ८२० मे गुणभद्राचार्य के शिष्य लोकसेन ने महापुराण की पूजा की।

यद्यपि कल्याणी के चालुक्य जैन नही थे, तथापि हमारे पास सोमेश्वर (प्रथम) १०४२ से १०६८ ई० का उत्तम उदाहरण है, जिन्होंने श्रवणबेलगोल के शिलालेखानुसार एक जैनाचार्य को 'शब्दचतुर्मुख' की उपाधि से विभूषित किया था। इस शिलालेख मे सोमेश्वर को 'आहवमल्ल' कहा है।

तामिल देश के चोल राजाओं के सम्बन्ध मे यह धारणा निराधार है कि उन्होंने जैनधर्म का विरोध किया। जिनकांची के शिलालेखों से यह बात भली प्रकार विदित होती है कि उन्होंने आचार्य चन्द्रकीर्ति और अनवरतवीर्य वर्मन की रचनाओ की प्रशंसा की। चोल राजाओ द्वारा जिनकांची के मन्दिरो को पर्याप्त सहायता मिलती रही है।

कलचूरि वंश के संस्थापक त्रिभुवनमल्ल विज्जल राज्यकाल ११५६ से ११६७ ई० के तमाम दान-पत्रो मे एक जैन तीर्थंकर का चित्र अंकित था। वह स्वयं जैन था। अनंतर वह अपने मंत्री वासव के दुष्प्रयत्न से मारा गया; क्योंकि उसने वासव के कहने से जैनियों को संताप देने से इन्कार कर दिया था। वासव लिंगायत सम्प्रदाय का संस्थापक था।

मैसूर के होय्सल शासक जैन रहे हैं। विनयादित्य (द्वितीय) राज्यकाल १०४७ से ११०० ई० तक इस वंश का ऐतिहासिक व्यक्ति रहा है। जैनाचार्य शान्तिदेव ने उसकी बहुत सहायता की थी। विष्णुवर्द्धन की रानी शान्तलादेवी जैनाचार्य प्रभाचन्द्र की शिष्या थी और विष्णुवर्द्धन के मन्त्री गंगराज और हुल्ला ने जैनधर्म का बहुत प्रचार किया अतः इसमे कोई सन्देह नही है कि पहले होय्सल नरेश जैन थे। विष्णुवर्द्धन अपरनाम 'बिट्टी' रामानुजाचार्य के प्रभाव मे आकर वैष्णव हो गये। बिट्टी वैष्णव होने से पहले कट्टर जैन था और वैष्णव शास्त्रों मे उसका वैष्णव हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना कही जाती है। इस कहावत पर विश्वास नही किया जाता कि उसने रामानुज की आज्ञा से जैनो को सन्ताप दिया; क्योंकि उसकी रानी शान्तलादेवी जैन रही और विष्णुवर्द्धन की अनुमति से जैन मंदिरो को दान देती रही। विष्णुवर्द्धन के मंत्री गंगराज की सेवाएँ जैनधर्म के लिए प्रख्यात है। विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव हो जाने के पश्चात् स्वयं जैन मंदिरो को दान दिया, उनकी मरम्मत कराई और उनकी मूर्तियो और पुजारियो की रक्षा की। विष्णुवर्द्धन के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उस समय प्रजा को धर्म-सेवन की स्वतन्त्रता थी। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी यद्यपि वैष्णव थे तो भी उन्होने जैन मंदिर बनाये और जैनाचार्यों की रक्षा की। उदाहरण के तौर पर नरसिंह (प्रथम) राज्यकाल ११४३ से ११७३, वीरवल्लभ (द्वितीय) राज्यकाल ११७३ से १२२० और नरसिंह (तृतीय) राज्यकाल १२५४ से १२९१।

विजयनगर के राजाओ की जैनधर्म के प्रति भारी सहिष्णुता रही है। अतः वे भी जैनधर्म के संरक्षक थे। बुक्का (प्रथम) राज्यकाल १३५७ से १३७८ ने अपने समय मे जैनो और वैष्णवो का समझौता कराया। इससे यह सिद्ध है कि विजयनगर के राजाओ की जैनधर्म पर अनुकम्पा रही है। देवराय प्रथम की रानी बिम्मादेवी जैनाचार्य अभिनवचारुकीर्ति पंडिताचार्य की शिष्या रही है और उसीने श्रवणबेलगोल मे शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित कराई।

बुक्का (द्वितीय) राज्यकाल १३८५ से १४०६ के सेनापति इरुगुप्पा ने एक कांची के शिलालेखानुसार सन् १३८५ ईस्वी मे जिनकांची मे १७वें तीर्थंकर भगवान् कुन्थुनाथ का मन्दिर और संगीतालय बनवाया। इसी

मन्दिर के दूसरे शिलालेख के अनुसार विजयनगर के नरेश कृष्णदेवराय सन् १५१० से १५२६ की जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता रही और उसने जैनमंदिरों को दान दिये और उनकी जैनधर्म के प्रति आस्था रही।

विजयनगर के शासको का और उनके अधीन सरदारों का, और मैसूर राज्य का आज तक जैनधर्म के प्रति यही दृष्टिकोण रहा है। कारकल के शासक नरसोप्पा और भैरव भी जैनधर्मानुयायी थे और उन्होने भी जैनकला को प्रदर्शित करने वाले अनेक कार्य किये।

श्रवणबेल्गोल और अन्य स्थानों की बाहुबली को विशाल मूर्तियो एव अन्य चोबीस तीर्थंकर की प्रतिमाएँ ससार को विशेष सन्देश देती हैं।

जैनधर्म के प्रवर्त्तको ने मनुष्य को सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् बोध, सम्यक् ज्ञान और निर्दोष चारित्र के द्वारा परमात्मा बनने का आदर्श उपस्थित किया है। जैनधर्म का ईश्वर में पूर्ण विश्वास है और जैनधर्म के अनुष्ठान द्वारा अनेक जीव परमात्मा बने हैं। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्म का २५०० वर्षों का एक लम्बा इतिहास है। यह धर्म भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक रहा है। आज भी गुजरात, मथुरा, राजस्थान, बिहार, बगाल, उड़ीसा, दक्षिण मैसूर और दक्षिण भारत इसके प्रचार के केन्द्र हैं। इस धर्म के साधु और विद्वानों ने इस धर्म को समुज्ज्वल किया और जैन व्यापारियों ने भारत में सर्वत्र सहस्रों मंदिर बनवाये, जो आज भारत की धार्मिक पुरातत्वकला की अनुपम शोभा हैं।

महावीर और बुद्ध का अवतार एक ऐसे समय में हुआ है जब भारत में भारी राजनैतिक उथल-पुथल हो रही थी। महावीर ने एक ऐसी साधु-संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर निर्धारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धांत सारे संसार को आलोकित करता है।

□□□

(पृ० ४९ का शेषांश)

इस चक्र प्रयोग की घटना से बाहुबली का क्रोध सीमा पार कर गया। उन्होंने मुष्टि दृढ उठाई और आक्रमण की मुद्रा मे दौड़े। उपस्थित रणमेदिनी ने हा-हा कार किया। एक साथ भूमि और आकाश से प्रार्थना का स्वर फूटे ऐसा मत करो। बाहुबली यदि तुम भी अपने बड़े भाई को मारना चाहते हो तो बड़े भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा? राजन् इस क्रोध का संहरण करो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता चले हैं, उसी मार्ग का अनुसरण करो। भरत को क्षमा करो। बाहुबली का अन्तर विवेक जागा। क्रोध को शान्त कर बोले—मेरा उठा हुआ हाथ खाली नही जा सकता। अपने हाथ को अपनी ओर मोडा केश का लुंचन कर तपस्या के लिये प्रस्थान कर दिया। विजय की बेला में किया जाने वाला तपस्या की यात्रा का प्रस्थान आदर्श बन गया। स्वतन्त्रता के प्रेम की गाथा अमर हो गई।

त्याग वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र होती है। विजय के क्षण में क्षमा वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र है। जीते हुए साम्राज्य को वही त्याग सकता है, जिसकी चेतना स्वतन्त्र है। बाहुबली की विशाल प्रतिमा में उस विशाल स्वतन्त्र चेतना का दर्शन आलिखित है हजारों-हजारों लोग उस दर्शन का अवलम्बन करने के लिए उत्सुक हैं।

प्रेषक—कमलेश चतुर्वेदी
प्रबन्धक-आदर्श साहित्य संघ
पो० चूरू (राजस्थान)

जय चागद जय गुल्लिकाज्जि

श्री कुन्दनलाल जैन,

भ० बाहुबलि यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, वे तो चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे अतः सर्व सुन्दर थे इसीलिए कन्नड भाषा में इनको गोमटस्वामी कहा है क्योंकि गोमट्ट का अर्थ कन्नड में सर्वाधिक सुन्दर होता है, अस्तु। परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों ने उनके त्याग तपस्या एवं साधना को देख कर उन्हें भगवान सदृश ही मान लिया और वे युग-युगो से भगवान बाहुबलि नाम से विख्यात हो गए।

भ० बाहुबलि का अपौरुषेय एवं महामानवीय बलिष्ट व्यक्तित्व विभिन्न कवियों कलाकारों एवं सरस्वती पुत्रों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए विवशता पूर्वक प्रेरित करता रहा। भ० आदिनाथ के समय से ही वे चर्चा और विवेचना के केन्द्र बने रहे। संस्कृत के आचार्य जिनसेन, अपभ्रंश के श्रेष्ठतम कवि पुष्पदंत तथा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र प्रभृति उत्तर भारत के तथा दक्षिण भारत के श्रेष्ठ कवियों ने विभिन्न भाषाओं मे उनका चरित्र-चित्रण बड़े कलापूर्ण ढंग से अपनी-अपनी कृतियों में बड़े अनूठे ढंग से किया है।

भ० बाहुबली का चरित्र श्रद्धालु पाठकों को युग-युगों से आकर्षित करता आ रहा है। सभी लोग पठन-पाठन, चर्चा, स्तुति, पूजा, ग्रंथ रचना, मूर्ति निर्माण आदि के रूप में उनके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते आ रहे हैं, जो आज तक अमर और विख्यात है। पर श्रवणबेलगोल में स्थित भ० बाहुबलि की प्रतिमा को १३ मार्च ९८१ में तत्कालीन गङ्गनरेश राचमल्ल के महामात्य एवं प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने निर्मित कराई थी वह आज भारतीय इतिहास और पुरातत्व की ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व की विख्यात श्रेष्ठतम कलाकृति है।

भ० बाहुबलि की इस श्रेष्ठतम कलाकृति के प्रमुख शिल्पी (तक्षक) त्यागद ब्रह्मदेव थे जिन्हें कन्नड में चागद शब्द से संबोधित किया जाता है। इस विचारे चागद को आज कौन जानता है जिसने कामदेव बाहुबलि को साक्षात भगवान का रूप प्रदान कर आज हजार वर्ष बाद भी भारतीय पुरातत्व को ही नहीं अपितु संसार के समस्त पुरातत्व वेत्ताओं को ऐसा सर्व सुन्दर कला-वैभव चुनोती के रूप में प्रदान किया है जिसके आगे Seven Wonders सर्वथा तुच्छ प्रतीत होते हैं। तथा जब तक यावच्चन्द्र दिवाकरो यह मूर्ति विद्यमान रहेगी तब तक उस श्रेष्ठतम कला साधक महान् शिल्पी चागद को कोई भी नहीं भूल सकेगा और सभी लोग उसकी यशोगाथा गाते हुए उसकी कला की सराहना करते रहेंगे।

भ० बाहुबलि की मूर्ति के निर्माण कराने वाले श्री चामुण्डराय राजपुरुष थे विख्यात विद्वान् और प्राकृत के कवि थे उन्हें तो सभी लोग जानते हैं और आज तक इतिहास में वे पूर्णतया विख्यात हैं। पर उस तपस्वी मूक साधक, श्रेष्ठ शिल्पी उच्च कलाकार चागद को कौन जानता है जिसकी अमर साधना और मूक तपस्या ने ऐसे विराट स्वरूप को उत्कीर्ण कर इतिहास और पुरातत्व को एक अनूठी अमर पुण्य विभूति प्रदान की। जिससे चामुण्डराय का यश भी चिरस्थायी हो गया है।

शिल्पीचागद कोई पढा-लिखा प्रसिद्ध पुरुष न था पर उसके हाथ में कला थी उसके छैनी हथौड़े को प्रभु का आशीष और वरदान प्राप्त था। उसके हृदय में उसकी माँ ने भगवद्भक्ति उत्पन्न की थी और दिया था उसे त्याग एवं तपस्या का उपदेश जिसके बल पर वह ऐसा अक्षुण्ण अनुपम स्वरूप उत्कीर्ण कर सका और स्वयं इतिहास पुरुष बन गया।

भ० बाहुबली की मूर्ति के निर्माण के बाद शिल्पी चागद को जो यश और सम्मान मिला उसकी गौरव गाथा दक्षिण के जैन मंदिर आज तक गाते हैं। चागद के

उत्तराधिकारी शिल्पियों ने उसे सम्मान देने के लिए जहां-जहां जिनालयों का निर्माण हुआ वहीं-वहीं घोड़े पर बैठे हुए बागद शिल्पी की मूर्ति भी उत्कीर्ण की जाती रही है जिनके बाएँ हाथ में चाबुक होता है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्म विरोधियों को उचित दण्ड विधान किया जावे तथा दाएं हाथ में श्रीफल होता है जो इस बात का प्रतीक है कि प्रभु कृपा सदा बनी रहे, एवं पावों में खड़ाऊँ उत्कीर्ण होती है जो जिनालय की पवित्रता की प्रतीक है।

भ० बाहुबलि की श्रवणबेलगोल स्थित इस विराट कलाकृति के निर्माण के लिए इसी बागद शिल्पी को चामुण्डराय ने आमंत्रित किया था, और अपनी माता की भगवद्भक्ति उसके समक्ष प्रस्तुत की थी पर बागद उस विशालकाय विन्ध्यगिरि के प्रस्तरखण्ड को देख कर विस्मय विमुग्ध हो गया था जिस पर उसे अपनी छैनी हथोड़े की कला प्रदर्शित करनी थी, उसे अपनी शिल्पकला पर अभिमान था पर इतने विशाल कार्य के लिए वह क्या कर सकेगा ? उसको लोभ कषाय ने उसके अन्तस्तल को झकझोर दिया। उसने प्रधानामात्य को अपने पारिश्रमिक के रूप में उतनी ही स्वर्ण राशि की याचना की जितना प्रस्तरखण्ड वह विन्ध्यगिरि से छीलेगा।

भ० बाहुबलि ने भक्त चामुण्डराय ने शिल्पी बागद की शर्त सहर्ष स्वीकार ली और मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। संध्या काल में तराजू के एक पलड़े पर शिल्पी बागद के विकृत शिलाखंड थे और दूसरे पलड़े पर भगवद्-भक्त एवं मातृ सेवक चामुण्डराय की दमकती हुई स्वर्ण-राशि। चामुण्डराय ने शिल्पी को बड़ी श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण र शि समर्पित की, वे कलाकार की कला के मर्म को समझते थे। तक्षक बागद आज अपनी कला की मूल्य इतनी विशाल स्वर्ण राशि के रूप में पाकर हर्ष से फूला नहीं समा रहा था, खुशी के मारे उसे घर पहुंचने में कुछ विलंब से आभास ही न विदित हुआ। घर पहुंच कर कलाकार जैसे ही अपनी कला के मूल्य को सहेज कर धरने लगा कि वह राशि उसके हाथ से छूट नहीं रही थी और न उसके हस्त उस स्वर्ण से अलग हो रहे थे दोनों एक-दूसरे से चिपके हुए थे।

भ० बाहुबलि की प्रतिमा का प्रधान शिल्पी असमंजस में था कि यह सब क्या हो रहा है ? वह मन ही मन व्याकुल हो उठा, उसका हृदय इस हर्ष और उल्लास की बेला में खेद खिन्न और दुखी था, तभी शिल्पी की मातु श्री पधारी और कलाकार पुत्र की दुर्दशा देख बड़ी व्यथित हुई, लोभी शिल्पी ने अपनी रामकहानी अपनी मां को अश्रु बिखेरते हुए सुना दी, बागद की मां ने अपने कला-कार पुत्र को धीरज बधाया और समझाया हे वत्स ! क्या कला स्वर्ण के तुच्छ टुकड़ों में बिका करती है ? तुममें यह दुष्प्रवृत्ति कहां से जन्मी ? कला तो आराधना और अर्चना की वस्तु है, तूने तो इसे बेच कर निर्मूल्य और कलंकित कर दिया है। उस चामुण्डराय को तो देख जो मातृसेवा और प्रभु भक्ति के वशीभूत हो तुझे इतना सब कुछ निर्लोभ भाव से सहर्ष दे रहा है ! अपनी श्रेष्ठतम कला के पीछे इन तुच्छ स्वर्ण खंडों का लोभ तू त्याग और प्रभु को प्रणाम कर इस स्वर्ण राशि को वापिस कर आ तथा अपना शिल्प वैभव निष्काम भाव से प्रभु बाहुबलि के चरणों मे समर्पित कर दे।

भ० बाहुबलि के शिल्पी बागद को अपनी मातु श्री का उपदेश भा गया, उसके भाव बदले, लोभ कषाय का उसने वहन किया, माता के उपदेश और प्रभुभक्ति ने उसकी काया कल्प कर दी। शिल्पी बागद ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि इस मूर्ति का निर्माण निस्वार्थ और सेवा भाव से करूंगा कोई पारिश्रमिक नहीं लूंगा और जब तक प्रतिमा का निर्माण नहीं हो जाता एकाशन व्रत धारण करूंगा। शिल्पी की अंतरंग विशुद्धि ने तथा लोभ निवृत्ति ने उसके हाथों से चिपका सोना छुड़ा दिया वह तत्काल ही भागा-भागा प्रधानामात्य के चरणों मे जा गिरा और सारी स्वर्ण राशि लौटाते हुए बिलख-बिलख कर बोला हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मेरी कला का मोल-भाव मत करो और मुझे बाहुबलि की सेवा निस्वार्थ भाव से करने दें। अगले दिन से शिल्पी भ० बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण पूर्णतया निर्विकार भाव तथा बड़ी श्रद्धा निष्ठा एवं संयम पूर्वक करने लगा। यह त्याग मूर्ति तक्षक बागद की ही १२ वर्ष की सतत तपस्या और साधना का पुण्य फल है कि ऐसी अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा का निर्माण हो सका जो हजार वर्ष बाद भी आज संसार के भक्तजनों

जय चागद जय गुल्लिकाज्जि

□ श्री कुन्दनलाल जैन,

भ० बाहुबलि यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, वे तो चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे अतः सर्व सुन्दर थे इसीलिए कन्नड भाषा में इनको गोमटस्वामी कहा है क्योंकि गोमट्ट का अर्थ कन्नड मे सर्वाधिक सुन्दर होता है, अस्तु। परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों ने उनके त्याग तपस्या एवं साधना को देख कर उन्हे भगवान सदृश ही मान लिया और वे युग-युगो से भगवान बाहुबलि नाम से विख्यात हो गए।

भ० बाहुबलि का अपौरुषेय एव महामानवीय बलिष्ट व्यक्तित्व विभिन्न कवियों कलाकारों एवं सरस्वती पुत्रों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए विवशता पूर्वक प्रेरित करता रहा। भ० आदिनाथ के समय से ही वे चर्चा और विवेचना के केन्द्र बने रहे। संस्कृत के आचार्य जिनसेन, अपभ्रंश के श्रेष्ठतम कवि पुष्पदंत तथा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र प्रभृति उत्तर भारत के तथा दक्षिण भारत के श्रेष्ठ कवियो ने विभिन्न भाषाओं मे उनका चरित्र-चित्रण बड़े कलापूर्ण ढग से अपनी-अपनी कृतियो मे बड़े अनूठे ढंग से किया है।

भ० बाहुबली का चरित्र श्रद्धालु पाठकों को युग-युगों से आकर्षित करता आ रहा है। सभी लोग पठन-पाठन, अर्चा, स्तुति, पूजा, ग्रंथ रचना, मूर्ति निर्माण आदि के रूप में उनके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते आ रहे हैं, जो आज तक अमर और विख्यात है। पर श्रवणबेलगोल में स्थित भ० बाहुबलि की प्रतिमा जो १३ मार्च ९८१ में तत्कालीन गङ्गनरेश राचमल्ल के महामात्य एवं प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने निर्मित कराई थी वह आज भारतीय इतिहास और पुरातत्व की ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व की विख्यात श्रेष्ठतम कलाकृति है।

भ० बाहुबलि की इस श्रेष्ठतम कलाकृति के प्रमुख शिल्पी (तक्षक) त्यागद ब्रह्मदेव थे जिन्हें कन्नड में चागद शब्द से संबोधित किया जाता है। इस विचारे चागद को आज कौन जानता है जिसने कामदेव बाहुबलि को साक्षात भगवान का रूप प्रदान कर आज हजार वर्ष बाद भी भारतीय पुरातत्व को ही नहीं अपितु संसार के समस्त पुरातत्व वेत्ताओं को ऐसा सर्व सुन्दर कला-वैभव चुनौती के रूप में प्रदान किया है जिसके आगे Seven Wonders सर्वथा तुच्छ प्रतीत होते हैं। तथा जब तक यावच्चन्द्र दिवाकरो यह मूर्ति विद्यमान रहेगी तब तक उस श्रेष्ठतम कला साधक महान् शिल्पी चागद को कोई भी नहीं भूल सकेगा और सभी लोग उसकी यशोगाथा गाते हुए उसकी कला की सराहना करते रहेंगे।

भ० बाहुबलि की मूर्ति के निर्माण कराने वाले श्री चामुण्डराय राजपुरुष थे विख्यात विद्वान् और प्राकृत के कवि थे उन्हें तो सभी लोग जानते हैं और आज तक इतिहास में वे पूर्णतया विख्यात हैं। पर उस तपस्वी मूक साधक, श्रेष्ठ शिल्पी उच्च कलाकार चागद को कौन जानता है जिसकी अमर साधना और मूक तपस्या ने ऐसे विराट स्वरूप को उत्कीर्ण कर इतिहास और पुरातत्व को एक अनूठी अमर पुण्य विभूति प्रदान की। जिससे चामुण्डराय का यश भी चिरस्थायी हो गया है।

शिल्पीचागद कोई पढ़ा-लिखा प्रसिद्ध पुरुष न था पर उसके हाथ मे कला थी उसके छैनी हथौड़े को प्रभु का आशीष और वरदान प्राप्त था। उसके हृदय मे उसकी माँ ने भगवद्भक्ति उत्पन्न की थी और दिया था उसे त्याग एवं तपस्या का उपदेश जिसके बल पर वह ऐसा अक्षुण्ण अनुपम स्वरूप उत्कीर्ण कर सका और स्वयं इतिहास पुरुष बन गया।

भ० बाहुबली की मूर्ति के निर्माण के बाद शिल्पी चागद को जो यश और सम्मान मिला उसकी गौरव गाथा दक्षिण के जैन मंदिर आज तक गाते हैं। चागद के

उत्तराधिकारी शिल्पियों ने उसे सम्मान देने के लिए जहां-जहां जिनालयों का निर्माण हुआ वहीं-वहीं घोड़े पर बैठे हुए चागद शिल्पी की मूर्ति भी उत्कीर्ण की जाती रही है जिनके बाएँ हाथ में चाबुक होता है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्म विरोधियों को उचित दण्ड विधान किया जावे तथा दाएं हाथ में श्रीफल होता है जो इस बात का प्रतीक है कि प्रभु कृपा सदा बनी रहे, एवं पावों मे खड़ाऊं उत्कीर्ण होती है जो जिनालय की पवित्रता की प्रतीक है।

भ० बाहुबलि की श्रवणबेलगोल स्थित इस विराट कलाकृति के निर्माण के लिए इसी चागद शिल्पी को चामुण्डराय ने आमन्त्रित किया था, और अपनी माता की भगवद्भक्ति उसके समक्ष प्रस्तुत की थी पर चागद उस विशालकाय विन्ध्यगिरि के प्रस्तरखण्ड को देख कर विस्मय विमुग्ध हो गया था जिस पर उसे अपनी छैनी हथौड़े की कला प्रदर्शित करनी थी, उसे अपनी शिल्पकला पर अभिमान था पर इतने विशाल कार्य के लिए वह क्या कर सकेगा ? उसको लोभ कषाय ने उसके अन्तस्तल को झकझोर दिया। उसने प्रधानामात्य को अपने पारिश्रमिक के रूप में उतनी ही स्वर्ण राशि की याचना की जितना प्रस्तरखण्ड वह विन्ध्यगिरि से छीलेगा।

भ० बाहुबलि ने भक्त चामुण्डराय ने शिल्पी चागद की शर्त सहर्ष स्वीकार ली और मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। संध्या काल में तराजू के एक पलड़े पर शिल्पी चागद के विकृत शिलाखंड थे और दूसरे पलड़े पर भगवद्-भक्त एवं मातृ सेवक चामुण्डराय की दमकती हुई स्वर्ण-राशि। चामुण्डराय ने शिल्पी को बड़ी श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण र शि समर्पित की, वे कलाकार की कला के मर्म को समझते थे। तक्षक चागद आज अपनी कला को मूल्य इतनी विशाल स्वर्ण राशि के रूप में पाकर हर्ष से फूला नहीं समा रहा था, खुशी के मारे उसे घर पहुंचने मे कुछ विलंब से आभास ही न विदित हुआ। घर पहुंच कर कलाकार जैसे ही अपनी कला के मूल्य को सहेज कर धरने लगा कि वह राशि उसके साथ से छूट नहीं रही थी और न उसके हस्त उस स्वर्ण से अलग हो रहे थे दोनों एक-दूसरे से चिपके हुए थे।

भ० बाहुबलि की प्रतिमा का प्रधान शिल्पी असमंजस में था कि यह सब क्या हो रहा है ? वह मन ही मन व्याकुल हो उठा, उसका हृदय इस हर्ष और उल्लास की वेला मे खेद खिन्न और दुखी था, तभी शिल्पी की मातु भी पधारी और कलाकार पुत्र की दुर्दशा देख बड़ी व्यथित हुई, लोभी शिल्पी ने अपनी रामकहानी अपनी मा को अश्रु बिखेरते हुए सुना दी, चागद की मां ने अपने कला-कार पुत्र को धीरज बधाया और समझाया हे वत्स ! क्या कला स्वर्ण के तुच्छ टुकड़ों में बिका करती है ? तुममें यह दुष्प्रवृत्ति कहां से जन्मी ? कला तो आराधना और अर्चना की वस्तु है, तूने तो इसे बेच कर निर्मूल्य और कलंकित कर दिया है। उस चामुण्डराय को तो देख जो मातृसेवा और प्रभु भक्ति के वशीभूत हो तुझे इतना सब कुछ निर्लोभ भाव से सहर्ष दे रहा है ! अपनी श्रेष्ठतम कला के पीछे इन तुच्छ स्वर्ण खंडों का लोभ तू त्याग और प्रभु को प्रणाम कर इस स्वर्ण राशि को वापिस कर आ तथा अपना शिल्प वैभव निष्काम भाव से प्रभु बाहुबलि के चरणों मे समर्पित कर दे।

भ० बाहुबलि के शिल्पी चागद को अपनी मातु श्री का उपदेश भा गया, उसके भाव बदले, लोभ कषाय का उसने दहन किया, माता के उपदेश और प्रभुभक्ति ने उसकी काया कल्प कर दी। शिल्पी चागद ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि इस मूर्ति का निर्माण निस्वार्थ और सेवा भाव से करूंगा कोई पारिश्रमिक नहीं लूंगा और जब तक प्रतिमा का निर्माण नहीं हो जाता एकाशन व्रत धारण करूंगा। शिल्पी की अंतरंग विशुद्धि ने तथा लोभ निवृत्ति ने उसके हाथों से चिपका सोना छुड़ा दिया वह तत्काल ही भागा-भागा प्रधानामात्य के चरणो मे जा गिरा और सारी स्वर्ण राशि लौटाते हुए बिलख-बिलख कर बोला हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मेरी कला का मोल-भाव मत करो और मुझे बाहुबलि की सेवा निस्वार्थ भाव से करने दें। अगले दिन से शिल्पी भ० बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण पूर्णतया निर्विकार भाव तथा बड़ी श्रद्धा निष्ठा एवं संयम पूर्वक करने लगा। यह त्याग मूर्ति तक्षक चागद की ही १२ वर्ष की सतत तपस्या और साधना का पुण्य फल है कि ऐसी अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा का निर्माण हो सका जो हजार वर्ष बाद भी आज संसार के भक्तजनों

को आकृष्ट और आप्यायित किए हुए हैं। तथा विश्व इतिहास एवं पुरातत्व की बहुमूल्य धरोहर बन गई है। जय हो उस चागद की जय हो उस शिल्पी की जय हो, जय हो उस त्यागमूर्ति तक्षक कलाकार की।

भ० बाहुबलि की इस विराट प्रतिमा के प्रतिष्ठाचार्य थे सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्राचार्य जो प्रधानामात्य चामुण्डराय के गुरु थे। उन्हीं के निर्देशन में यह सब कुछ हुआ था। जब प्रतिमा का निर्माण हो चुका तो इसकी प्रतिष्ठा के लिए सर्व प्रथम महामस्तकाभिषेक का आयोजन किया गया जिसके लिए हजारों मन दूध से प्रतिमा का अभिषेक किया गया पर आश्चर्य की बात कि सारा दूध नाभि से नीचे नहीं पहुंच रहा था। प्रतिष्ठाचार्य प्रधानामात्य एवं अन्य सभी विशिष्ट उपस्थित पुरुष विस्मय विमुग्ध थे कि यह सब क्या हो रहा है। सभी चिन्तित थे तभी नेमिचन्द्राचार्य श्री ने अपने निमित्त ज्ञान से जाना कि भ० महावीर के समोशरण में अपनी कमल पांखुरी लेकर प्रभु अर्चा के लिए फुदक कर जाने वाले उपेक्षित मण्डकराज की भांति यहां भी कोई उपेक्षित वृद्धा श्रीफल की छोटी-सी गुल्लिका (कटोरी) में दूध लिए प्रभु का अभिषेक के लिए भक्तिपूर्वक एक मास से लगातार आ रही है पर इस विशाल जन समूह में उसे कहीं भी कोई स्थान नहीं मिल पा रहा है। वह सर्वथा उपेक्षिता है इसीलिए यह दुग्धाभिषेकपूर्ण नहीं हो पा रहा है।

भ० बाहुबलि के प्रतिष्टाचार्य ने तुरन्त ही अपने शिष्य प्रधानामात्य को आदेश दिया कि उस वृद्धा को आदर पूर्वक लाओ तभी अभिषेक सम्पन्न हो सकेगा। गुरु भक्त चामुण्डराय तुरन्त ही नंगे पांव अज्जि (बुढ़ा) के पास पहुंचे और आदर पूर्वक प्रार्थना करके उस अज्जि मा (बुन्देली मे आजी=दादी मां) को प्रभु प्रतिमा के पास ले आये और दुग्धाभिषेक के लिए अनुरोध किया, जैसे ही अज्जि ने गुल्लिका भर दूध से प्रभु का भक्तिभाव से अभिषेक किया वैसे ही दूध की नदियाँ बह निकली और विन्ध्यगिरि तथा चन्द्रगिरि के मध्य स्थित सरोवर दूध से लबालब भर गया तभी से उस वृद्धा का नाम गुल्लिकाज्जि पड़ गया। कहते हैं गुल्लकाज्जि के रूप मे स्वयं कूष्माण्डिनी देवी ही थी जिन्होंने चामुण्डराय को स्वप्न दिया था कि चन्द्रगिरि से स्वर्ण बाण छोड़ो भ० बाहुबलि के दर्शन होंगे।

भ० बाहुबलि का प्रथम महामस्तकाभिषेक समारोह पूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ पर प्रधानामात्य चामुण्डराय के अन्तस्तल मे उपर्युक्त दो भक्त साधको (चागद और गुल्लिकाज्जि) की श्रद्धा और निष्ठा के प्रति एक अतीव रागात्मक सद्भाव उत्पन्न हुआ अतः उन्होने भ० बाहुबलि के चिरस्थायीत्व की भांति इन दोनो साधको की भक्ति-भावना को चिरस्थायीत्व देने के लिए प्रतिमा के पास ही छह फुट ऊंचा चागदस्तभ तथा गुल्लिकाज्जि की प्रतिमा का निर्माण कराया जो आज भी उनकी यशोगाथा गा रहे है।

भ० बाहुबलि की प्रतिमा के शिल्पी चागद के स्तंभ की एक बड़ी भारी विशेषता है कि यह अधर मे विद्यमान है इसके नीचे से एक रूमाल जैसा पतला कपड़ा अभी भी निकल जाता है। उस चागद स्तभ पर चामुण्डराय की प्रशंसा मे छह श्लोक उत्कीर्ण है शेष को हेग्गडे कण्न ने घिसवा दिया था अन्यथा चामुण्डराय तथ्य इस प्रतिमा के निर्माण संबंधी कुछ और ऐतिहासिक तथ्य हस्तगत हो जाते जिससे भारतीय इतिहास और पुरातत्व और अधिक गौरवान्वित हो जाता, पर विधि को यह सब मंजूर न था। इस स्तभ पर प्रधान शिल्पी त्यागद ब्रह्मदेव (चागद) की प्रतिमा विराजमान है। जय हो गुल्लिकाज्जि की और जय हो चागद शिल्पी जैसे भक्त साधको की जो उपेक्षित होते हुए भी भारतीयो को ही नही सपूर्ण विश्व को ऐसी बहुमूल्य धरोहर दे गये।

"जय चागद जय गुल्लकाज्जि"

श्रुतकुटीर, ६८ कुन्तीमार्ग
विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

□□□

बाहुबली मूर्तियों की परम्परा

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, नई दिल्ली

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय ने भगवान् बाहुबली की विश्व-वन्द्य मूर्ति की प्रतिष्ठापना करके जिस विशालता, भव्यता और वीतरागता को अलौकिक कला मे रूपान्तरित किया, उसने आगे की शताब्दियों के श्रीमन्तो और कलावन्तों को इतना अधिक प्रभावित किया कि बाहुबली की विशाल मूर्ति का नव-निर्माण उनके जीवन की साध बन गयी। बाहुबली यद्यपि तीर्थंकर नही थे, किन्तु उपासको ने उन्हें तीर्थंकर के समकक्ष पद दिया। ऐसा ही अनुपम रहा है उनका कृतित्व जिसे हम अनेक ग्रन्थो मे देख चुके है। कर्नाटक में जन-सामान्य के लिए तो वह मात्र देवता है—तीर्थंकर, जिन, कामदेव के नामो और उपाधियो से परे!

दक्षिण कर्नाटक मे, मूडबिद्री से उत्तर मे १५ कि०मी० की दूरी पर स्थित कारकल मे सन् १४३२ मे लगभग ४१½ फुट ऊँची प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई जिसे राजपुरुष वीरपांड्य ने जैनाचार्य ललितकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित कराया।

एक मूर्ति मूडबिद्री से लगभग १२ मील दूर वेणूर मे चामुण्डवंशीय तिम्मराज ने सन् १६०४ मे स्थापित की, जिसकी ऊंचाई ३५ फुट है। इसके प्रेरणास्रोत भी चारुकीर्ति पण्डित माने जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले मैसूर के पास वाले एक घने उजाड स्थान के ऊँचे टीले का उत्खनन करने पर बाहुबली की १८ फुट ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई थी। अब उस स्थान को 'गोम्मटगिरि' कहा जाता है।

कर्नाटक के बीजापुर जिले के बादामि पर्वत-शिखर के उत्तरी ढाल पर जो चार शैलोत्कीर्ण जैन गुहा-मन्दिर हैं उनमे से चौथे गुहा-मन्दिर के मण्डप मे कोने के एक दव प्रकोष्ठ मे विभिन्न तीर्थंकर-मूर्तियो के मध्य उत्कीर्ण मूर्ति सर्वप्रथम बाहुबलि की मूर्ति है। इस ७ फुट ६ इंच ऊँची मूर्ति की केश-सज्जा भी दर्शनीय है जिसकी परम्परा दसवी शती मे श्रवणबेलगोल की महामूर्ति मे ऊर्णा अर्थात् घुघराले केशों के रूप मे परिणत हुई।

बादामि-बाहुबली की केश-सज्जा की परम्परा आठवीं-नौवी शती की उस मूर्ति मे विद्यमान है जो बाहुबली की प्रथम कास्य-मूर्ति है। लगभग डेढ फुट ऊँचे आकार की यह मूर्ति मूलतः श्रवणबेलगोल की है और अब प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई मे (क्रमांक १०५) प्रदर्शित है। इसका वर्तुलाकार पादपीठ अनुपात में इससे कुछ बड़ा है और अब इससे टूट कर अलग हो गया है। स्कन्ध कुछ अधिक चौड़े है किन्तु शरीर का शेष भाग उचित अनुपात मे है। मुख-मण्डल अण्डाकार है, कपोलपुष्ट हैं और नासिका उन्नत है। ओष्ठ और भौंहें उभरी होने से अधिक आकर्षक बन पड़ी हैं। केश राशि पीछे की ओर काढ़ी गयी है किन्तु अनेक घुंघराली जटाएँ कन्धो पर लहराती दिखायी गयी है। लताएं उनके पैरो से होकर हाथो तक ही पहुची है। कालक्रम से यह द्वितीय मानी जा सकती है।

कालक्रम से तृतीय बाहुबलि-मूर्ति ऐहोल के इन्द्रसभा नामक बत्तीसवें गुहामन्दिर की अर्द्ध-निर्मित वीथि में उत्कीर्ण है। बीजापुर जिले के इस राष्ट्रकूट-कालीन केन्द्र का निर्माण आठवीं-नौवीं शती में हुआ था। इसी गुहा मन्दिर मे नौवी-दसवी शती में जो विविध चित्रांकन प्रस्तुत किए गए उनमे से एक बाहुबली का भी है। बाहुबली का इस रूप मे यह प्रथम और संभवतः अन्तिम चित्रांकन है।

कर्नाटक मे गोलकुण्डा के खजाना बिल्डिंग संग्रहालय मे प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति काले बेसाल्ट पाषण की है। १.७३ मीटर ऊँची यह मूर्ति कदाचित् दसवी शती की है।

पत्तनचेरुवु से प्राप्त और राज्य संग्रहालय हैदराबाद मे प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति राष्ट्रकूट कला का अच्छा उदाहरण है। इसमे लताएँ कन्धो से भी ऊपर मस्तक के दोनों ओर पहुंच गयी हैं। दोनों ओर अंकित एक-एक लघु युवती-आकृति का एक हाथ लता को अलग कर रहा है और दूसरा कटि तक अवलम्बित मुद्रा मे है। बारहवी

शती की यह मूर्ति कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। श्रीवत्स लांछन होने से यह उत्तर और दक्षिण की शृंखला जोड़ती है; ऊपर स्वस्तिक और कमलाकृति प्रभामण्डल है जो अन्य बाहुबलि-मूर्तियों में प्राय अप्राप्य है। कटि की त्रिवलि ने समूची मूर्ति के अनुपात को सन्तुलित किया है।

बादामी तालुके में ही एक गांव है ऐहोल, जिसके पास गुफाएं हैं। गुफाओं में पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है। इसके पास की गुफा मे बाहुबली की ७ फुट ऊंची मूर्ति उत्कीर्ण है।

दक्षिण में ही दौलताबाद से लगभग १६ मील दूर एलोरा की गुफाएं हैं। इन में पाच जैन-गुफाए है। इनमे एक इन्द्रसभा नामक दोतल्ला सभागृह है। इनकी बाहरी दक्षिणी दीवार पर बाहुबली की एक मूर्ति उत्कीर्ण है।

उत्तर भारत की विशिष्ट बाहुबली मूर्तिया—

बहुत समय तक कला-विवेचकों मे यह धारणा प्रचलित थी कि बाहुबली की मूर्तिया दक्षिण भारत में ही प्रचलित हैं। उत्तर भारत मे इनक उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। किन्तु शोध-खोज के उपरान्त उत्तर भारत मे उल्लेखनीय अनेक बाहुबली-मूर्तियो के अस्तित्व का पता लगा है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

जूनागढ़ संग्राहलय मे प्रदर्शित नौवी शताब्दी की मूर्ति जो प्रभासपाटन से प्राप्त हुई है।

खजुराहों में पार्श्वनाथ मन्दिर की बाहरी दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण दशवी शताब्दी की मूर्ति।

लखनऊ संग्रहालय की दशवी शताब्दी की बाहुबली मूर्ति जिसका मस्तक और चरण खडित है।

देवगढ़ मे प्राप्त मूर्ति, दशवी शताब्दी की, जो अभी वहीं के 'साहू जैन संग्रहालय' मे प्रदर्शित है। इस मूर्ति का चित्र जर्मन पुरातत्त्व-वेत्ता क्लौस ब्रून ने अपनी पुस्तक में दिया है। देवगढ़ मे बाहुबली की ६ मूर्तिया प्राप्त है।

बिलहारी, जिला जबलपुर, मध्यप्रदेश से एक शिलापट प्राप्त हुआ है जिस पर बाहुबली की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

बीसवीं शताब्दी की नयी मूर्तियो मे, जिन्हे ऊँचे माप पर बनाया गया है, आरा (बिहार) के जैन बालाश्रम मे स्थापित मूर्ति, उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद नगर मे कुछ वर्ष पूर्व स्थापित विशाल बाहुबली-मूर्ति और सागर, म० प्र० के वर्णी भवन में स्थापित मूर्ति उल्लेखनीय है।

उत्तर भारत के अन्य मन्दिरों मे भी ब्रोन्ज और पीतल की अनेक बाहुबली मूर्तिया विराजमान हैं।

कतिपय त्रिमूर्तियाँ :

बाहुबली को भरत चक्रवर्ती के साथ ऋषभनाथ की परिकर-मूर्तियों के रूप मे भी प्रस्तुत किया गया है। बाएँ लता-वेष्टित बाहुबली की ओर दाएँ नव-निधि से अभिज्ञात भरत की मूर्ति से समन्वित ऋषभनाथ की जटा-मण्डित मूर्तियां भव्य बन पड़ी है। ऐसे अनेक मूर्त्यंकन देखे गये है।

जबलपुर जिले मे बिलहरी ग्राम के बाहर स्थित कलचुरिकालीन, लगभग नौवी शती, जैन मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल पर इस प्रकार का सम्भवत: प्राचीनतम मूर्त्यंकन है।

उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले मे स्थित देवगढ़ के पर्वत पर एक मन्दिर मे जो ऐसा मूर्त्यंकन है वह कला की दृष्टि से सुन्दरतम है और उसका निर्माण देवगढ़ की अधिकांश कलाकृतियो के साथ लगभग दसवी शती मे हुआ होगा।

खजुराहो के केन्द्रीय संग्रहालय मे एक सिरदल (क्रमाक १७२४) है। उस पर विभिन्न तीर्थंकरों के साथ भरत और बाहुबली के मूर्त्यंकन भी है। यह दशवी शती की चन्देल कृति है।

भरत और बाहुबली के साथ ऋषभनाथ की विशालतम मूर्ति तोमरकाल, पन्द्रहवी शती मे ग्वालियर की गुफाओ में उत्कीर्ण की गयी।

इस प्रकार की एक पीतल की मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय मे है। इसमे ऋषभनाथ सिंहासन पर आसीन है और उनकी एक ओर भरत तथा दूसरी ओर बाहुबली कायोत्सर्गस्थ हैं। यह सम्भवत: चौदहवी शती की पश्चिम भारतीय कृति है।

इन पाँचों के अतिरिक्त और भी कई मूर्तियो पर ऋषभनाथ क साथ भरत और बाहुबली की प्रस्तुति होने का संकेत मिलता है। उड़ीसा के बालासोर जिले मे भद्रक रेलवे स्टेशन के समीप चरम्पा नामक ग्राम से प्राप्त और

अब राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर में प्रदर्शित अनेक जैन मूर्तियों में से कुछेक में इस प्रकार के मूर्त्यंकन हैं।

इसके अतिरिक्त एक ऐसा मूर्त्यंकन भी प्राप्त हुआ है जो इन सभी से प्राचीन कहा जा सकता है। उड़ीसा के क्योंझर जिले में अनन्तपुर तालुका में बौला पहाड़ियों के मध्य स्थित पोदसिंगिदि नामक ऐतिहासिक स्थान है। यहाँ ऋषभनाथ की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। उड़ीसा में प्राप्त यह प्रथम जैनमूर्ति है जिस पर लेख उत्कीर्ण है। इसमें आसन पर वृषभ लांछन के सामने दो बद्धांजलि भक्त अंकित हैं जो भरत और बाहुबली माने जा सकते हैं, और तब यह इस प्रकार की मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन होगी।

एक पटली चित्रांकन :

बाहुबली की गृहस्थ अवस्था का, भरत से युद्ध करते समय का, मूर्त्यंकन तो नहीं किन्तु चित्रांकन अवश्य प्राप्त हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रों के ऊपर-नीचे जो काष्ठ-निर्मित पटलियाँ बाँधी जाती थी उनमें से एक पर यह चित्रांकन है। मूलतः जैसलमेर भण्डार की यह पटली पहले साराभाई नवाब के पास थी और अब बम्बई के कुसुम और राजेय स्थली के निजी संग्रहालय में है। बारहवीं शती की इस पटली की रचना सिद्धराज जयसिंह चालुक्य, १०९४-११४४ ई०, के शासनकाल में विजयसिंहाचार्य के लिए हुई थी। इसका रचनास्थल राजस्थान होना चाहिए। भरत-बाहुबली-युद्ध इस पटली के पृष्ठभाग पर प्रस्तुत है जिस पर घुमावदार लतावल्लरियों के वृत्ताकारों में हाथी, पक्षी और पौराणिक शेरों के आलंकारिक अभिप्राय अंकित हैं।

उत्तर और दक्षिण की बाहुबली-मूर्तियों में रचना-भेद

बाहुबली की मूर्तियों की सामान्य विशेषता यह है कि उनकी जंघाओं, भुजाओं और वक्षस्थल पर लताएँ उत्कीर्ण रहती हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि बाहुबली ने एक स्थान पर खड़े होकर इतने दीर्घ समय तक कायोत्सर्ग ध्यान किया कि उनके शरीर पर बेलें चढ़ गयीं।

दक्षिण की मूर्तियों में चरणों के पास साँप की बाँबियाँ (बमीठे) हैं जिनमें से साँप निकलते हुए दिखाये गए हैं। किन्तु उत्तर की मूर्तियों में, प्रभासपाटन की मूर्ति को छोड़कर सम्भवतः और किसी में साँप की बाँबियाँ नहीं दिखायी गयी हैं।

उत्तर भारत की मूर्तियों बाहुबली की बहिनों—ब्राह्मी और सुन्दरी का अंकन नहीं है। जहाँ भी दो स्त्रियाँ दिखायी गई हैं वे या तो सेविकायें हैं, या फिर विद्याधरियाँ जो लता गुच्छों का अन्तिम भाग हाथ में थामे हैं, मानो शरीर पर से लतायें हटा रही हैं। एलोरा की गुफा की बाहुबली मूर्ति में जो दो महिलायें अंकित हैं वे मुकुट और आभूषण पहने हैं। वे ब्राह्मी और सुन्दरी हो सकती हैं।

बिलहरी की दो मूर्तियों में से एक में दो सेविकायें, जो विद्याधरी भी हो सकती हैं, लतावृन्त थामे हुए हैं। ये त्रिभंग-मुद्रा में हैं। मूर्ति के दोनों ओर और कन्धों के ऊपर जिन-प्रतिमायें हैं। दूसरी मूर्ति में भक्त-सेविकायें प्रणाम की मुद्रा में लता-गुच्छ थामे दिखायी गयी हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उत्तर भारत की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में बाहुबली को साक्षात् तीर्थंकर की प्रतिष्ठा दर्शाने के लिए सिंहासन, धर्मचक्र, एक-दो या तीन छत्र, भामण्डल, मालाधारी, दुन्दुभिवादक और यहाँ तक कि यक्ष-यक्षियों का भी समावेश कर लिया गया। श्रीवत्स चिह्न तो अंकित हैं ही।

इसीलिए प्रथम कामदेव बाहुबली को अब सम्पूर्ण श्रद्धाभाव से भगवान् बाहुबली कहा जाता है, और उनकी मूर्ति को तीर्थंकर-मूर्ति के समान पूजा जाता है।

धोती पहने बाहुबली की मूर्तियाँ भी कतिपय श्वेतांबर मन्दिरों में प्राप्त है। दिलवाड़ा (राजस्थान) मन्दिर की विमलवसहि, शत्रुंजय (गुजरात) के आदिनाथ मन्दिर और कुम्भारिया (उत्तर गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर में लगभग ११-१२वीं शताब्दी की इस प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इन मूर्तियों का यद्यपि अपना एक विशेष सौंदर्य है तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि बाहुबली की तपस्या और उनकी कायोत्सर्ग मुद्रा का समस्त सहज प्रभाव दिगम्बरत्व में ही है।

निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ,
बी/४५-४७, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-१

इन्द्रगिरि के गोम्मटेश्वर

□ श्री राजकृष्ण जैन

इन्द्रगिरि यह पर्वत बड़ी पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। इसे दोड्डबेट और विन्ध्यगिरि भी कहते हैं। यह समुद्र तट से ३३४७ फुट और नीचे के मैदान से ४७० फुट ऊंचा है। ऊपर चढ़ने के लिए कोई ६०० सीढ़ी है। इसी पहाड़ पर विश्वविख्यात ५७ फुट ऊंची खड्गासन गोम्मटेश्वर की सौम्य मूर्ति है। यह मूर्ति १४-१५ मील से यात्रियों को प्रथम तो एक ध्वजा के स्तम्भ के आकार में दिखाई देती है, किन्तु पास आने पर उसे एक विस्मय मे डालने वाली, अपूर्व और अलौकिक प्रतिमा के दर्शन होते हैं। यात्री अगाध शान्ति का अनुभव करता है और अपने जीव को सफल मानता है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति

यह दिगंबर, उत्तराभिमुखी, खड्गासन ध्यानस्थ प्रतिमा समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तुओं में से एक है सिर पर केशों के छोटे-छोटे कुंतल, कान बड़े और लम्बे, वक्षःस्थल चौड़ा, नीचे लटकती हुई विशाल भुजाएं और कटि किञ्चित् क्षीण है। घुटनों से नीचे की ओर टांगें सर्वाकार हैं। मूर्ति की आँखें, इसके ओष्ट, इसकी ठुण्डी, आँखों की भौंहें सभी अनुपम और लावण्यपूर्ण हैं। मुख पर अपूर्व कान्ति और अगाध शान्ति है। घुटनों से ऊपर तक बांवियां दिखाई गई हैं, जिनसे कुक्कुट सर्प निकल रहे हैं, दोनों पैरों और भुजाओं से माधवी लता लिपट रही है। मुख पर अचल ध्यान-मुद्रा अङ्कित है। मूर्ति क्या है मानों त्याग, तपस्या और शान्ति का प्रतीक है। दृश्य बड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। पादपीठ एक विकसित कमल के आकार का बनाया गया है। निःसंदेह मूर्तिकार ने अपने इस अपूर्व प्रयास में सफलता प्राप्त की है। समस्त संसार में गोम्मटेश्वर की तुलना करने वाली मूर्ति कहीं भी नहीं है। इतने भारी और विशाल पाषाण पर सिद्ध हस्त कलाकार ने जिस कौशल से अपनी छैनी चलाई है उससे भारत के मूर्तिकारों का मस्तक सदैव गर्व से ऊंचा रहेगा।

बाहुबली (गोम्मटेश्वर) की मूर्ति यद्यपि जैन है तथापि न केवल भारत, अपितु सारे संसार का अलौकिक धन है। शिल्पकला का बेजोड़ रत्न है, अशेष मानव जाति की यह अमूल्य धरोहर है। इतने सुन्दर प्रकृतिप्रदत्त पाषाण से इस मूर्ति का निर्माण हुआ है कि १००० वर्ष से अधिक बीतने पर भी यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृति देवी की अमोघ शक्तियों से बातें कर रही है। उसमे किसी प्रकार की भी क्षति नहीं हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्पी ने इसे अभी टांकी से उत्कीर्ण किया है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति आज के क्षुब्ध ससार को देशना दे रही है कि परिग्रह और भौतिक पदार्थों की ममता पाप का मूल है। जिस राज्य के लिए भरतेश्वर ने मुझसे संग्राम किया, मैंने जीतने पर भी उस राज्य को जीर्णतृणवत् समझ कर एक क्षण में छोड़ दिया। यदि तुम शांति चाहते हो तो मेरे समान निर्द्वन्द्व होकर आत्मरत हो।

एक बार स्वर्गीय ड्यूक आफ वैलिंगटन जब वे सरिंगापाटन का घेरा डालने के लिए अपनी फौजों की कमाण्ड कर रहे थे, मार्ग में इस मूर्ति को देख कर आश्चर्यान्वित हो गए और ठीक हिसाब न लगा सके कि इस मूर्ति के निर्माण में कितना रुपया तथा समय व्यय हुआ है।

गोम्मटेश्वर कौन थे और उनकी मूर्ति यहां किसके द्वारा किस प्रकार और कब प्रतिष्ठित की गई, इसका कुछ उल्लेख शिलालेख नं० २३४ (८५) में पाया जाता है। यह लेख एक छोटा-सा सुन्दर कन्नड़ काव्य है जो सन् ११८० ई० के लगभग बोप्पनकवि के द्वारा रचा गया था, वह इस प्रकार है।

"गोम्मट, पुरुदेव अपर नाम ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबली या भुजबली भी था।

इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भाइयों में साम्राज्य के लिए युद्ध हुआ, इसमें बाहुबली की विजय हुई, पर संसार की गति से विरक्त हो उन्होंने राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को सौंप दिया और आप तपस्या करने वन में चले गए। थोड़े ही काल में तपस्या के द्वारा उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भरत ने जो अब चक्रवर्ती हो गए थे, पोदनपुर में स्मृति रूप उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की एक प्रतिमा स्थापित कराई, समयानुसार मूर्ति के आसपास का प्रदेश कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गई और उसके दर्शन केवल मुनियों को ही मन्त्रशक्ति से प्राप्त होते थे। गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री चामुण्डराय ने इस मूर्ति का वृत्तान्त सुना और उन्हें इसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। पर पोदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्ति का निर्माण कराया।" आगे कवि ने अपने भावों को अत्यन्त रसपूर्ण सुन्दर कविता में वर्णन किया है। जिसका भाव इस प्रकार है :—

"यदि कोई मूर्ति अत्युन्नत (विशाल) हो, तो यह आवश्यक नहीं कि वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों हो, तो यह आवश्यक नहीं, कि उसमें अलौकिक वैभव भी हो। गोम्मटेश्वर की मूर्ति में विशालता, सुन्दरता और अलौकिक वैभव, तीनों का सम्मिश्रण है। अतः गोम्मटेश्वर की मूर्ति से बढ़ कर संसार में उपासना के योग्य क्या वस्तु हो सकती है?

यदि माया (शची) इनके रूप का चित्र न बना सकी, १,००० नेत्र वाला इन्द्र भी इनके रूप को देखकर तृप्त न हुआ और २००० जिह्वा वाला नागेन्द्र (अधिशेष) भी इनका गुणगान करने में असमर्थ रहा, तो दक्षिण के अनुपम और विशाल गोम्मटेश्वर के रूप का कौन चित्रण कर सकता है। कौन उनके रूप को देखकर तृप्त हो सकता है और कौन उनका गुणगान कर सकता है?

पक्षी भूलकर भी इस मूर्ति के ऊपर नहीं उड़ते। बाहुबली की दोनों कांखों में से केशर की सुगन्ध निकलती है। तीनों लोकों के लोगों ने यह आश्चर्यजनक घटना देखी। वह कौन है जो इस तेजस्वी मूर्ति का ठीक वर्णन कर सकता है?

नागराजों का प्रख्यात संसार (पाताललोक) जिसकी नींव है, पृथ्वी (मध्यलोक) जिसका आधार है, परिधिचक्र जिसकी दीवारें हैं, स्वर्गलोक (ऊर्ध्वलोक) जिसकी छत है, जिसकी अट्टारी पर देवों के रथ हैं, जिनका ज्ञान तीन लोकों में व्याप्त है। अतः वही त्रिलोक गोम्मटेश्वर का निवास है।

क्या बाहुबली अनुपम सुन्दर हैं? हां, वे कामदेव हैं। क्या वे बलवान हैं? हां, उन्होंने सम्राट् भरत को परास्त कर दिया है। क्या वे उदार हैं? हां, उन्होंने जीता हुआ साम्राज्य भरत को वापिस दे दिया है। क्या वे मोह रहित हैं? हां, वे ध्यानस्थ हैं और उनको केवल दो पैर पृथ्वी से सन्तोष है जिस पर वे खड़े हैं। क्या वे केवलज्ञानी हैं? हां, उन्होंने कर्मबन्धन का नाश कर दिया है।

जो मन्मथ से अधिक सुन्दर है, उत्कृष्ट भुजबल को धारण करने वाले हैं, जिसने सम्राट् के गर्व को खण्डित कर दिया, राज्य को त्यागने से जिसका मोह नष्ट हो गया, जिसने कैवल्य प्राप्त करके सिद्धत्व पा लिया, समस्त संसार ने जिन पर नमेरु पुष्पों की वर्षा देखी, उन पुष्पों की चमक और दिव्य सुगन्ध परिधिचक्र से आगे चली गई। ...गोम्मटेश्वर के मस्तक पर पुष्पवृष्टि देखकर स्त्री, पुरुष, बालक और पशु समूह भी हर्षित हो उठा। बेल्गोल के गोम्मटेश्वर के चरणों पर पुष्पवृष्टि ऐसी प्रतीत होती थी, मानो उज्ज्वल तारा समूह उनके चरणों की वन्दना को आया हो। बाहुबली पर ऐसी पुष्पवृष्टि या तो उस समय हुई थी, जब उन्होंने द्वन्द्व युद्ध में भारत को परास्त किया या उस समय हुई जब उन्होंने कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त की।

अय प्राणी! तू व्यर्थ जन्म रूपी वन में भ्रमण कर रहा है। तू मिथ्या देवों में क्यों श्रद्धा करता है? तू सर्वश्रेष्ठ गोम्मटेश्वर का चिन्तन कर। तू जन्म, बुढ़ापा और खेद से मुक्त हो जायगा।

गोम्मटेश्वर की यह विशाल मूर्ति देशना कर रही है कि कोई प्राणी हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में

सुख न माने अन्यथा मनुष्य जन्म बेकार जायगा।

बाहुबली को निरपराध स्त्रियों का विलाप भी न रोक सका। उनका रोना उनके कानो तक नहीं पहुंचा। बिना कारण परित्याग करने पर उनको बसन्त ऋतु, चन्द्रमा, पुष्प धनुष और बाण ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे नायक के बिना नाट्य मंडली। बाबियां और शरीर पर लिपटी हुई माधवी लता बतला रही है कि पृथ्वी बिना कारण परित्याग के सिमट गई हो और लतारूप शोकग्रस्त स्त्रियो ने उनको आलिंगन कर लिया हो।

बाहुबली को भरतेश्वर की प्रार्थना भी न रोक सकी। भरत ने कहा था कि "भाई ! मेरे ९८ भाइयो ने संसार-त्याग करके दीक्षा धारण कर ली है। यदि आप भी तपश्चरण को जायगे, तो यह राज्य सम्पदा मेरे किस काम आयगी ?"

गोम्मटदेव ! आपकी वीरता प्रशंसनीय है। जब आपके बड़े भाई भरत ने प्रार्थना की, कि आप यह विचार छोड़ दें कि आपके दोनों पांव मेरी पृथ्वी मे है। पृथ्वी न मेरी है न आपकी। भगवान ने बतलाया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही आत्मा के निजी गुण हैं। ऐसा सुनते ही आपने सर्व गर्व त्याग दिया और आपको कैवल्य की प्राप्ति हुई।

गोम्मटदेव यह आप ही के योग्य था। आपके तपश्चरण से आपको स्थायी सुख मिला तथा औरों को आपने मार्गप्रदर्शक का कार्य किया। आपने घातिया कर्मों का नाश करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख प्राप्त किया और अघातिया कर्मों के नाश से आपने सिद्धत्व प्राप्त किया।

हे गोम्मटदेव ! जो लोग इन्द्र के समान सुगन्धित पुष्पों से आपके चरण कमल पूजते है, प्रसन्नचित्त होकर दर्शन करते हैं, आपकी परिक्रमा करते है और आपका गान करते हैं, उनसे अधिक पुण्यशाली कौन होगा ?"

यह वर्णन थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ 'भुजबलिशतक', 'भुजबलिचरित' 'गोम्मटेश्वर चरित्र', राजाबलिकथा' तथा 'स्थलपुराण' में भी पाया जाता है।

'भुजबलिचरित' के अनुसार जैनाचार्य जिनसेन ने पोदन-पुरस्थ मूर्ति का वर्णन चामुण्डराय की माता कालल देवी को सुनाया। उसे सुन कर मातश्री ने प्रण किया कि जब तक गोम्मटदेव के दर्शन न कर लूंगी, दुग्ध नही लूंगी। मातृभक्त चामुण्डराय ने यह संवाद अपनीपत्नी अजितादेवी के मुख से सुना और तत्काल गोम्मटेश्वर की यात्रा को प्रस्थान किया। मार्ग मे उन्होंने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगुप्त बस्ती मे भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन किए और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के चरणों की वन्दना की। रात्रि मे स्वप्न आया कि पोदनपुर वाली गोम्मटेश्वर की मूर्ति का दर्शन केवल देव कर सकते है, वहा वन्दना तुम्हारे लिए अगम्य है, पर तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर गोम्मटेश्वर तुम्हे यही दर्शन देंगे। तुम मन, वचन, काय की शुद्धि से सामने वाले पर्वत पर एक स्वर्णबाण छोड़ो और भगवान के दर्शन करो। मातश्री को भी ऐसा ही स्वप्न हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल ही चामुण्डराय ने स्नान पूजन से शुद्ध हो चन्द्रगिरि की एक शिला पर अवस्थित होकर, दक्षिण दिशा को मुख करके एक स्वर्णबाण छोड़ा, जो बड़ी पहाड़ी (विन्ध्यगिरि) के मस्तक पर जाकर लगा। बाण लगते ही विन्ध्यगिरि का शिखर कांप उठा, पत्थरो की पपड़ी टूट पडी और मैत्री, प्रमोद और करुणा का ब्रह्मविहार दिखलाता हुआ गोम्मटेश्वर का मस्तक प्रकट हुआ। चामुण्डराय और उसकी माता की आंखों से भक्तिवश अविरल अश्रुधारा बहने लगी। तुरंत असंख्य मूर्तिकार वहां आ गए। प्रत्येक के हाथ मे हीरे की एक-एक छैनी थी। बाहुबली के मस्तक के दर्शन करते जाते थे और आस-पास के पत्थर उतारते जाते थे। कन्धे प्रकट हुए, छाती दिखाई देने लगी, विशाल बाहुओ पर लिपटी हुई माधवीलता दिखाई दी। वे पैरों तक आ पहुंचे। नीचे बांमियों मे से कुक्कुट सर्प निकल रहे थे, पर बिल्कुल अहिंसक। पैरों के नीचे एक विकसित कमल निकला। भक्त माता का हृदय-कमल भी खिल गया और उसने कृतार्थ और आनन्दित हो 'जय गोम्मटेश्वर' की ध्वनि की। आकाश से पुष्पवृष्टि हुई और सभी धन्य-धन्य कहने लगे। फिर चामुण्डराय ने कारीगरों से दक्षिण बाजू पर ब्रह्मदेव सहित पाताल गम्ब, सन्मुख यक्षगम्ब, ऊपर का खण्ड, त्यागदकम्ब, अखण्ड बागिलु नामक दरवाजा और

अन्यत्र सीढ़ियां बनवाईं। दरवाजे पर ही एक भव्यात्मा गुल्लकाय देवी की मूर्ति है।

इसके पश्चात् अभिषेक की तैयारी हुई। उस समय एक वृद्धा महिला गल्लकायजी नाम की, एक नारियल की प्याली मे अभिषेक के लिए थोड़ा-सा अपनी गाय का दूध ले आई और लोगों से कहने लगी कि मुझे अभिषेक के लिए यह दूध लेकर जाने दो, पर बिचारी बुढ़िया की कौन सुनता? वृद्धा प्रतिदिन सवेरे गाय का दूध लेकर आती और अंधेरा होने पर निराश होकर घर लौट जाती। इस प्रकार एक मास बीत गया। अभिषेक का दिन आया पर चामुण्डराय ने जितना भी दुग्ध एकत्रित कराया उससे अभिषेक न हुआ। हजारों घड़े दूध डालने पर भी दुग्ध गोम्मटेश्वर की कटि तक भी न पहुंचा। चामुण्डराय ने घबरा कर प्रतिष्ठाचार्य से कारण पूछा। उन्होने बतलाया कि मूर्ति निर्माण पर जो तुझमे कुछ गर्व की आभा-सी आ गई है इसलिए दुग्ध कटि से नीचे नही उतरता। उन्होने आदेश दिया कि जो दुग्ध वृद्धा गुल्लिकाया अपनी कटोरी मे लाई है उससे अभिषेक कराओ। चामुण्डराय ने ऐसा हो किया, और उस अत्यल्प दुग्ध की धारा गोम्मटेश के मस्तक पर छोड़ते ही न केवल समस्त मूर्ति का अभिषेक हुआ, बल्कि सारी पहाड़ी दुग्धमय हो गई चामुण्डराय को ज्ञान हुआ कि इतनी मेहनत, इतना व्यय और इतना वैभव भक्ति भरी एक दुग्ध की कटोरी के सामने तुच्छ है।

इसके पश्चात् चामुण्डराय ने पहाडी के नीचे एक नगर बसाया और मूर्ति के लिए ९६,००० वरह की आय के गांव लगा दिए। अपने गुरु अजितसेन के कहने पर उस गाव का नाम श्रमणबेल्गोल रखा और उस गुलकायज्जि वृद्धा की मूर्ति भी बनवाई।

'गोम्मटेश्वर चरित' मे लिखा है कि चामुण्डराय के स्वर्णबाण चलाने से जो गोम्मट की मूर्ति प्रकट हुई थी, चामुण्डराय ने उसे मूर्तिकारों से सुघटित कराकर अभिषिक्त और प्रतिष्ठित कराई।

'स्थलपुराण' के अनुसार चामुण्डराय ने मूर्ति के हेतु एक लाख छयानवे वरह की आय के ग्रामों का दान दिया।

राजावलिकथा के अनुसार प्राचीन काल में राम, रावण और रावण की रानी मन्दोदरी ने बेल्गोल की गोम्मटेश्वर की बन्दना की थी।

मुनिवंशाभ्युदय काव्य मे लिखा है कि गोम्मट की मूर्तिको राम और सीता लङ्का से लाए थे। वे इसका पूजन करते थे। जाते समय वे इस मूर्ति को उठाने मे असमर्थ रहे इसी से वे उन्हें इस स्थान पर छोड़ कर चले गए।

उपर्युक्त प्रमाणों से यही विदित होता है कि इस मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने ही कराई थी। ५७ फुट की मूर्ति खोद निकालने योग्य पाषाण कहीं और स्थान से लाकर इतने ऊंचे पर्वत पर प्रतिष्ठित किया जाना बुद्धिगम्य नही है। इसी पहाड़ पर प्रकृति-प्रदत्त स्तम्भाकार चट्टान काट कर इस मूर्ति का निर्माण हुआ है। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नव सौन्दर्य से खचित छतों से सजा हुआ है।

गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा और उपासना

बाहुबली चरित्र मे गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सवत् ६०० में विभवसवत्सर चैत्र शुक्ल ५ रविवार को कुम्भ लग्न, सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र लिखा है। विद्वानों ने इस संवत् की तिथि २३ मार्च सन् १०२८ निश्चित की है।

प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की मूर्ति की उपासना कैसे प्रचलित हुई। इसका प्रथम कारण यह है कि इस अवसर्पिणी काल मे सब प्रथम भगवान ऋषभदेव से भी पहले मोक्ष जाने वाले क्षत्रिय वीर बाहुबली ही थे। इस युग के आदि मे इन्होंने ही सर्वप्रथम मुक्ति-पथ प्रदर्शन किया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि बाहुबली के अपूर्व त्याग, अलौकिक आत्मनिग्रह और निज बन्धु-प्रेम आदि असाधारण एवं अमानुषिक गुणों ने सर्वप्रथम अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को इन्हें पूजने को बाध्य किया और तत्पश्चात् औरों ने भी भरत का अनुकरण किया। चामुण्डराय स्वयं वीरमार्तण्ड थे, सुयोग्य सेनापति थे। अतः उनके लिए महाबाहु बाहुबली से बढ़ कर दूसरा कोई आदर्श व्यक्ति न था। यही कारण है कि अन्य क्षत्रियों ने भी चामुण्डराय का अनुसरण करके कारकल और वेलूर में गोम्मटेश की मूर्तियां स्थापित कराईं।

गोम्मटेश्वर नाम क्यों पड़ा ?

अब प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की मूर्ति का नाम गोम्मट क्यों पड़ा ? संस्कृत मे गोम्मट शब्द मन्मथ (कामदेव) का ही रूपान्तर है। इसलिए बाहुबली की मूर्तियां गोम्मट नाम से प्रख्यात हुई। इतना ही नहीं, बल्कि मूर्ति स्थापना के पश्चात् इस पुण्य कार्य की स्मृति को जीवित रखने के लिए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यप्रवर श्री नेमचन्द्र जी ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से ही किया और अपने शिष्य चामुण्डराय के लिए रचे हुए 'पंच संग्रह' ग्रन्थ का नाम उन्होंने गोम्मटसार रखा। चामुण्डराय का घरू नाम भी गोम्मट था। इसलिए भी कहा जाता है कि मूर्ति का नाम गोम्मटेश्वर पड़ा।

मूर्ति का आकार

भगवान बाहुबली की इतनी उन्नत मूर्ति का नाप लेना कोई सरल कार्य नहीं है। सन् १८६५ में मैसूर के चीफ कमिश्नर श्री बौरिंग ने मूर्ति का ठीक-ठीक माप करा कर उसकी ऊंचाई ५७ फुट दर्ज की थी। सन् १८७१ ईस्वी मे महमस्तकाभिषेक के समय मैसूर के सरकारी अफसरों ने मूर्ति के निम्न माप लिये—

	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	५०	०
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	६	६
चरण की लम्बाई	९	०
चरण के अग्रभाग की चौड़ाई	४	६
चरण का अंगुष्ठ	२	९
पाद पृष्ठ की ऊपर की गोलाई	६	४
जंघा की अर्ध गोलाई	१०	०
नितम्ब से कर्ण तक	२४	६
पृष्ठ-अस्थि के अधोभाग से कर्ण तक	२०	०
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	१३	०
कटि की चौड़ाई	१०	०
कटि और टेहुनी से कर्ण तक	१७	०
बाहुमूल से कर्ण तक	७	०
वक्षःस्थल की चौड़ाई	२६	०
ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक	२	६
तर्जनी की लम्बाई	३	६
मध्यमा की लम्बाई	५	३
अनामिका की लम्बाई	४	७
कनिष्ठका की लम्बाई	२	८

[स्व० श्री राजकृष्ण जैन कृत पुस्तक 'श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ' से उद्धृत]

□□□

सम्यक्त्व-मूर्ति चामुण्डराय

[गोमट्टसार की कन्नडी टीका श्री केशव वर्णी ने शक सं० १२८१ में की थी उसकी प्रशस्ति में चामुण्डराय के विषय में निम्न उल्लेख दृष्टव्य है (इसे पृष्ठ ५६ के लेख के शेषांश के रूप में भी पढ़ा जाए) —सम्पादक

श्री मदप्रतिहतप्रभाव स्याद्वादशासनगुहाभ्यंतरनिवासि सिंहायमान सिंहनंदी मुनीन्द्राभिनंदित गंगवंश ललाम राज सर्वज्ञाद्यनेक गुणनामधेय भागधेय श्रीमद्राचमल्ल देव महीवल्लभ महामात्य पद विराजमान रणरंग-मल्ल सहाय पराक्रम गुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्न निलयादिविविधगुणनामसमासादित कीर्तिकान्त श्रीमच्चा-मुण्डराय प्रश्नावतीर्णैक चत्वारिंशत्पदनाम सत्वप्ररूपणाद्वारेणाशेषविनेयजन निकुरवातबोधनार्थं नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती शास्त्रमकरोत। कार्णाटिकी वृत्तिर्वर्णि केशवैः कृतम्।"

—"स्याद्वाद-शासनरूपी गुफा के मध्य निवास करने वाले—स्याद्वाद के अनुगामी और (वादियों में) सिंह के समान आचरण करने वाले अप्रतिहत प्रभावी सिंहनंदी नामक मुनि से अभिनंदित, सर्वज्ञ (?) आदि अनेक गुण नाम के धारक, भाग्यशाली गंगवंश के अवतंस राजा राचमल्ल के महामात्यपद पर आसीन, रणभूमि में मल्ल, पराक्रमरूपी, गुणरत्न के भूषण, सम्यक्त्वरूपी रत्न के निवास आदि विविध गुणों से युक्त और कीर्ति से दैदीप्यमान श्रीमद् चामुण्डराय के प्रश्नों के कारण से—समस्तशिष्य समूह के ज्ञान के लिए सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्र जी द्वारा इकतालीस पदों वाली सत्-प्ररूपणा का अवतरण हुआ—शास्त्र (गोम्मटसार) बनाया गया। जिसकी कर्नाटकी वृत्ति (टीका) केशववर्णी द्वारा बनाई गई।"

जैन-परम्परा में सन्त और उनकी साधना-पद्धति

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन सन्त : लक्षण तथा स्वरूप

सामान्यतः भारतीय सन्त साधु, मुनि, तपस्वी या यतिके नाम से अभिहित किए जाते हैं। समय की गतिशील धारा मे साधु-सन्तों के इतने नाम प्रचलित रहे है कि उन सबको गिनना इस छोटे से निबन्ध मे सम्भव नहीं है। किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा मे साधु, मुनि तथा श्रमण शब्द विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं। साधु चारित्र वाले सन्तो के नाम है।[1] श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दन्त या यति। बौद्ध परम्परा के श्रमण, क्षपणक तथा भिक्षु शब्दों का प्रयोग भी जैनवाङ्मय मे जैन साधुओ के लिए दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा यह है कि साधु तथा श्रमण शब्द अत्यन्त प्राचीन है। शौरसेनी आगम ग्रन्थों में तथा नमस्कार-मन्त्र मे 'साहू' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। परवर्ती काल मे जैन आगम ग्रन्थो में तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि की रचनाओं में साहू तथा समण दोनों शब्दों के प्रयोग भली-भाँति लक्षित होते है।

साधु का अर्थ है[2]—अनन्त ज्ञानादि स्वरूप शुद्धात्म की साधना करने वाला। जो अनन्त ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों का साधक है, वह साधु कहा जाता है। 'सन्त' शब्द से भी यही भाव ध्वनित होता है क्योंकि सत्, चित् और आनन्द को उपलब्ध होने वाला सन्त कहलाता है। इसी प्रकार जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और जीवन-मरण के प्रति सदा समताका भाव बना रहता है, वह श्रमण है[3]। दूसरे शब्दों में जिसके राग-द्वेष का द्वैत प्रकट नहीं होता, जो सतत विशुद्धदृष्टिज्ञप्ति-स्वभाव शुद्धात्म-तत्त्व का अनुभव करता है, वहीं सच्चा साधु किंवा सन्त है। इस प्रकार धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा शुद्धोपयोग में लीन होने के कारण सच्चा सुख अथवा मोक्ष सुख प्राप्त करता है। साधु-सन्तों की साधना का यही एक मात्र लक्ष्य होता है। जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं, वे राग-द्वेषादि से रहित धर्म-परिणत स्वरूप शुद्ध साध्य को उपलब्ध करने वाले होते हैं, उन्हें ही उत्तम मुनि कहते है। किन्तु प्रारम्भिक भूमिका में उनके निकट-वर्ती शुभोपयोगी साधु भी गौण रूप से श्रमण कहे जाते हैं। वास्तव में परमजिनकी आराधना करने में सभी जैन सन्त-साधु स्व शुद्धात्मा के ही आराधक होते हैं क्योंकि निजात्मा की आराधना करके ही वे कर्म-शत्रुओं का विनाश करते है।

साधु के अनेक गुण कहे गए है। किन्तु उनमें मूल गुणों का होना अत्यन्त अनिवार्य है। मूल गुण के बिना कोई जैनसाधु नहीं हो सकता। मूलगुण ही वे बाहरी लक्षण हैं जिनके आधार पर जैन सन्त की परीक्षा की जाती है। यथार्थ मे निर्विकल्पता मे स्थित रहने वाले साम्य-दशा को प्राप्त साधु ही उत्तम कहे जाते हैं। परन्तु अधिक समय तक कोई भी श्रमण सन्त निर्विकल्प दशा में स्थित नही रह सकता। अतएव सम्यक् रूप से व्यवहार चारित्र का पालन करते हुए अविछिन्न रूप से सामायिक में आरूढ़ होते हैं। चारित्र का उद्देश्य मूल में समताभाव की उपासना है। क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मुनियों के चारित्र को महत्व दिया गया है। चारित्र दो

---

१. समणोत्ति संजदोत्ति य रिसिमुणिसाधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामणि सुविहिदाण अणगार भदंत दत्तोति॥
मूलाचार, गा० ८८६

२. "अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।"
—धवला टीका, १, १, १

३. समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

प्रवचनसार, गा० २४१

प्रकार का कहा गया है—सयम्क्त्वाचरण चारित्र और सयमाचरण चारित्र। प्रथम सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट जिनागम में प्रतिपादित तत्त्वार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानकर श्रद्धान करना तथा शकादि अतिचार मल-दोष रहित निर्मलता सहित निःशंकित आदि अष्टाग गुणो का प्रकट होना सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। द्वितीय महाव्रतादि से युक्त अट्ठाईस मूल गुणों का संयमाचरण है[1]। परमार्थ मे तो श्रमण के निर्विकल्प सामायिकसयम रूप एक ही प्रकार का अभेद चारित्र होता है। किन्तु उसमे विकल्प या भेद-रूप होने से श्रमणों के मूलगुण कहे जाते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सभी काल के तीर्थंकरो के शासन मे सामायिक संयम का ही उपदेश दिया जाता रहता है। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा आदि तीर्थंकर ऋषभ-देव ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया था[2]। इसका कारण मुख्य रूप से घोर मिथ्यात्वी जीवो का होना कहा जाता है। आदि तीर्थ मे लोग सरल थे और अन्तिम मे कुटिल बुद्धि वाले। अठाईस मूलगुण इस प्रकार कहे गए है[3] : पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियो का निरोध, छह आवश्यक केशलोंच, नग्नत्व अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन-वर्जन, खडे होकर भोजन और एक बार आहार। श्वेताम्बर परम्परा मे भी पाँच महाव्रतो को अनिवार्य रूप से माना गया है। पाच महाव्रतो और पांच समितियो के बिना कोई जैनमुनि नही हो सकता। 'स्थानांगसूत्र' मे दश प्रकार की समाधियो मे पाँच महाव्रत तथा पांच समिति का उल्लेख किया गया है[4]।

पाँच महाव्रतों मे सब प्रकार के परिग्रह का त्याग हो जाता है। जहाँ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग है, वहाँ सभी वस्त्रों का भी त्याग है। कहा भी है—सम्पूर्ण वस्त्रो का त्याग, अचेलकता या नग्नता, केशलोंच करना, शरीरादि से ममत्व छोड़ना या कायोत्सर्ग करना और मयूरपिच्छिका धारण करना यह चार प्रकार का औत्सर्गिक लिंग है[5]। श्वेताम्बरो के मान्य आगम ग्रन्थ मे भी साधु के अठाईस मूलगुणों मे से कई बाते समान मिलती है। "स्थानांग सूत्र मे उल्लेख है—'आर्यो!'·· मैंने पाँच महाव्रतात्मक, सप्रति-क्रमण और अचेल धर्म का निरूपण किया है। आर्यो, मैंने नग्नभावत्व, मुण्डभाव, अस्नान, दन्तप्रक्षालन-वर्जन, छत्र-वर्जन, पादुका-वर्जन, भूमि-शय्या, केशलोच आदि का निरूपण किया है[6]। श्वेताम्बर-परम्परा मे साधु के मूल गुणो की संख्या सामान्यत: छह मानी गई है[7]। जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमणने मूलगुणों की सख्या पाँच और छह दोनो का उल्लेख किया है सम्यक्त्व से सहित पांच महाव्रतों को उन्होने पांच मूलगुण कहा है[8]। इन पाँच महाव्रतों के साथ रात्रिभोजन-विरमण मिला कर मूलगुणों की संख्या छह कही जाती है।

वास्तव में जैन साधु-सन्तों का स्वरूप दिगम्बर मुद्रा में विराजित वीतरागता मे ही लक्षित होता है अतएव सभी भारतीय सम्प्रदायो मे समानान्तर रूप से दिगम्बरत्व का महत्व किसी-न किसी रूप मे स्वीकार किया गया है। योगियो में परमहम साधुओ का स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। आजीवक श्रमण नग्न रूप मे ही विहार करते थे। इसी प्रकार हिन्दुओ के कापालिक साधु नागा ही होते हैं जो आज भी विद्यमान है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। भारतीय सन्तों की परम्परा वैदिक और

---

१. जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढमं सम्मत्तचरणचारित्त।
विदियं संजमचरण जिणणासदेसियं त पि॥
चारित्तपाहुड, गा० ५

२. बावीसं तित्थयरा सामाइयसजम उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥
मूलाचार, गा० ५३३

३. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतधावणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता॥
प्रवचनसार, गा० २०८–२०९

४. ठाणांगसुत्त, स्था० १०, सूत्र ८

५. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे॥
भगवती आराधना, गा० ८२

६. मुनि नथमल: उत्तराध्ययन-एक समीक्षात्मक अध्ययन, कलकत्ता, १९६८, पृ० १२८

७. विशेषावश्यक भाष्य, गा० १८२९

८. सम्मत्त समेयाइं महव्वयाणुव्वयाइं मूलगुणा।
वही, गा० १२४४

श्रमण इन दो रूपों में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवाहित रही है। इसे ही हम दूसरे शब्दों में ऋषि-परम्परा तथा मुनि परम्परा कह सकते हैं। मुनि-परम्परा अध्यात्मिक रही है जिसका सभी प्रकार से आर्हत संस्कृति से सम्बन्ध रहा है। ऋषि-परम्परा वेदों को प्रमाण मानने वाली पूर्णतः बाह्त रही है। श्रमण मुनि वस्तु-स्वरूप के विज्ञानी तथा आत्म-धर्म के उपदेष्टा रहे है। आत्म-धर्म की साधना के बिना कोई सच्चा श्रमण नही हो सकता। श्रमण-परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और संन्यास को प्रश्रय मिला[1]। जैनधर्म मे प्रारम्भ से ही वानप्रस्थ के रूप में ऐलक, क्षुल्लक (लंगोटी धारण करने वाले) साधकों का वर्ग दिगम्बर परम्परा मे प्रचलित रहा है। संन्यासी के रूप में पूर्ण नग्न साधु ही मान्य रहे है।

केवल जैन साहित्य में ही नही, वेद उपनिषद्, पुराणादि साहित्य मे भी श्रमण सस्कृति के पुरस्कर्ता 'श्रमण' का उल्लेख तपस्वी के रूप मे परिलक्षित होता है[2]। इन उल्लेखों के आधार पर जैनधर्म व आर्हत मत की प्राचीनता का निश्चित होता है। इतना ही नही, इस काल चक्र की धारा मे अभिमत प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का भी सादर उल्लेख वैदिक वाङ्मय तथा हिन्दू पुराणों में मिलता है। अतएव इनकी प्रामाणिकता मे कोई सन्देह नही है। पुराण-साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षुओं के पाँच महाव्रत या यम सर्वमान्य थे[3]। 'जाबालोपनिषद्' का यह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है कि निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही, नग्न-दिगम्बर साधु ब्रह्ममार्ग में संलग्न हैं[4]। उपनिषद्-साहित्य मे तुरीयातीत' अर्थात् सर्व-त्यागी संन्यासियों का जो वर्णन किया गया है, उनमे परमहंस साधु की भाँति अपनी उत्तमचर्या लिए हुए आत्म-ज्ञान-ध्यान में लीन दिगम्बर जैन साधु कहे जाते हैं। सन्यासी को भी अपने शुद्धरूप मे दिगम्बर बताया गया है। टीकाकारों ने 'अवधूत' का अर्थ दिगम्बर किया है[5]। भर्तृहरि ने दिगम्बर मुद्रा का महत्त्व बताते हुए यह कामना की थी कि मैं इस अवस्था को कब प्राप्त होऊंगा ? क्योंकि दिगम्बरत्व के बिना कर्म-जंजालों से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है[6]।

साधना-पद्धति

यथार्थ मे स्वभाव की आराधना को साधना कहते हैं। स्वभाव की आराधना के समय समस्त अलौकिक कर्म तथा व्यावहारिक प्रवृत्ति गौण हो जाती है, क्योंकि उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है। वास्तव में प्रवृत्ति का मूल राग कहा गया है। अतः राग-द्वेष के त्याग का नाम निवृत्ति है। राग-द्वेष का सम्बन्ध बाहरी पर-पदार्थों से होने के कारण उनका भी त्याग किया जाता है, किन्तु त्याग का मूल राग-द्वेष-मोह का अभाव है। जैसे-जैसे यह जीव

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका से उद्धृत, पृ० १३

२. "तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमणा अश्रृथिता अमृत्यवः।"
"श्रमणो श्रमणस्तापतो तापसो···"

बृहदारण्यक, ४, ३, २२

वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवु"
तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ७ अनुवाक, १-२ तथा
— तैत्तरीयोपनिषद्. २, ७

"वातरसना य ह्युषयः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनः।"

श्रीमद्भागवत ११, ६, ४७

"यत्र लोका न लोकाः···श्रमणो न श्रमणस्तापसो।"

—ब्रह्मोपनिषद्

"आत्मारामाः समदृशः श्रमणाः जना।"

—श्रीमद्भागवत १२, ३, १८

३. अस्तेय ब्रह्मचर्यञ्च अलोभस्त्याग एव च।
व्रतानि पच भिक्षूणमहिंसा परमात्विह॥

लिंगपुराण, ८६, २४

४. "यथाजातरूपधरो निर्ग्रंथो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे···"

—जाबालोपनिषद् पृ० २०६

५. "संन्यासः षड्विधो भवति—कुटिचक्र बहूदकहंस परम-हंस तुरीयातीत अवधूश्रुति। सन्यासोपनिषद्, १३
तुरीयातीत—सर्वत्यागी तुरीयातीतो गोमुखवृत्या फला-हारी चेति गृहत्यागी देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः।

६. एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

वैराग्यशतक, ५८ वि० सं० १९८२ का संस्करण

आत्म-स्वभाव में लीन होता जाता है, वैसे-वैसे धार्मिक क्रिया प्रवृत्ति रूप व्रत-नियमादि सहज ही छूटते जाते हैं। साधक दशा मे साधु जिन मूलगुणों तथा उत्तरगुणो को साध्य के निमित्त समझकर पूर्व में अंगीकार करता है, व्यवहार में उनका पालन करता हुआ भी उनसे साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नही मानता। इसीलिए कहा गया है कि व्यवहार में बन्ध होता है और स्वभाव मे लीन होने से मोक्ष होता है। इसीलिए स्वभाव की आराधना के समय व्यवहार को गौण कर देना चाहिए[1]। जिनकी व्यवहार की ही एकान्त मान्यता है, वे सुख-दुखादि कर्मों से छूट कर कभी सच्चे सुख को उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि व्यवहार पर-पदार्थों के आश्रय से होता है और उनके ही आश्रय से राग-द्वेष के भाव होते है। परन्तु परमार्थ निज आत्माश्रित है, इसलिए कर्म-प्रवृत्ति छुड़ाने के लिए परमार्थ का उपदेश दिया गया है। व्यवहार का आश्रय तो अभव्य जीव भी ग्रहण करते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, तप और शील का पालन करते हुए भी वे सदा मोही, अज्ञानी बने रहते हैं[2]। जो ऐसा मानते है कि परपदार्थ जीव मे रागद्वेष उत्पन्न करते है तो यह अज्ञान है। क्योंकि आत्मा के उत्पन्न होने वाले रागद्वेष का कारण अपने ही अशुद्ध परिणाम है। अन्य द्रव्य तो निमित्त मात्र हैं। परमार्थ में आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य निमित्त की अपेक्षा बिना नित्य अभेद एक रूप है। उसमे ऐसी स्वच्छता है कि दर्पण की भांति जब जैसा निमित्त मिलता है वैसा स्वयं परिणमन करता है, उसको अन्य कोई परिणमाता नही है। किन्तु जिनको आत्मस्वरूप का ज्ञान नही है, वे ऐसा मानते है कि आत्मा को परद्रव्य जैसा चाहे, यह परिणमन करता है। यह मान्यता अज्ञानपूर्ण है क्योंकि जिसे पुरुषार्थ का पता होगा, वही अन्य द्रव्य की क्रिया को बदलकर उसे शक्ति-हीन कर सकता है; परन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमन मे स्वतन्त्र है। उनको मूल रूप से बनाने और मिटाने का भाव करना कर्तृत्व रूप अहंकार है, घोर अज्ञान[3] है।

जैन दर्शन कहता है कि एकान्त से द्वैत या अद्वैत नही माना जा सकता है। किन्तु लोक मे पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ इहलोक-परलोक, अन्धकार-प्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्ष का होना पाया जाता है, अतः व्यवहार से मान लेना चाहिए। यह कथन भी उचित नही है कि कर्मद्वैत, लोकद्वैत आदि की कल्पना अविद्या के निमित्त से होती है क्योंकि विद्या अविद्या और बन्ध मोक्ष की व्यवस्था अद्वैत में नही हो सकती है। हेतु के द्वारा यदि अद्वैत की सिद्धि की जाए, तो हेतु तथा साध्य के सद्भाव में द्वैत की भी सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार हेतु के बिना यदि अद्वैत की सिद्धि की जाये, तो वचपन मात्र से द्वैत की सिद्धि हो जाती है[4]। अतएव किसी अपेक्षा से द्वैत को और किसी अपेक्षा से अद्वैत को माना जा सकता है; किन्तु वस्तु-स्थिति वैसी होनी चाहिए क्योंकि आत्मद्रव्य परमार्थ से बन्ध और मोक्ष मे अद्वैत का अनुसरण करने वाला है। इसी विचार-सरणि के अनुरूप परमार्थोन्मुखी होकर व्यवहार मार्ग मे प्रवृत्ति का उपदेश किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है— साधु पुरुष सदा सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का सेवन करें। परमार्थ मे इन तीनों को आत्मस्वरूप ही जाने[5]। परमार्थ या निश्चय अभेद रूप है और व्यवहार भेद रूप है। जिनागम का समस्त विवेचन परमार्थ और

---

१. ववहारादो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराधणाकाले॥
नयचक्र, गा० २४२

२. वदसमिदीगुत्तिओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥
समयसार, गा० २७३

३. अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं,
स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा ज्ञानं दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया,
गां दोग्धमिव नूनमसौ रसालाम्॥
—समयसार कलश श्लो० ५७

४. कर्मद्वैतं फलद्वैतं च नो भवेत्।
विद्या विद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥
आप्तमीमांसा प० २, का० २५—२६

५. दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥
समयसार, गा० १६

व्यवहार—दोनों प्रकार से किया गया है। ये ही दोनों अनेकान्त के मूल है।

साधना : क्रम व भेद

जिस प्रकार ज्ञान, ज्ञप्ति, ज्ञाता और ज्ञेयका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकार से साधन, साधना, साधक और साध्य का भी विचार किया गया है। साधन से ही साधना का क्रम निश्चित होता है। साधना का निश्चय साध्य-साधक सबंध से किया जाता है। सबध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर निश्चित किया जाता है। जहाँ पर अभेद प्रधान होता है और भेद गौण अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की प्रत्यासत्ति होती है, उसे संबध कहते हैं। स्वभाव मात्र स्वस्वामित्वमयी संबंध शक्ति कही जाती है। साधना के मूल में यही परिणमनशील लक्षित होती है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य मात्र का साध्य कर्म क्लेश से मुक्ति या आत्मोपलब्धि है। अपने असाधारण गुण से युक्त स्व-पर प्रकाशक आत्मा स्वयसाधक है। दूसरे शब्दो से शुद्ध आत्मा की स्वतः उपलब्धि साध्य है और अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मद्रव्य निर्मल ज्ञानमय है जो परमात्मा रूप है[1]। इस प्रकार साध्य को सिद्ध करने के लिए जिन अंतरग और बहिरंग निमित्तों का आलम्बन लिया जाता है, उनको साधन कहा जाता है और तद्रूप प्रवृत्ति को साधना कहते हैं। जैनधर्म की मूलधुरी वीतरागता की परिणति में जो निमित्त होता है, उसे ही लोक मे साधन या कारण कहा जाता है। वीतरागता की प्राप्ति मे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व तप साधन कहे जाते हैं। इनको ही जिनागम में आराधना नाम दिया गया है[2]। आराधना का मूल सूत्र है— वस्तु-स्वरूप की वास्तविक पहचान। जिसे आत्मा की पहचान नही है, वह वर्तमान तथा अनुभूयमान शुद्ध दशा का बोध नहीं कर सकता। अतएव सकर्मा तथा अबन्ध—दोनों ही दशाओं का वास्तविक परिज्ञान कर साधक भेद-विज्ञान के बल पर मुक्ति की आराधना के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

जैनधर्म की मूलधारा वीतरागता से उपलक्षित वीतराग परिणति है। उसे लक्षकर जिस साधना-पद्धति का निर्वचन किया गया है, वह एकान्ततः न तो ज्ञानप्रधान है, न चारित्रप्रधान और न केवल मुक्ति-प्रधान। वास्तव मे इसमे तीनों का सम्यक् समन्वय है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि यह सम्यक् दर्शन-ज्ञानमूलक चारित्र प्रधान साधन-पद्धति है। यथार्थ मे चारित्र पुरुष का दर्पण है। चारित्र के निर्मल दर्पण मे ही पुरुष का व्यक्तित्व सम्यक् प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। वास्तव में चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है—ऐसा जिनागम मे कहा गया है। मोह, राग-द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है[3]। जिस गुण के निर्मल होने पर अन्य द्रव्यों से भिन्न सच्चिदानन्द विज्ञानघनस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्म-चैतन्य की प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभाव रूप से भेद-विज्ञान युक्त जो है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष व योगों की निवृत्ति पूर्वक स्वात्म-स्वभाव में संलीन होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों साधन क्रम से पूर्ण होते है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है, तदनन्तर सम्यग्ज्ञान की अन्त में सम्यक्-चारित्र में पूर्णता होती है। अतएव इन तीनो की पूर्णता होने पर ही आत्मा विभाव-भावो तथा कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर पूर्ण विशुद्धता को उपलब्ध होता है। यही कारण है कि ये तीनो मिल कर मोक्ष के साधन माने गए हैं। इनमे से किसी एक के भी अपूर्ण रहने पर मोक्ष नहीं हो सकता।

जैनधर्म विशुद्ध आध्यात्मिक है। अतः जैन साधु-सन्तों की चर्या भी आध्यात्मिक है। किन्तु अन्य सन्तों से इनकी विलक्षणता यह है कि इनका अध्यात्म चरित्र निरपेक्ष नही है। जैन सन्तों का जीवन अथ से इति तक परमार्थ चारित्र से भरपूर है। उनकी सभी प्रवृत्तियाँ व्यवहार चारित्र

---

१. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं म करि भेउ॥

परमात्मकप्रकाश, १, २६

२. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंस [illegible] तवाणमाराहणा भणिदा॥

भगवती आराधना, अ० १, गा० २

३. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

प्रवचनसार, गा० ७

होती हैं। दूसरे शब्दों में जैन सन्त समन्वय और समता के आदर्श होते हैं। उनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वय तथा सुख-दुःखादि परिस्थितियों मे समताभाव लक्षित होता है। उनका चारित्र राग-द्वेष, मोह से रहित होता है इस प्रकार अन्तरग और बहिरग—दोनो से आराधना करते हुए जो वीतराग चारित्र के अविनाभूत निज शुद्धात्मा की भावना करते है उन्हे साधु कहते है[१]। उत्तम साधु स्वसंवेदनगम्य परम निर्विकल्प समाधि मे निरत रहते हैं। ज्ञानानन्द स्वरूप का साधक साधु आत्मानन्द को प्राप्त करता ही है। अतः सर्व क्रियाओं से रहित साधु को ज्ञान का आश्रय ही शरणभूत होता है। कहा भी है—जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभाव मे स्थित नही है, वे भले ही व्रत, संयम रूप तप आदि का आचरण करते रहे, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग उनसे दूर है। क्योंकि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ क्रियाओं का निषेध कर देने पर कर्मरहित शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होने पर साधु आश्रयहीन नही होते। निष्कर्म अवस्था मे भी स्वभाव रूप निर्विकल्प ज्ञान ही उनके लिए मात्र शरण है। अतः उस निर्विकल्प ज्ञान मे तल्लीन साधु-सन्त स्वयं ही परम सुख का अनुभव करते है[२]। दुःख का कारण आकुलता है और सुख का कारण है—निराकुलता। प्रश्न यह है कि आकुलता क्यों होती है? समाधान यह है कि उपयोग के निमित्त से आकुलता-निराकुलता होती है। उपयोग क्या है? ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार उपयोग है। यह चेतन मे ही पाया जाता है, अचेतन मे नही क्योंकि चेतना शक्ति ही उपयोग का कारण है। अनादि काल से उपयोग के तीन प्रकार के परिणाम आत्मा की स्वच्छता का विकार है। किन्तु मोह के निमित्त से यह जैसा-जैसा परिणमन करती है, वैसी-वैसी परिणति पाई जाती है। जिस प्रकार स्फटिक मणि श्वेत तथा स्वच्छ होती है, किन्तु उसके नीचे रखा हुआ कागज लाल या हरा होने से वह मणि भी लाल या हरी दिखलाई पड़ती है, इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव में शुद्ध, निरञ्जन चैतन्यस्वरूप होने पर भी मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अव्रत—इन तीन उपयोग रूपों मे अनादि काल से परिणत हो रही है। ऐसा नही है कि पहले इसका स्वरूप शुद्ध था, कालान्तर मे अशुद्ध हो गया हो। इस प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति तीन प्रकार के परिणाम—विकार समझना चाहिए[३]। इनसे युक्त होने पर जीव जिस-जिस भाव को करता है, उस उस भाव का कर्ता कहा जाता है। किन्तु प्रवृत्ति मे चेतन-अचेतन भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए इन दोनों को एक मानना अज्ञान है और जो इन्हें (पर पदार्थों को) अपना मानते हैं, वे ही ममत्व बुद्धि कर अहकार—ममकार करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृत्व तथा अहंकार के मूल मे भोले प्राणियों का अज्ञान ही है। इसलिये जो ज्ञानी है, वह यह जाने कि पर द्रव्य मे आपा मानना ही अज्ञान है। ऐसा निश्चय कर सर्व कर्तृत्व का त्याग कर दे[४]। वास्तव मे जैन साधु किसी का भी, यहाँ तक कि भगवान को भी अपना कर्ता नहीं मानता है। कर्म की धारा को बदलने वाला वह परम पुरुषार्थी होता है। सतत ज्ञान-धारा मे लीन होकर वह अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल कर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्म-स्वभाव का वेदन करता हुआ जो अपने में ही

१. "अभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तर मोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति।"

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ५४ की व्याख्या

तथा—

दसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥

२. निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्
स्वयं विन्दन्त्येते परममृत तत्र निरताः॥

समयसारकलश श्लोक १-४।

३. उवओगस्स अणाइ परिणामा तिण्णिमोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाण अविरदिभावो य णायव्वो॥

समयसार, गा० ८९

४. एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं॥

वही, गा० ९७

अचल व स्थिर हो जाता है, अपने स्वभाव से हटता नही है, वही साधु मोक्ष को उपलब्ध होता है।

जैन साधु का अर्थ है—इन्द्रियविजयी आत्म-ज्ञानी। ऐसे आत्मज्ञानी के दो ही प्रमुख कार्य बतलाए है—ध्यान और अध्ययन। इस भरत क्षेत्र मे वर्तमान काल मे साधु के धर्म ध्यान होता है। यह धर्मध्यान उस मुनि के होता है जो आत्मस्वभाव में स्थित है। जो ऐसा नही मानता है, वह अज्ञानी है, उसे धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नही है[1]। जो व्यवहार को देखता है, वह अपने आपको नही लख सकता है। इसलिये योगी सभी प्रकार के व्यवहार को छोड़ कर परमात्मा का ध्यान करता है। जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह आत्मस्वरूप-चर्या मे जगता है। किन्तु जो व्यवहार म जागता है, वह आत्मचर्या मे सोता रहता है[2]। स्पष्ट है कि साधु के लौकिक व्यवहार नही है और यदि है, तो वह साधु नहीं है। धर्म का व्यवहार सघ मे रहना, महाव्रतादिक का पालन करने मे भी वह उस समय तत्पर नहीं होता। अत: सब प्रवृत्तियो की निवृत्ति करके आत्मध्यान करता है। अपने आत्म-स्वरूप में लीन होकर वह देखता जानता है कि परम-ज्योति स्वरूप सच्चिदानन्द का जो अनुभव है, वही मैं हूं अन्य सबसे भिन्न हूं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—जो मोह दल का क्षय करके विषय से विरक्त हो कर मन का निरोध कर स्वभाव मे समवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है[3]। जो आत्माश्रयी प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करता है, उसके ही परद्रव्य-प्रवृत्ति का अभाव होने से विषयों की विरक्तता होती है। जैसे समुद्र में एकाकी संचरणशील जहाज पर बैठे हुए पक्षी के लिए उस जहाज के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रयभूत स्थान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान-ध्यान से विषय-विरक्त शुद्ध चित्त के लिए आत्मा के सिवाय किसी द्रव्य का आधार नहीं रहता। आत्मा के निर्विकल्प ध्यान से ही मोह-ग्रन्थि का भेदन होता है। मोह—गांठ के टूटने पर फिर क्या होता है? इसे ही समझाते हुए आचार्य कहते है—जो मोह-ग्रन्थि को नष्ट कर राग-द्वेष का क्षय कर सुख-दुख मे समान होता हुआ श्रामण्य या साधुत्व में परिणमन करता है, वही अक्षय सुख को प्राप्त करता है[4]।

जिनागम मे श्रमण या सन्त दो प्रकार के बताये गए है—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। जो अशुभ प्रवृत्तियों से राग तो नही करते, किन्तु जिनके व्रतादि रूप शुभ प्रवृत्तियो मे राग विद्यमान है वे सराग चारित्र के धारक श्रमण कहे गए है। परन्तु जिनके किसी भी प्रकार का राग नही है, वे वीतराग श्रमण है[5]। किन्तु यह निश्चित है कि समभाव और आत्मध्यान की चर्या पूर्वक जो साधु वीतरागता को उपलब्ध होता है, वही कर्म-क्लेशो का नाश कर सच्चा सुख या मोक्ष प्राप्त करता है, अन्य नही। इस सम्बन्ध मे जिनागम का सूत्र यही है कि रागी आत्मा कर्म बांधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। निश्चय से जीवों के बन्ध का संक्षेप यही जानना चाहिए[6]। इसका अर्थ यही है कि चाहे गृहस्थ हो या सन्त, सभी राग-द्वेष के कारण संसार-चक्र म आवर्तन करते है और जब राग से छूट जाते है, तभी मुक्ति के द्वार पर पहुँचते हैं। केवल साधु-सन्त का भेष बना लेने से या बाहर से दिखने वाली सन्तोचित क्रियाओं के पालन मात्र से कोई सच्चा श्रमण-सन्त नही कहा जा सकता। जिनागम क्या है? यह

१. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी॥
—मोक्षपाहुड, गा० ७६

२. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥
—मोक्षपाहुड, गा० ३१

३. जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरु भित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पणं हवदि झादा॥
प्रवचनसार, गा० १९६

४. जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥
वही, गा० १९५

५. असुहेण रायरहिओ वयाइयरायेण जो हु संजुत्तो।
सो इह भणिय सराओ मुक्को दोहणं पि खलु इयरो॥
नयचक्र, गा० ३३१

६. रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहि रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥
प्रवचनसार, गा० १७९

समझाते हुए जब यह कहा जाता है कि जो विशेष नहीं समझते हैं, उनको इतना ही समझना चाहिए कि जो वीतराग का आगम है उसमें रागादिक विषय-कषाय का अभाव और सम्पूर्ण जीवों की दया-ये दो प्रधान हैं। फिर, हिंसा का वास्तविक स्वरूप ही यह बताया गया है कि जहाँ-जहाँ राग-द्वेष भाव हैं, वहाँ-वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नही है। श्रमण-सन्त तो धर्म की मूर्ति कहे गए हैं। वे पूज्य इसीलिए हैं कि उनमें धर्म है। धर्म का आविर्भाव शुद्धोपयोग की स्थिति मे ही होता है जो वीतराग चारित्र से युक्त साक्षात् केवलज्ञान को प्रकट करने वाली होती है। यथार्थ मे निश्चय ही साध्य स्वरूप है। यही कहा गया है कि बाह्य और अन्त: परमतत्व को जान कर ज्ञान का ज्ञान मे ही स्थिर होना निश्चय ज्ञान है[1]। यथार्थ में जिस कारण से पर द्रव्य में राग है, वह ससार का ही कारण है। उस कारण से ही मुनि नित्य आत्मा मे भावना करते है, आत्मस्वभाव में लीन रहने की भावना भाते है[2]। क्योंकि परद्रव्य से राग करने पर राग का संस्कार दृढ़ होता है और वह वासना की भाँति जन्म-जन्मान्तरों तक संयुक्त रहता है। वीतराग की भावना उस सस्कार को शिथिल करती है, उसकी आसक्ति से चित्त परावृत्त होता है और आसक्ति से हटने पर ही जैन साधु की साधना प्रशस्त होती है। आचार्य समन्तभद्र ने अत्यन्त सरल शब्दो मे जैन साधु के चार विशेषणो का निर्देश किया है – जो विषयो की वांछा से रहित, छह काय के जीवों के घात के आरम्भ से रहित, अन्तरंग और बहिरग परिग्रह से रहित, छह काय के जीवों के घात के आरम्भ से रहित, अन्तरग और बहिरग परिग्रह से रहित तथा ज्ञान-ध्यान-तप मे लीन रहते है, वे ही तपस्वी प्रशसनीय है[3]। इस प्रकार अध्यात्म और आगम—दोनों की परिपाटी मे जैन सन्त को ध्यान व अध्ययनशील बतलाया है। ध्यान से ही मन, वचन और काय—इन तीनों योगों का निरोध होकर मोह का विनाश हो जाता है।

जैन-परम्परा में संसार का मूल कारण मोह कहा गया है। मोह के दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शन मोह के कारण ही इस जीव की मान्यता विपरीत हो रही है। सम्यक् मान्यता का नाम ही सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के कारण ही यह जीव संसार में अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। अतएव इनसे छूट जाने का नाम ही मुक्ति है। मुक्ति किसी स्थान या व्यक्ति का नाम नही है। यह वह स्थिति है जिसमे प्रतिबन्धक कारणो के अभाव से व्यक्त हुई परमात्मा की शक्ति अपने सहज, स्वाभाविक रूप मे प्रकाशित होती है। दूसरे शब्दो मे यह आत्मस्वभावा रूप ही है।[4] इस अवस्था मे न तो आत्मा का अभाव होता है और न उसके किसी गुण का नाश होता है और न ससारी जीव की भाँति इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति होती है किन्तु समस्त लौकिक सुखों से परे स्वाधीन तथा अनन्त चतुष्टययुक्त हो अक्षय, निरावस, सतत अवस्थित सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्थिति बनी रहती है।

आध्यात्मिक उत्थानों के विभिन्न चरण

वर्तमान मे यह परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप से दो मुख्य सम्प्रदायो मे प्रचलित है। दोनो ही सम्प्रदायों के साधु-सन्त मूलगुणो तथा छह आवश्यकों का नियम से पालन करते है। दिगम्बर-परपरा मे मूल गुण अट्ठाईस माने गए हैं, किन्तु श्वेताम्बर-परंपरा मे मूल गुणों की संख्या छह है। दोनो ही परंपराएँ साधना के प्रमुख चार चार अंगो (सम्यक्दर्शन-ज्ञान चारित्र और तप) को समान रूप से महत्त्व देती हैं। इसी प्रकार दर्शन के आठ अंग ज्ञान के पाँच अंग, चारित्र के पाँच अंग और तप की साधना के बारह अंग दोनों में समान हैं। तप के अन्तर्गत

१. बहितरग परमतच्चं णच्चा णाणं खु ज ठिय णाणे।
तं इह णिच्छयणाणं पुव्व तं मुणह ववहारं॥
नयचक्र, गा० ३२७

२. जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणवि जोइओ णिच्च कुज्जा अप्पे समावणं॥
—मोक्षपाहुड, गा० ७१

३. विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १, १०

४. जं अप्पसहावो मूलोत्तरपायडिसंचिय मुयइ।
त मुक्खं अविरुद्धं दुविहं खलु दव्वभावगम॥
नयचक्र, गा० १५८

बाह्य और अन्तरंग—दोनों प्रकार के तपों को दोनों स्वीकार करते हैं। बहिरंग तप के अन्तर्गत काय-क्लेश को भी दोनों महत्त्वपूर्ण मानती हैं। दश प्रकार की समाचारी भी दोनों में लगभग समान है। समाचार या समाचारी का अर्थ है—समताभाव। किन्तु दोनों की चर्याओं में अन्तर है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि श्रमण-सन्तों के लिए प्रत्येक चर्या, समाचारी, आवश्यक कर्म तथा साधना के मूल मे समता भाव बनाये रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार मोह आदि कर्म के निवारण के लिए ध्यान-तप अनिवार्य माना गया है।

यह निश्चय है कि भारत की सभी धार्मिक परम्पराओ ने साधु-सन्तों के लिए परमतत्व के साक्षात्कार हेतु आध्यात्मिक उत्थान की विभिन्न भूमिकाओ का प्रतिपादन किया है। बौद्ध दर्शन म छह भूमियों का वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—अन्धपृथग्जन, कल्याणपृथग्जन, श्रोतापन्न, सकृदागमी, औपपातिक या अनागामी और अर्हत्। वैदिक परम्परा में महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन म चित्त की पाँच भूमिकाओं का निरूपण किया है। वे इस प्रकार हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। वही एकाग्र के वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत चार भेदो का वर्णन है। निरुद्ध के पश्चात् कैवल्य या मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। "योगवाशिष्ठ" मे चित्त की चौदह भूमिकाएँ बताई गई हैं। आजीविक सम्प्रदाय मे आठ पेड़ियो के रूप मे उनका उल्लेख किया गया है, जिनमे से तीन अविकास की तथा पाँच विकास की अवस्था की द्योतक हैं। उनके नाम है— मन्दा, खिड्डा, पदवीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। जैन-परम्परा मे मुख्य रूप से ज्ञान धारा का महत्त्व है—क्योंकि सत्य के साक्षात्कार हेतु उसकी सर्वतोमुखेन उपयोगिता है। जिनागम परम्परा में ज्ञान को केन्द्र मे स्थान दिया है। अत. एक ओर ज्ञान सत्य की मान्यता से संयुक्त है और दूसरी ओर सत्य की मूल प्रवृत्ति स सम्बद्ध है। इसे ही आगम मे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय कहा गया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना मे विवेक की जागृति आवश्यक है। आत्मानुभूति से लेकर स्वसंवेद्य निर्विकल्प ज्ञान की सतत धारा किस प्रकार केवल ज्ञान की स्थिति को उपलब्ध करा देती है - यही संक्षेप मे जैन अवस्थाओं के आधार पर चौदह गुणस्थानों के रूप में विशद एवं सूक्ष्म विवेचित किया है जो जैन गणित के आधार पर ही भली-भाँति समझा जा सकता है। इन सबका साराश यही है कि चित्त के पूर्ण निरोध होते ही साधक एक ऐसी स्थिति मे पहुंच जाता है जहाँ साधन साध्य और साधक मे कोई भेद नही रह जाता। इस स्थिति में ध्यान की सिद्धि के बल पर योगी अष्टकर्म रूप माया का उच्छेद कर अद्वितीय परब्रह्म को उपलब्ध हो जाता है जो स्वानुभूति रूप परमानन्द स्वरूप है। एक बार परम पद को प्राप्त करने के पश्चात् फिर यह कभी माया से लिप्त नहीं होता और न इसे कभी अवतार ही लेना पडता है। अपनी शुद्धात्मपरिणति को उपलब्ध हुआ श्रमणयोगी स्वानुभूति रूप परमानन्द दशा में अनन्त काल तक निमज्जित रहता है। श्रमण-सन्तों की साधना का उद्देश्य शुद्धात्म तत्त्व रूप परमानन्द की स्थिति को उपलब्ध होना कहा जाता है। उनके लिए परमब्रह्म ही एक उपादेय होता है, शुद्धात्म तत्त्वरूप परब्रह्म के सिवाय सब हेय है। इसलिये उपादेयता की अपेक्षा परमब्रह्म अद्वितीय है। शक्ति रूप से शुद्धात्मस्वरूप जीव और अनन्त शुद्धात्माओं के समूहरूप परब्रह्म मे अंश-अंशी सम्बन्ध है परब्रह्म में अंश-अंशी सम्बन्ध है। परब्रह्म को उपलब्ध होने ही वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनमे और परब्रह्म में कोई अन्तर नही रहता है। यही इस साधना का चरम लक्ष्य है।

सन्तों की अविछिन्न परम्परा

सक्षेप मे, जैन श्रमण-सन्तों की परम्परा आत्मवादी तप-त्याग की अनाद्यन्त प्रवहमान वह धारा है जो अतीत, अनागत और वर्तमान का भी अतिक्रान्तकर सतत त्रैकालिक विद्यमान है। भारतीय सन्तों की साधना-पद्धति मे त्याग का उच्चतम आदर्श, अहिंसा का सूक्ष्मतम पालन, व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास तथा संयम एवं तप की पराकाष्ठा पाई जाती है। साधना की शुद्धता तथा कठोरता के कारण छठी शताब्दी के पश्चात् भले ही इसके अनुयायिओ की संख्या कम हो गई हो, किन्तु आज भी इसकी गौरव-गरिमा किसी भी प्रकार क्षीण नहीं हुई है। केवल इस देश में ही नही, देशान्तरों मे भी जैन सन्तो के विहार करने के

उल्लेख मिलते है। पालि-ग्रन्थ "महावंश" के अनुसार लंका में ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दी में निर्ग्रन्थ साधु विद्यमान थे। सिंहल नरेश पाण्डुकामयने अनुरुद्धपुर में जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने धर्म-प्रचार करते हुए वृकार्थक, वाह्लीक, यवन, गन्धार, क्वाथतोय, समुद्रवर्ती देशो एव उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण एव प्रच्छाल आदि देशों मे विहार किया था। यह एक इतिहासप्रसिद्ध घटना मानी जाती है कि सिकन्दर महान् के साथ दिगम्बर मुनि कल्याण एवं एक अन्य दिगम्बर सन्त ने यूनान के लिए विहार किया था। यूनानी लेखकों के कथन से बेक्ट्रिया और इथोपिया देशों मे श्रमणो के विहार का पता चलता है। मिश्र मे दिगम्बर मूर्तियों का निर्माण हुआ था। वहाँ की कुमारी सेन्टमरी आर्यिका के भेष मे रहती थी[२]। भृगु कच्छ के श्रमणाचार्य ने एथेन्स मे पहुंच कर अहिंसा धम का प्रचार किया था। हुएनसांग के वर्णन से स्पष्ट रूप स ज्ञात होता है कि सातवी शताब्दी तक दिगम्बर मुनि अफगानिस्तान म जैनधर्म का प्रचार करत रह है[३]। डा० एफ० मूर का कथन है कि ईसा की जन्म शती के पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन म जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ो की सख्या मे चारो ओर फैलकर अहिंसा का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों व जंगलो म उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान और त्याग के लिए प्रसिद्ध थे जो वस्त्र तक नही पहनते थे[४]। मेजर जनरल जे० जी० आर० फर्लांग ने भी अपनी खोज मे बताया है कि ओकसियन केस्पिया एव बलख तथा समरकन्द के नगरो मे जैनधर्म के केन्द्र पाए गए है, जहाँ से अहिंसा धर्म का प्रचार एव प्रसार होता था[५]। वर्तमान म भी मुनि सुशीलकुमार तथा भट्टारक चारुकीर्ति के समान सन्त इस जीवित रखे हुए है।

विगत तीन सहस्र वर्षो मे जैनधर्म का जो प्रचार व प्रसार हुआ, उसमे वैश्यों से भी अधिक ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो का योगदान रहा है। भगवान महावीर के पट्टधर शिष्यो में ग्यारह गणधर थे जो सभी ब्राह्मण थे। जैनधर्म की परम्परा के प्रवर्तक जिन चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन मिलता है, उससे निश्चित है कि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। केवल तीर्थंकर ही नही, समस्त शलाकापुरुष क्षत्रिय कहे जाते है। प्रत्येक कल्प काल मे तिरेसठ शलाका के पुरुष होते है। इसी प्रकार जैनधर्म के प्रतिपालक अनेक चक्रवर्ती महाराजा हुए। जहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं ने इस देश की अखण्डता को स्थापित कर शान्ति की दुन्दुभि बजाई थी, वही महाराजा बिम्बसार (श्रेणिक), सम्राट चन्द्रगुप्त, मगधनरेश सम्प्रति, कलिंगनरेश खारबेल, महाराजा आषाढ़सेन, अविनीत गग, दुर्विनीत गंग, गंगनरेश मारसिंह, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, महारानी कुन्दब्बे, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, कोलुत्तुंग, चोल, साहसतुग, त्रैलोक्यमल्ल, आहवमल्ल, बोप्पदेव, कदम्ब, सेनापति गग-राज, महारानी भीमादेवी, दण्डनायक बोप्प और राजा सुहेल आदि ने भी इस धर्म का प्रचार व प्रसार किया है। पाँचवी-छठी शताब्दी के अनेक कदबवंशी राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। राष्ट्रकूट-काल मे राज्याश्रय के कारण इस धर्म का व्यापक प्रचार व प्रसार था। अनेक ब्राह्मण विद्वान् जैनदर्शन की विशेषताओ से आकृष्ट होकर जैन-धर्मावलम्बी हुए। मूलसघ के अनुयायी ब्रह्मसेन बहुत बड़े विद्वान् तथा तपस्वी थे। 'सन्मतिसूत्र' तथा 'द्वात्रिंशिकाओं' के रचयिता सिद्धसेन ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे जो आगे चल कर प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। वत्सगोत्री ब्रह्मशिव ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन कर 'समय परीक्षा' ग्रन्थ की रचना की जो बारहवी शताब्दी की रचना है। भारद्वाज गोत्रीय आचण्ण 'वर्द्धमानपुराण' के रचयिता बारहवी शताब्दी के कवि थे। दसवी शताब्दी के अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि धवलका जन्म भी विप्रकुल में हुआ था। कुतीर्थ और कुधर्म से चित्त विरक्त होने पर उन्होने जैनधर्म का आश्रय लिया और 'हरिवंशपुराण' की रचना की। दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य कर्नाटक-देशीय पूज्यपाद का जन्म भी ब्राह्मणकुल में हुआ था। इस प्रकार से अनेक विप्र साधको ने वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कर जैन साधना-पद्धति को अंगीकार किया था। □□□

शासकीय महाविद्यालय, नीमच (म० प्र०)

१ आचार्य जिनसेन : हरिवंशपुराण, ३, ३-७

२. डा० कामताप्रसाद जैन : दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, द्वितीय संस्करण, पृ० २४३

३. ठाकुरप्रसाद शर्मा : हुएनसांग का भारत भ्रमण, इन्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२९, पृ० ३७

४. हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४

५. साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स, इन्ट्रोडक्शन, १९९७, पृ० ८

षड्-द्रव्य में काल-द्रव्य

मुनि श्री विजयमुनि शास्त्री

षड्-द्रव्य में काल :

जैन-आगम-साहित्य मे लोक को षड्-द्रव्यात्मक कहा है। षड्-द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल में सम्पूर्ण लोक मे स्थित समस्त पदार्थ समाविष्ट हो जाते है। दुनिया में, विश्व मे ऐसा एक भी पदार्थ शेष नही रहता, जो षड्-द्रव्य से बाहर रहता हो। षड्-द्रव्यों मे से काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों के लिए आगमों में पंचास्तिकाय शब्द का भी प्रयोग मिलता है। आचार्य श्री उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र मे और आचार्य कुंदकुंदने पचास्तिकायसार मे उक्त पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। अन्य आचार्यों ने भी इनके लिए अस्तिकाय कहा है। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेशों का समूह। पाँच द्रव्यों में धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशो से युक्त द्रव्य हैं। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त है। क्योंकि अलोक मे जो आकाश है, वह अनन्त प्रदेशी है और लोक मे स्थित आकाश असख्यात प्रदेशी है। इसलिए आकाश को सान्त भी कहा है और अनन्त भी। पुद्गलों के स्कन्धों का आकार एक जैसा नही है, उनके विभिन्न प्रकार है। इसलिए उनमें प्रदेशो की संख्या भी एक-सी नही है। परन्तु इन पाँच द्रव्यो की तरह काल द्रव्य भी स्वतन्त्र है, परन्तु वह प्रदेशों के समूह रूप नहीं है। अन्य द्रव्यो की तरह काल भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और लोक के एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहे हुए हैं। ये कालाणु अदृश्य (Invisible) हैं, आकार रहित हैं और निष्क्रिय (Inactive) हैं। आगमों में एवं द्रव्यसंग्रह तथा तत्त्वार्थसार आदि ग्रथो में एक उपमा देकर बताया है कि कालाणु रत्नों की राशि की तरह प्रत्येक आकाश प्रदेश पर रहे हुए हैं, और सख्या की दृष्टि से वे असख्य (Countless in number) है। रत्नों की राशि की तरह की उपमा केवल समझाने के लिए एवं यह बताने के लिए दी है कि जिस प्रकार रत्न परस्पर एक-दूसरे में नही मिलते, उसी प्रकार कालाणु भी एक-दूसरे में नही मिलते हैं। परन्तु रत्नों की तरह न तो उनका आकार ही होता है, और न उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ही होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—उन पदार्थों में होता है, जो मूर्त हैं, आकार प्रकार से युक्त हैं। इस प्रकार काल, प्रदेशों के समूह से रहित है। अतः उसे आगमों में अस्तिकाय नहीं कहा है।

जैन-दर्शन मे द्रव्य को सत् कहा है और सत् वह है—जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और सदा स्थित भी रहता है। उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य तीनों एक ही समय में होते है। इस प्रकार लोक में स्थित सभी द्रव्यों के उत्पादादि रूप परिणमन में अथवा उनके पर्यायान्तर होने में जो द्रव्य सहायक होता है, उसे 'काल-द्रव्य' कहते हैं। वह स्वयं अपनी पर्यायों मे परिणमन करते हुए, अन्य द्रव्यो के परिवर्तन या परिणमन में तथा उन द्रव्यों मे होने वाले उत्पाद, व्यय और स्थायित्व में सहायक होता है, निमित्त बनता है, माध्यम (Medium) बनता है और विश्व मे सैकेंड, मिनिट, घण्टा, दिन-रात, सप्ताह, महीना, वर्ष, युग, शताब्दी आदि व्यवहार रूप काल में निमित्त बनता है। यह धर्म-अधर्म द्रव्यों की तरह लोक-व्यापी एक अखण्ड द्रव्य नही है। क्योंकि समय-भेद की अपेक्षा से इसे प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक कालाणु के रूप मे अनेक माने बिना काल का व्यवहार हो नही सकता। क्योंकि भारत और अमरीका में दिन-रात एवं तारीख आदि का अलग-अलग व्यवहार उन-उन स्थानों के काल-भेद के कारण ही होता है। यदि काल एक अखण्ड द्रव्य होता, तो सर्वत्र सदा एक-सा ही समय रहता और दिन-रात भी सर्वत्र एक ही समय पर होते। एक और अखण्ड द्रव्य स्वीकार करने पर काल-भेद कथमपि संभव नही हो सकता। परतु काल-भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारत में

जिस समय दिन होता है, उस समय अमरीका में रात होती है, और जिस समय भारत में रात होती है, तब अमरीका में सूर्य चमकता है। २२ जून को जब भारत में चौदह घन्टे का दिन और दश घण्टे की रात होती है, तब नार्वे देश के ओखलो प्रदेश मे चौबीस घण्टे सूर्य की सुनहली धूप नजर आती है, और २२ दिसम्बर को जब भारत मे चौदह घण्टे की रात और दस घण्टे का दिन होता है, तब ओखलो चौबीस ही घण्टे रात्रि के अन्धकार में डूबा रहता है। जब वायुयान एवं पानी के जहाज यूरोप से भारत की ओर आते हैं या भारत से यूरोप की यात्रा पर जाते है, तब जिस समय वे भूमध्य रेखा पर पहुंचते हैं, उस समय तुरन्त वे अपनी-अपनी घड़ियों के समय और केलेण्डर की तारीख को बदल लेते है। इस प्रकार का भेद प्रधान व्यवहार काल को अखण्ड न मानकर खण्ड रूप मानने पर ही हो पाता है।

काल और समय :

आगम-साहित्य में काल के लिए दो शब्दों का प्रयोग मिलता है—काल और समय। काल स्थूल है और समय सूक्ष्म है। काल प्रवाह रूप है, समय प्रवाह से रहित है। काल अनन्त है और समय उसका सबसे छोटा हिस्सा है, जिसके दो भाग नहीं हो सकते। अतीत की अपेक्षा से अनन्त-काल व्यतीत हो चुका और अनागत की दृष्टि से अनन्त-काल धीरे-धीरे क्रमशः आने वाला है। परन्तु समय में भूत और भविष्य अथवा अतीत और अनागत के भेद को अवकाश ही नही है। समय, वर्तमान काल का बोधक है। वर्तमान काल मात्र एक समय का होता है। आगमो में समय का माप इस प्रकार बताया है-एक परमाणु को एक आकाश प्रदेश पर से दूसरे आकाश-प्रदेश पर जाने में जितना समय (Time) लगता है, वह एक समय है। इसे समझाने के लिए आचार्यों ने यह उदाहरण भी दिया है कि हमारी आंखो की पलकें झपकती रहती हैं, वे खुलती और बन्द होती रहती हैं। आंख के झपकने में अथवा खुलने और बन्द होने में जो समय लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं। दूसरा उदाहरण यह भी दे सकते हैं-कमल के हजार पत्तों को क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर रखकर एक तीक्ष्ण नोक वाली बड़ी सुई को उन पर रखकर जोर से दबाएं तो पलक झपकते ही या क्षण भर मे वह सुई हजारो कमल-पत्रों को छेद कर एक सिरे से दूसरे सिरे पर पहुंच जाती है। परन्तु जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार इस प्रक्रिया मे एक दो या दस-बीस नहीं, असंख्यात समय लगते है। समय इतना सूक्ष्म है कि हम उसे देख नही सकते। परमाणु रूपी है, मूर्त है, वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से युक्त है, फिर भी हम उसे आंखो से देख नही सकते। तब समय, जो कि अरूपी है, अमूर्त है और वर्णादि से रहित है, उसे तो हम तब तक देख नही सकते, जब तक सर्वज्ञ नहीं बन जाते। केवल ज्ञान में कोई भी पदार्थ एवं द्रव्य—भले ही वह कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो, अज्ञात नहीं रहता अदृश्य नहीं रहता अत: समय को हम देख नहीं सकते, पर सर्वज्ञ देख सकते है।

काल का लक्षण :

आगम मे काल का लक्षण 'वर्तना' कहा है।[1] जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में, परिवर्तन मे काल सहायक (Helper) द्रव्य है। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र मे कहा है कि जीव और पुद्गल पर वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि मे काल का उपकार है।[2] द्रव्य में परिवर्तन, परिणमन आदि जो कार्य होते है वे सब काल के निमित्त से होते हैं। गोम्मटसार में भी लिखा है कि द्रव्य काल के कारण ही निरन्तर अपने स्वरूप मे रहते हुए द्रवित होते है, प्रवाहमान रहते है। विश्व मे स्थित षड्-द्रव्यो में-जो सत् हैं, उनका सतत प्रवाह रूप में रहते हुए भी अपने स्वरूप में स्थित रहना और सभी द्रव्यो में निरंतर परिवर्तन होना—जो परिलक्षित होता है, वह काल के कारण ही होता है। यह काल द्रव्य का ही गुण है कि उसके कारण अन्य द्रव्यों में परिवर्तन (Change) होता है।[3] परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि काल (Time) कभी भी अन्य द्रव्यो में

---

१. वत्तना लक्खड़ो कालो। —उत्तराध्ययन सूत्र, २८.१०. २. तत्वार्थ सूत्र, ५ २२.
३. गोमट्टहार, जीवकाण्ड।

परिवर्तित नही होता और न वह अन्य द्रव्यो को अपने रूप में बदलता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने आप में स्वतंत्र है, वह अपने से भिन्न किसी भी द्रव्य में न स्वय मिलता है और न दूसरे द्रव्य को अपने रूप में परिणित करता है। कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्य को बदल नही सकता, उसमें परिवर्तन नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी ही पर्यायों में परिणमन करता है।

द्रवित होना, परिणमन करना यह द्रव्य का स्वभाव है। काल उस परिणमन एवं परिवर्तन में सहायक बनता है, निमित्त रूप मे रहता है। काल के कारण पदार्थ नये से पुराना होता है, पुरानेपन के बाद नष्ट होकर पुनः नया बनता है अर्थात् वस्तु का पूर्व आकार नष्ट होता है और वह नये आकार को ग्रहण करती है। परन्तु इससे द्रव्य का विनाश नही होता—वह दोनों आकारों में विद्यमान रहता है। जैसे आयु-कर्म का क्षय होने पर मनुष्य-पर्याय नष्ट होती है और देव आयु का उदय होने के कारण देव-पर्याय उत्पन्न होती है। परन्तु मनुष्य पर्याय के समय जो जीव-द्रव्य था, देव-पर्याय के समय भी उसका अस्तित्व बना रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य की पर्यायो के परिवर्तन में काल-द्रव्य सहायक है, परन्तु काल द्रव्य का निमित्त पाकर सभी द्रव्यों की पूर्व पर्याय का नाश होता है और उत्तर-पर्याय उत्पन्न होती है, इसके साथ द्रव्य अपने स्वरूप मे सदा विद्यमान रहता है। कर्मयोगी श्री कृष्ण ने भी गीता में यही कहा है कि आत्मा की न तो कभी मृत्यु होती है और न उसका जन्मोत्सव होता है। मृत्यु और जन्म भव का परिवर्तन मात्र है। जैसे वस्त्रों के जीर्ण होने पर व्यक्ति जीर्ण वस्त्र को उतार कर फेंक देता है और नये वस्त्र को धारण कर लेता है। उसी प्रकार आयु कर्म के समाप्त होते ही आत्मा एक भव के शरीररूप वस्त्र का परित्याग करके, दूसरे भवरूपी नये वस्त्र को धारण करती है। परन्तु भव-नाश के साथ आत्मा का नाश-विनाश नही होता। उसका अस्तित्व इस भव के पूर्व अनन्त अतीत काल में भी था, इस भव में वर्तमान में है और इस भव के अनन्तर अन्य भवों में अथवा अनन्त अनागत काल में भी रहेगा। चार्वाक-दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को तीनों काल मे स्वीकार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य अपने द्रव्यत्व अथवा अपने स्वरूप की अपेक्षा ध्रुव है, नित्य है, परन्तु पर्यायत्व की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहा है और अनन्त अनागत काल में भी परिवर्तित होता रहेगा।

काल अपने स्वभाव के अनुरूप किसी द्रव्य के प्रवाह को निरन्तर प्रवहमान करने की योग्यता नहीं रखता। द्रव्य को पर्यायों मे परिणत कराना यह काल का स्वभाव नही है। जैन दर्शन उसी द्रव्य को काल कहता है, जो द्रव्य अपने स्वभाव के अनुरूप अपनी पर्यायों में निरन्तर परिणत होता रहता है, उसमे सहायक बनना काल का कार्य है। जिस प्रकार मशीन के चक्र के मध्य मे लगी हुई कील (Pin) चक्र (Wheel) को चलाती नही है, फिर भी उसका होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। यदि चक्र में पिन न हो, सहायक के रूप में उसकी उपस्थिति न हो, तो चक्र घूम ही नही सकता। पिन चक्र को चलाती एवं घूमती नहीं है, पर उसके घूमने में वह सहायक अवश्य है। इसी प्रकार काल-द्रव्य, द्रव्य में होने वाले निरन्तर परिवर्तन में सहायक है। C. R. Jain ने Key of knowledge में लिखा है –

'विश्व मे ऐसा कोई दर्शन नही, जो पदार्थ में रहे हुए निरन्तरता के तत्त्व से अनभिज्ञ हो, फिर भी इस रहस्य एवं पहेली को हल करने में सफल नही हो सका। विश्व के अधिकाश दर्शन काल (Time) को केवल पर्यायवाची शब्द (Synonymous) के रूप में जानते हैं, परन्तु उसके वास्तविक स्वभाव (True nature) को समझने में वे प्रायः असफल (Fail) रहे है। आज भी बहुत से विचारक एवं दर्शन तो द्रव्यो के अस्तित्व की सूची के आधार पर काल की लम्बाई को नापते है, और उसे उसी रूप में जानते है। परन्तु वे इस बात को भूल जाते है कि सिर्फ काल के कारण पदार्थ निरन्तर अपनी पर्यायो में बहता रहता है, द्रवित होता रहता है और उसके आकार में भी परिवर्तन आता है। काल का प्रथम गुण यह है कि वह निरन्तर प्रवाह का स्रोत है, परिणमन में सहायक कारण है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि काल एक प्रकार की शक्ति है, जो पदार्थों में होने वाले परिवर्तन को क्रमबद्ध

रखती है।" फ्रेंच दार्शनिक बोसिन ने घोषणा की थी, "पदार्थों में जो क्रान्ति एवं परिवर्तन आता है, उसमें काल आवश्यक तत्त्व है। काल के बिना (Without time element) वस्तुओं में परिवर्तन होना पूर्णतः असंभव है।' जैन-दर्शन भी इस सत्य तथ्य को स्वीकार करता है कि काल-द्रव्य केवल समय-नापने का ही साधन या माध्यम नहीं है, उसका गुण एवं स्वभाव यह है कि द्रव्य के प्रवित होने में, परिणमन होने में एव द्रव्य की पर्यायों के परिवर्तन में सहायक होना।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता :

वैशेषिक-दर्शन अपने द्वारा मान्य नव द्रव्यो में काल को भी एक द्रव्य मानता है। उसकी मान्यता के अनुसार काल एक नित्य और व्यापक द्रव्य है। परन्तु यह मान्यता युक्ति-युक्त नहीं है, न तर्क सगत ही है और न अनुभव सिद्ध ही है। क्योंकि नित्य और एक होने के कारण उसमे स्वयं मे अतीत, वर्त्तमान और अनागत त्रि-काल बोधक भेद नही हो सकता और तब उसके निमित्त को माध्यम मानकर अन्य द्रव्यो एवं पदार्थों में अतीतादि भेदों को कैसे नापा जा सकता है? द्रव्य में जो परिणमन होता है, वह किसी समय में ही होता है, जो परिणमन हो चुका, वह भी किसी समय विशेष में हुआ था और जो परिणमन होगा, वह भी किसी समय विशेष में ही होगा। समय के बिना परिणमन को वर्तमान, अतीत और अनागत काल से संबद्ध कैसे कहा जा सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेश पर द्रव्यों में जो विलक्षण परिणमन हो रहे है, उसमे साधारण निमित्त काल है, वह अणु रूप है। उसका सबसे छोटा रूप समय है।

बौद्ध-दर्शन की मान्यता :

बौद्ध-दर्शन काल को स्वभाव सिद्ध स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता, उसकी मान्यता के अनुसार काल मात्र व्यवहार के लिए कल्पित है, वह प्रज्ञप्ति मात्र है।[1] परन्तु हम अतीत, वर्तमान और अनागत का जो व्यवहार करते हैं, वह केवल काल की कल्पना मात्र नही हो सकती। क्योकि मुख्य काल-द्रव्य के बिना हम उसका व्यवहार भी नही कर सकते। जैसे व्यक्ति में शेर का उपचार करते हैं, वह मुख्य शेर के सद्भाव में ही करते हैं। ठीक इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक व्यवहार से मुख्य काल का सद्भाव स्पष्ट सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों की तरह वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है और उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

काल के भेद :

हम काल को सैकिन्ड, मिनिट, घण्टे, दिन-रात, वर्ष आदि के रूप में जानते हैं। भत, भविष्य और वर्तमान के रूप में उसे तीन भागों में भी विभाजित करते है। आगमों में अन्य प्रकार से भी काल का विभाजन किया है—निश्चय-काल और व्यवहार-काल। व्यवहार-काल चन्द्र और सूर्य की गति पर आधारित है, उसी के अनुसार सैकण्ड, मिनिट, घण्टे, दिन-रात, पक्ष, महीना, वर्ष, युग, शताब्दी पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी आदि के रूप में काल-चक्र का विभाजन करते हैं। वैदिक परम्परा में सतयुग, द्वापर त्रेता एवं कलियुग आदि के रूप में व्यवहार-काल का वर्णन मिलता है। इस व्यवहार-काल की अपेक्षा से ही इसे मनुष्य क्षेत्र अथवा ढाई-द्वीप में ही माना है। व्यवहार-काल लोक-व्यापी नही है। क्योंकि जितने लोक में सूर्य और चन्द्र गतिशील है, उतने ही क्षेत्र में व्यवहार-काल का उपयोग होता है, उसके बाहर नही है। परन्तु लोक का एक भी ऐसा आकाश-प्रदेश नही है, जहाँ काल-द्रव्य न हो। व्यवहार-काल भले ही वहाँ न हो, निश्चय-काल लोक में सर्वत्र व्याप्त है।

जिसे हम काल कहते है, वह व्यवहार जगत की वस्तु है। परन्तु काल का जो सबसे छोटा अंश है, जिसके दो विभाग नही होते, उसे समय कहा है। एक परमाणु लोक-अवकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, उसमें जितना समय लगता है, उसे एक समय कहा है। समय, आश्चर्य जगत की वस्तु है। वह लोक में सर्वत्र व्याप्त है। लोक मे व्याप्त षड्-द्रव्यो की पर्यायों में प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, उसमें समय ही सहायक है। यदि समयरूप काल का ढाई-द्वीप या मनुष्य-क्षेत्र से बाहर अभाव मान लिया जाए, तो वहाँ किसी भी द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। क्योकि द्रव्य का स्वभाव ही

१. भट्टशालिनो, १, ३, १६.

ऐसा है कि वह अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए अपनी पर्यायों में द्रवित होता रहता है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, उसकी पुरातन पर्याय का नाश होता है और नयी पर्याय उत्पन्न होती है। परिणमन द्रव्य का स्वभाव है और समय के माध्यम के बिना वह कथमपि संभव नहीं है। अतः समय सर्वत्र व्याप्त है।

जैन-दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि समय रूप कालाणु असंख्यात प्रदेश वाले लोक-आकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है, सभी कालाणु स्वतन्त्र है, वे एक-दूसरे मे मिलते नही है। यदि एक कालाणु दूसरे कालाणु मे अथवा एक समय दूसरे समय में मिल जाए, तो फिर वे एक ही हो जाएँगे, उनमे अनेकत्व नही रहेगा। अतः स्वभाव से वे एक-दूसरे से अलग है। सम्पूर्ण विश्व कालाणुओ से परिपूर्ण है, लोक-आकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नही, जो इससे शून्य हो। पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से (In a static condition) ये कालाणु दृष्टिगत नही होते है, आकार रहित है, निष्क्रिय है और सख्या मे गिने नही जा सकते (Countless) है। इस प्रकार निश्चय काल सर्वत्र है और वह अनन्त है। क्योकि पर्यायो मे परिणमन अनन्त काल से होता आ रहा है, वर्तमान समय मे हो रहा है और अनन्त अनागत काल में होता रहेगा। पर्यायों में होने वाला परिवर्तन अनादि-अनन्त है, इस अपेक्षा से समय भी अनन्त है। समय का अस्तित्व अथवा काल-द्रव्य का अस्तित्व लोक में ही है, अलोक में नही। अलोक में केवल शुद्ध आकाश (Only purespace) है, फिर भी चारों ओर से लोक को घेरे हुए है, अतः उसके लिए भी यह प्रयोग किया जाता है कि अलोक में स्थित आकाश त्रिकालवर्ती है अनन्त समय से वह है और अनन्त समय तक रहेगा।

वैज्ञानिक दृष्टि में—काल :

जैन-दर्शन की तरह विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्यक्ष या व्यवहार-काल (Apparent-time) के पीछे निश्चय अथवा यथार्थ-काल (Real-Time) भी है। प्रो० एडिंगटन का कहना है—"Whatever may be time deJure)—जो कुछ भी हो काल नियमानुसार है।" ज्योतिष-विज्ञानवेत्ता रोयल का कहना है—"Time i. Time de-facto) काल कार्य से अथवा यथार्थ में काल है।" महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी काल को वास्तविक स्वीकार करता है और वह उसके अस्तित्व को सम्पूर्ण लोक मे मानता है। काल के सम्बन्ध में आइन्स्टीन की मान्यता यह है—"Time and spaca are mixed up in a rather strange way"—काल और आकाश वास्तव मे आश्चर्यजनक रास्ते से एक-दूसरे मे मिल गए है।"[1] वास्तव मे कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य मे नही मिलता है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें भी अपने से भिन्न दूसरी पर्याय मे नही मिलती। ससार अवस्था मे आत्मा और पुद्गल का संयोग सम्बन्ध एक-सा दिखाई देता है, फिर भी आत्मा का एक भी प्रदेश, एक भी गुण और एक भी पर्याय पुद्गल के परमाणुओं, उसके गुणों और उसके पर्याय मे नही मिलते है। अतः आकाश-द्रव्य न तो काल के रूप मे परिणत होता है और न काल-द्रव्य आकाश के रूप में। दोनो का परिणमन अपनी-अपनी पर्यायो मे ही होता है। फिर भी आकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नही है, जो कालाणु से शून्य हो। इस दृष्टि से काल आकाश मे मिला हुआ-सा परिलक्षित होता है। इस अपेक्षा से माना जाए, तो जैन-दर्शन भी इसे स्वीकार करता है कि आकाश का एक-एक प्रदेश न तो भूत काल मे कालाणु से शून्य रहा है, न वर्तमान मे वह कालाणु से शून्य है और न भविष्य में वह कालाणु से शून्य होगा।

काल, पुद्गल और जीव :

मैं आपको पहले बता चुका हूं कि षड्-द्रव्यों में जीव और अजीव, चेतन और जड़—दो द्रव्य मुख्य हैं। जीव के अतिरिक्त पाँचो द्रव्य अजीव है, अचेतन हैं। आगम में अजीव को दो प्रकार का बताया है—रूपी और अरूपी या मूर्त और अमूर्त। धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चारों द्रव्य अरूपी हैं, अमूर्त है। केवल पुद्गल-द्रव्य ही रूपी एवं मूर्त हैं। मैं अभी आपको काल के सम्बन्ध में बता रहा था कि अरूपी एव अमूर्त द्रव्यों की पर्यायों में जो परिणमन होता है, उसमें काल-द्रव्य सहायक है, परंतु

1. The Nature of the Physical world P. 36.

उसका सीधा असर जीव और पुद्गल पर होता है। व्यवहार काल का प्रभाव जीवों और पुद्गलो पर ही पड़ता है। इसलिए महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा है—"यदि विश्व में पदार्थ (Matter) नहीं होता, तो आकाश और काल—दोनों नष्ट हो जाते। पदार्थ के अभाव में हम काल और आकाश को स्वीकार नहीं करते। यह पदार्थ है, जिसमें से (Space) आकाश और (Time) काल प्रारम्भ होते हैं। और हमें इनसे विश्व (Universe) का बोध होता है। जैन-दर्शन इस बात को नही मानता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को उत्पन्न करता है। पदार्थ, जो कि मूर्त है, अपने से भिन्न काल एव आकाश द्रव्यो को कथमपि उत्पन्न नही कर सकता, जो कि अमूर्त है। भारतीय-दर्शन और उसमें विशेष रूप से जैन-दर्शन यह भी नही मानता कि काल एव आकाश का अस्तित्व एवं मूल्य पदार्थ (Matter) के कारण है। सभी द्रव्यो का अपना स्वतन्त्र मूल्य एव महत्व है। यदि विश्व मे किसी को सर्व-श्रेष्ठ स्थान दिया जाए, तो वह जीव है, जो अपने ज्ञान के द्वारा अपने से भिन्न द्रव्यो के स्वरूप का यथार्थ रूप से जानने का प्रयत्न करता है और उन्हे जान भी लेता है। परन्तु विज्ञान की इस बात से जैन-दर्शन सहमत है कि पदार्थ का अस्तित्व होने के कारण काल का स्वरूप क्या है, उसकी शक्ति क्या है? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है।

जीव-द्रव्य अमूर्त है और वह अपनी पर्यायो मे ही परिणमन करता है। उस परिणमन में काल सहायक है माध्यम मात्र है। परन्तु ससार अवस्था में राग-द्वेष आदि वैभाविक-भावों में परिणति होने के कारण आत्मा कर्मों से आबद्ध होकर चार गति एव चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। जब कार्माण-वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध होता है, उस समय प्रकृति, अनुभाग एव प्रदेश बन्ध के साथ स्थिति-बन्ध भी होता है और जितने काल की स्थिति का बन्ध होता है, उसी के अनुरूप कर्म उदय में आकर अपना फल देकर फिर आत्म-प्रदेशो से अलग हो जाता है। इसी प्रकार जिस भव का जितने समय का आयु-कर्म का बन्ध होता है, उतने समय तक आयु-कर्म का भोग करने के बाद उस भव का जीवन समाप्त हो जाता है। आयु-कर्म के क्षय होते ही उस भव की पर्याय का नाश हो जाता है और दूसरे भव के बान्धे हुए आयु-कर्म के अनुरूप उस भव की पर्याय उत्पन्न होती है। इसी को लोक-भाषा में मृत्यु कहते है और व्यक्ति सदा इससे भयभीत बना रहता है। रात-दिन व्यक्ति काल से, मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक भी व्यक्ति को मृत्यु से बचाने के लिए प्रयत्नशील । फिर भी वे अब तक उसमे सफल नहीं हो सके हैं। परन्तु जिस व्यक्ति ने अपने स्वरूप को जान लिया और जिसे स्व-रूप पर विश्वास है, वह मृत्यु से या काल से भयभीत नहीं होता। क्योंकि काल, पुद्गल के आकार में ही परिवर्तन करता है। आत्मा के अस्तित्व का नाश करने की ताकत काल मे नही है। वीतराग एवं प्रबुद्ध-साधक यह भली-भांति जानते हैं कि काल अपनी गति से चलता रहा है और चलता रहेगा। वह न तो कभी समाप्त हुआ है और न कभी समाप्त होगा। वह अपने स्वभाव के अनुरूप अपना कार्य करता है। परन्तु इसके निमित्त को पाकर जो मुझे भव-भ्रमण करना पड़ता है, उसका मूल कारण काल नही, प्रत्युत राग-द्वेष आदि वैभाविक भावो मे होने वाली मेरी परिणति ही है। विभाव से हटकर स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ, स्वरूप म रमण करता रहूं, तो उससे कभी भी बन्ध नही होगा और नये कर्मों के बन्ध के अभाव के कारण वर्तमान भव के आयु-कर्म का क्षय होने के बाद अन्य भवों की पर्याय भी उत्पन्न नही होगी। अतः परिणाम स्वरूप मृत्यु का स्वतः ही अन्त हो जायेगा।

वस्तुतः राग-द्वेष एव कषाय आदि विकारों के कारण आत्मा का पुद्गलों के साथ संयोग सम्बन्ध होने के कारण ही उसे ससार मे जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवाहमान होना पड़ता है। अतः काल को नष्ट करने का नहीं, प्रत्युत राग-द्वेष को हटाकर वीतराग-भाव, जो आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का निज गुण है, उसमें स्थिर होने का प्रयत्न करे। जितनी-जितनी राग-द्वेष की परिणति कम होगी, आत्मा उतनी ही जल्दी भव-भ्रमण के चक्र से मुक्त हो सकेगा। अतः काल के कारण मूर्त पुद्गलों के आकार-प्रकार मे परिवर्तन होता है। पुद्गल की स्थूलता एवं

(शेष पृ० ९७ पर)

विष्णुसहस्रनाम और जिनसहस्रनाम

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र सरोज, जावरा, (म० प्र०)

हिन्दुओ के विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के समान जैनो मे भी सहस्रनाम स्तोत्र प्रसिद्ध है। प्रायः दोनो समाजो मे भक्तजन प्रतिदिन सहस्रनाम-स्तोत्र पढते है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू समाज मे यह स्तोत्र पूजन के पश्चात् पढते है और जैन समाज में यह स्तोत्र पूजन की प्रस्तावना में पढते है। असुविधा या शीघ्रता के कारण जो जिनसहस्र नाम पढ नही पाते है वे भी प्रतिदिन जिन सहस्र नाम के लिये अर्घ्य तो चढाते ही है। पर्यूषण या दशलक्षण पर्व मे तो प्रायः सभी स्थानों पर पूजन की प्रस्तावना मे जिन-सहस्रनाम पढने की ओर उसके प्रत्येक भाग की समाप्ति पर अर्घ्य या पुष्प चढाने की भी परम्परा है। यद्यपि जिनसहस्रनाम मे जिन भगवान के और उनके गुणो को व्यक्त करने वाले एक हजार आठ नाम है, तथापि इसकी ख्याति सहस्र नाम के रूप मे वैसे ही है जैसे माला मे एक सौ आठ मोती या दाने होने पर भी हिन्दू लोग उन्हे सौ ही गिनते हैं, अथवा उपलब्ध सतसइयो मे सात सौ से अधिक छन्द होने पर भी उन्हे सात सौ ही गिनते है।

प्रस्तुत प्रसंग मे उल्लेखनीय यह भी है कि हिन्दू धर्म मे विष्णु सहस्र नाम के समान शिवसहस्र नाम या गोपाल-सहस्रनाम और सीतासहस्रनाम भी मिलते है। इसी प्रकार जैनो मे भी जिनवाणी में सग्रहीत लघुसहस्रनाम भी पठनार्थ मिलता है।

संज्ञा और रचयिता : दोनो सहस्र नामो की सज्ञा सार्थक है। विष्णुसहस्रनाम मे भगवान विष्णु के एक हजार नाम है और जिनसहस्र नाम मे भगवान जिन के एक सहस्र नाम हैं। विष्णुसहस्रनाम के रचयिता महर्षिवर वेदव्यास हैं। यह उनके अमर ग्रन्थ महाभारत के आत्मानु-शासन पर्व में भीष्म-युधिष्ठिर-सम्वाद के अन्तर्गत है। जिनसहस्रनाम-स्तोत्र के रचयिता आचार्य जिनसेन हैं, जो कीर्तिस्तम्भ के सदृश अपने आदि पुराण के लिये सुप्रसिद्ध है।

छन्द प्रस्ताव और समापन : दोनों सहस्र नाम स्तोत्र संस्कृत भाषा के उस अनुष्टुप छन्द में है जो आठ अक्षरो के चार चरणो से बना है। दोनो सहस्रनाम स्तोत्रों मे अपनी प्रस्तावना है और अपना समापन है। पर जहाँ विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र की प्रस्तावना मे तेरह और समापन मे बारह श्लोक है वहाँ जिनसहस्रनाम स्तोत्र की प्रस्तावना मे तैंतीस और समापन मे तेरह श्लोक है। विष्णु सहस्रनाम मे कुल १४२ श्लोक है और जिन सहस्रनाम में कुल १६७ श्लोक है।

दोनो सहस्रनाम अपने-अपने धर्म और देवता की देन को संजोये है। दोनो की अपनी शिक्षा और संस्कृति है, पर विष्णुसहस्रनाम में जहा लौकिक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, वहाँ जिनसहस्रनाम में अलौकिक निवृत्ति ही लक्षित हो रही है। जहा विष्णुसहस्रनाम में कर्तृत्वभाव मुखरित हो रहा है, वहाँ जिनसहस्रनाम प्रस्तुत प्रसंग में मौन है। उसमें आद्योपान्त वीतरागता का ही गुंजन हो रहा है। चूंकि दोनो स्तोत्र भक्तिमूल है और भक्ति में भगवान का आश्रय लेना ही पडता है, अतएव विचार के धरातल में दोनों ही सहस्रनाम भक्ति के प्रकाशस्तम्भ हैं। जहाँ विष्णु सहस्र नाम में एकमात्र विष्णु ही सर्वोपरि शीर्षस्थ है, वहाँ जिनसहस्रनाम में सभी जिनेन्द्रों को पूर्णतया सर्वशक्तिसम्पन्न अनन्तदर्शन-ज्ञान-बल-सुख सम्पन्न समझने की सुस्पष्ट स्वीकृति है। विष्णुसहस्रनाम में दर्शित एक हजार नाम भीष्म-युधिष्ठिर को सुनाते हैं, जिन सहस्रनाम मे उल्लिखित एक हजार आठ नाम जिनसेन पाठकों के लिये लिखते है, पर उन्होंने भी समापन के दसवें श्लोक मे संकेत किया है कि इन नामो के द्वारा इन्द्र ने भगवान की स्तुति की थी।

विष्णुसहस्रनाम की प्रस्तावना मे कहा गया है कि विष्णु जन्म, मृत्यु आदि छह विकारों से रहित है, सर्वव्यापक है, सम्पूर्ण लोक-महेश्वर है, लोकाध्यक्ष है। इनकी प्रतिदिन स्तुति करने से मनुष्य सभी दुखो से दूर हो जाता है :

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥

जिन सहस्रनाम की प्रस्तावना में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान वीतराग, क्षायिक सम्यक्दृष्टि हैं। आप अजर और अमर, अजन्म और अचल तथा अविनाशी हैं, अतः आपके लिये नमस्कार है। आपके नाम का स्मरण करने मात्र से हम सभी परम शान्ति और अतीत सुख-सन्तोष तथा समृद्धि को प्राप्त होते हैं। आपके अनन्त गुण हैं :

अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते अतीतजन्मने।
अमृत्यवे नमस्तुभ्यं अचलायाक्षरात्मने ॥
अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणा।
त्वन्नाम स्मृतिमात्रेण परमं श प्रशास्महे ॥

विष्णुसहस्रनाम के समापन मे कहा गया है कि जो पुरुष परम श्रेय और सुख पाना चाहता हो, वह भगवान् व्यास द्वारा कहे गये विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र का प्रतिदिन पाठ करे :

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेत् य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥

जिनसहस्रनाम के समापन मे भी आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि इस स्तोत्र का प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करने वाला भक्त पवित्र और कल्याण का पात्र होता है। विष्णु-सहस्र नाम स्तोत्र का समापन अनुष्टुप् छन्द मे ही हुआ है। दोनो ही स्तोत्र सार्थ मिलते है, अतएव संस्कृतविद् सुधी पाठक ही नही, अपितु हिन्दी भाषी भी दोनो स्तोत्रों का आनन्द ले सकते हैं।

समानता, असमानता एवं कलात्मकता

दोनों सहस्रनामों में जहाँ कुछ समानता और असमानता है, वहाँ कुछ कलात्मक न्यूनाधिकता भी है। यह उनके रचयिताओं की अभिरुचि है, पर दोनों की भगवद्-भक्ति अनन्य निष्ठा की अभिव्यक्ति करती है। स्थविष्ठ, स्वयंभू, सम्भव, पुण्डरीकाक्ष, सुव्रत, हृषीकेश, शंकर, धाता, हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्ष, धर्मयूप जैसे शब्द दोनों स्तोत्रो में मिलते है। देवताओं की नामावली में ऐसे शब्द आ जाना अस्वाभाविक नही है। कारण, एक तो प्रत्येक भाषा के अपने शब्दकोष की सीमा है और दूसरे एक धर्म, एक व्यक्ति, एक साहित्य, एक संस्कृति अपने अन्य समीपस्थ धर्म, व्यक्ति, साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकती है। फिर यह तो भाषा है।

नामावली की समानता के सूचक कतिपय उदाहरण यहाँ सतर्क, सजग होकर देखें। प्रत्येक उदाहरण में प्रथम पंक्ति विष्णुसहस्रनाम की है और द्वितीय-तृतीय पंक्ति जिनसहस्रनाम की है। भगवान् के नामों के आधार पर भक्तों में भावनात्मक एकता की अभिवृद्धि की बात भी देश और काल को दृष्टि में रखते हुये निस्संकोच कही जा सकती है।

(१) स्वयम्भू शम्भुरादित्यः पुष्पकराक्षो महास्वनः।
श्रीमान् स्वयम्भू वृषभः सम्भवः शम्भुरात्मनः ॥
(२) अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः।
स्तवनार्हो हृषीकेशो जितेन्द्रियः कृतक्रिय ॥
(३) अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः।
धर्मयूपो दयारागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः ॥
(४) अनन्तगुणोऽनन्तश्रीजितमन्युर्भयापहः
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः
(५) श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रः चतुरास्यः चतुर्मुखः ॥

प्रबुद्ध पाठक देखेंगे कि पांचवें उदाहरण की प्रथम पंक्ति और चतुर्थ उदाहरण की द्वितीय पंक्ति पढ़ते हुये लगता है कि एक ही पोशाक मे सड़क पर दो विद्यालयो के विद्यार्थी जा रहे हैं और साहित्य की दृष्टि से अनुप्रास अलङ्कार तो सुस्पष्ट है ही।

विष्णुसहस्रनाम की नामावली में विभाजन नहीं है, पर जिनसहस्रनाम की नामावली दस विभागों में विभाजित है। विष्णुसहस्रनामकार ने शायद इसलिये विभाजन नही नहीं किया कि विष्णु के सभी नाम पृथक्-पृथक् हैं ही, परन्तु जिन सहस्रनामकार ने शायद इसलिये सौ-सौ नामों का विभाजन कर दिया कि जिससे श्लोक पाठ से थकी जनता की जिह्वा को कुछ विश्राम मिले और अर्घ्य चढ़ाने में भी यत्किंचित् सुखानुभूति हो।

हिन्दू धर्म की एक प्रमुख विशेषता समाहार शक्ति भी है। उसमें एक ईश्वर के तीन रूप-ब्रह्मा, विष्णु महेश की

शक्ति में हैं और विष्णु भगवान के चौबीस अवतार भी हैं। इनमें ऋषभदेव और बुद्ध भी हैं। इसी उदात्त भावना का सूचक विष्णु सहस्र नाम का निम्नलिखित श्लोक है जिसमें अनेक लोगों का एकत्रीकरण या पुण्यस्मरण किया गया है :

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदः विदेकवान् ॥

इस श्लोक मे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को जहाँ स्मरण किया, वहाँ सालोक, सामीप्य, सायुज्य सारूप्य गति के साथ मन, बुद्धि अहकार और चित्त को भी दृष्टि मे रखा तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्षपुरुषार्थों के साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद को भी नही भुलाया। यह श्लोक अनुप्रास अलंकार का भी ज्वलन्त निदर्शन है।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥

अणु, बृहत् कृश, स्थूल, गुणभृत, निर्गुण, अधृत, स्वधृत जैसे विरोधी सार्थक शब्दों को अपने में समेटे हुये यह श्लोक विरोधाभास अलंकार प्रस्तुत कर रहा है, यह कौन नही कहेगा ? विष्णु सहस्रनाम में तीर्थंकर, श्रमण, वृषभ, वर्धमान शब्दो का प्रयोग हिन्दी और जैन विद्वानों के लिये विशेषता दर्शनीय, पठनीय और चिन्तनीय है :

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्चविविक्तः श्रुतिसागरः ।
मनोजवस्तीर्थंकरो वसुरेता वसुप्रदः
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥

जिनसहस्रनाम स्तोत्र में स्थविष्ठादिशतर्क का चतुर्थ श्लोक पुनः पुनः पठनीय है। इसमें भगवान जिनेन्द्र का गुणगान करते हुये कहा गया है कि जिनेन्द्रदेव पृथ्वी से क्षमावान है, सलिल-से शीतल हैं, वायु से अपरिग्रही हैं, और अग्निशिखा सदृश ऊर्ध्वधर्म को धारण करने वाले हैं। सुप्रसिद्ध उपमानों से अपने आराध्य उपमेय की अभिव्यक्ति की यह विशिष्ट शैली किसके हृदय को स्पर्श नहीं करेगी ?

क्षान्तिर्भाक् पृथ्वीमूर्तिः शान्तिर्भाक् सलिलात्मकः ।
वायुमूर्तिरसंगात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधृक् ॥

इसी प्रकार श्रीवृक्षादिशतं के आठवें से ग्यारहवें श्लोकों में और महामुन्यादिशतं के आरम्भिक छह श्लोकों में कवि कुल-भूषण जिनसेन ने 'म' वर्ण के शब्दों की झड़ी लगा कर प्रबुद्ध पाठकों को भी चमत्कृत कर दिया है। उदाहरणस्वरूप महामुनि तीर्थंकर विषयक निम्नलिखित श्लोक देखिये, जो अनुप्रास अलंकार का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है :

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ।
महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥

जिनसहस्रनाम-स्तोत्र में जितने भी श्लोक है, वे जिनके ही विषय में है, उनमें योगमूलक निवृत्ति है भोगमूलक वह लोक प्रवृत्ति नही है जो विष्णुसहस्रनाम के पुष्पहस, ब्राह्मणप्रिय जैसे शब्दो के प्रयोग में है।

दिग्वासादिशत का प्रथम श्लोक जिनचर्या का एक उत्कृष्ट उदाहरण है :

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थो निरम्बरः ।
निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥

दिशायें जिनके वस्त्र है और जिनका हवा भोजन है, जो बाहर भीतर की ग्रन्थियो (मनोविकारों) से रहित है, स्वयं आत्मा के वैभव सम्पन्न होने से ईश्वर है और वस्त्र-विहीन है, अभिलाषाओ और आकाक्षाओ से रहित हैं, ज्ञानरूपी नयनवाले है और अमावस्या के अन्धकार सदृश अज्ञान-मिथ्यात्व-दुराचार से दूर है, ऐसे जिन ज्ञानाब्धि, शीलसागर, अमलज्योति तथा मोहान्धकारभेदक भी हैं। जिन सहस्रनाम में ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, ब्रह्मयोनि, प्रभविष्णु, अच्युत, हिरण्यगर्भ, श्रीगर्भ, पद्मयोनि जैसे नाम भी जिन (जितेन्द्रिय) के बतलाए गये है।

जिनसहस्रनाम में जिनको प्रणवः, प्रणयः, प्राणदः, प्रणतेश्वरः" कहा गया है। इसके अनुरूप ही विष्णु सहस्र-नाम में "वैकुण्ठः पुरुषः, प्राणः, प्राणदः, प्रणवः पृथुः" कहा गया है। जिनसहस्रनाम स्तोत्र में जहाँ "प्रधानात्मा प्रकृतिः परमः, परमोदयः" कहा गया है, वहाँ विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र में जहाँ "प्रधानात्मा प्रकृतिः, परमः परमोदयः" कहा गया है, वहाँ विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र म "योगायोगविदा नेता प्रधानपुरुषेश्वरः" कहा गया है। जिनसहस्रनाम में

"सदागतिः, सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्यपरायणः" कहा गया। "सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः" भी कहा गया है।

इस प्रकार दोनों स्तोत्रो के शब्दो, अर्थो और भावो में पर्याप्त साम्य उपलब्ध होता है और यह सकुचित स्वार्थ पर आधारित साम्प्रदायिक व्यामोह से ऊपर उठ कर भावनात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुता की ओर इगित करता है। धर्म की धरा पर जाति का नही, गुण और कर्म का ही महत्त्व है। जैनधर्म के प्रचारक तीर्थकर जैन (वैश्य) नही, अपितु क्षत्रिय ही थे।

अन्यभक्ति निष्ठा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

यह श्लोक विष्णुसहस्रनाम का आमुख ही है पर यह उसमें नही है। इसमें जैसे भक्त की भगवान विषयक अनन्य निष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है, वैसे ही जिनसहस्रनाम के निम्नलिखित श्लोकों मे भी जिनसेन या जिन भक्त की अनन्य निष्ठा प्रगट हुई है :

त्वमतोऽसि जगद्बन्धुः, त्वमतोऽसि जगद्भिषक्।
त्वमतोऽसि जगद्धाताः त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥

सक्षेप में दोनो ही सहस्र नाम अपने में अनन्य निष्ठा को आत्मसात् किये हैं और भगवान के एक नही अनेक नामो के लिये स्वीकृति दे रहे हैं। दोनो ही प्रतिदिन पढ़े जाने पर भक्तो के लिये लोक-परलोक के कल्याण की बात कह रहे है। सारिणी १ मे उपरोक्त विवेचन का सक्षेपण किया गया है।

सारिणी १. जिनसहस्रनाम और विष्णुसहस्रनाम

	जिनस०	विष्णुस०
१ रचयिता	जिनसेन	वेदव्यास
२ श्लोक संख्या	१६७	१४२
३ प्रस्तावना में श्लोक	१३	१३
४ समापन में श्लोक	१३	१२
५ छन्द	अनुष्टुप्	अनुष्टुप्
६ अलंकार	उपमा, अनुप्रास बहुल	उपमा-अनुप्रास बहुल
७ नाम	१००८	१००८
८ उद्देश्य	परमश्रेय, लौकिक निवृत्ति	परमश्रेय, किंचित् शुभलौकिक प्रवृत्ति
९ विभाजन	दश अध्याय	——
१० अभिव्यक्ति	वीतरागता	ईश्वर के प्रति कर्तव्यभाव

□□□

बाहुबली की मूर्ति

बाहुबली अथवा गोम्मटश्वर का जीवन-चरित्र किसी भी महाकाव्य का विषय हो सकता है। सन् १९२५ मे मै कारकल गया था, वहा की पहाड़ी पर बाहुबली की ४७ फुट ऊंची मूर्ति देखी थी। श्रवणबेलगोल की ५७ फुट ऊची मूर्ति देख आय हूँ। एक ही पत्थर मे से खादी हुई ऐसा सुन्दर मूर्ति ससार मे कोई दूसरी नही। इतनी बड़ी मूर्ति भी इतनी सलौनी और सुन्दर है कि भक्ति के साथ-साथ प्रेम की अधिकारी हो गई है।

इस प्रदेश के गाव-गाव में बिखरी मूर्तिया और कारीगरी से खडित पत्थरो को इकट्ठा करके किसी भी राष्ट्र के गर्व करने याग्य अद्भुत सग्रहालय तयार हा सकता है। —काका कालेलकर

तीर्थंकर महावीर की निर्वाण-भूमि 'पावा'

□ श्री गणेशप्रसाद जैन, वाराणसी

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ७२ वर्ष की प्रायु मे ई० सन् से ५२७ वर्षोपूर्व पावा में हुआ था। दिगम्बर-शास्त्रो के अनुसार उन्तीस वर्ष पाच मास और बीस दिन तक केवली भगवान महावीर चार प्रकार के अनागारो तथा बारह प्रकार के गणों (सभाओं) के साथ विहार करते हुए अन्त मे 'पावा' में पधारे, और दो दिनो तक योग निरोध करके अन्तिम गुण स्थान को प्राप्त कर लिया। इनके चारो अघातिया कर्म नष्ट हो गये। कार्तिक मास की कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि पूर्णकर प्रात: की उषा वेला मे स्वाति नक्षत्र के रहते हुए निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष चले गये। यह कार्तिक कृष्णा अमावस्या का प्रातःकाल था।

श्वेताम्बर परम्परा में कार्तिक कृष्णा अमावस्या और शुक्ला एकम के प्रभात मे स्वाति नक्षत्र के रहते उषा वेला में मोक्ष प्राप्त किया है। दोनों सम्प्रदाय में महावीर के मोक्ष-काल में २४ घण्टे (एक दिन एक रात्रि) का अन्तर है। परन्तु निर्वाण-स्थल दोनो का 'पावा' ही है।

कार्तिक कृष्णा १४ की अथवा १५ की रात्रि को महान अन्धकार की रात्रि कहा जाता है। इन्द्र निर्वाण-महोत्सव मनाने के लिये अपने देव परिषद के साथ 'पावा' आया था, और वहा उसने असंख्य दीपो की दीप मालिका संजोकर महान प्रकाश किया था। आगन्तुक देवों के उच्च मधुर स्वर के जयकार के बारम्बर के घोष से 'पावा' का आकाश गुंजित हो गया था। पावा नगर के नर-नारी उस घोष को सुनकर जाग गए और ती० महावीर का निर्वाण जान समस्त परिवारों के लोग हाथों मे दीपक लिए निर्वाण स्थल पर आये थे, इसी प्रकार से वहा असख्य दीप एकत्रित हो गये। इन्द्र, देव-परिषद पावा के नागरिको ने बड़े ही धूमधाम से ती० महावीर का निर्वाण महोत्सब मनाया।

श्वेताम्बर परम्परा में ती० केवली भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिए विभिन्न देशों से राजा एवं प्रजा जन 'पावा' पधारे थे। ती० महावीर—उपस्थित जन-समूह को छह दिनों तक उपदेश करते रहे। सातवें दिन रात्रि-भर उपदेश देते रहे। जब रात्रि के पिछले प्रहर में सब श्रोता नीद मे थे, भगवान महावीर पर्यंकासन से शुक्ल ध्यान मे स्थित हो गये। जैसे ही दिन निकलने का समय हुआ। तीर्थंकर महावीर प्रभु ने निर्वाण लाभ कर लिया। जब उपस्थित जन समूह की तन्द्रा भंग हुई तो उन्हे दिखा कि वीर प्रभु निर्वाण लाभ कर चुके हैं। उस समय ती० केवली भगवान के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवल ज्ञान भी प्राप्त हुआ। 'हस्तिपाल' राजा, मल्लगण राज्य केनायक तथा १८ गण नायकों ने उस दिन प्रोषध रखा था। यह निर्वाण 'मध्यमा-पावा' में गणतन्त्री मल्ल राजा हस्तिपाल के शुल्कशाला में हुआ।

आज २५०७ वर्षो से समस्त भारत तथा कुछ विदेशों मे भी प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्ण अमावस्या को ती० महावीर के निर्वाण दिवस की स्मृति में दीपावली का महापर्व मनाया जा रहा है। इसे सभी सम्प्रदाय भिन्न रूप में मनाने लगे हैं किन्तु सभी दीपोत्सव करके ही मनाते हैं।

भारत और विदेशो मे मिला कर लगभग एक सौ सवत्सरों का प्रचलन है सम्भवत उनमे सर्व प्राचीन संवत ती० महावीर का निर्वाण सवत ही है। विक्रम सवत महावीर-निर्वाण सवत से ४७० वर्षो बाद का है, शालिवाहन शकसवत ६०५ वर्ष ५ माह बाद का है, और ई० सन् ५२७ वर्षो पश्चात प्रचलित हुआ है। तथागत बुद्ध ती० महावीर के समकालीन थे, और उनके जीवन काल में ती० महावीर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे।

आज जिस 'पावा' का तीर्थंकर महावीर की निर्वाण

भूमि मानकर वहां निर्वाण महोत्सव प्रति वर्ष दिगम्बर और श्वेताम्बर धूमधाम से मनाते है, वह इतिहासकारो और शोधको की दृष्टि में विवाद की वस्तु बन गई है। उनका कहना है कि यहां के स्थल में एक भी ऐसे चिन्ह प्राप्त नहीं होते हैं, जो यह सिद्ध करने मे समर्थ हों कि यह तीर्थंकर महावीर की निर्वाण भूमि है।

यह प्रचलित 'पावा' जिसे पुरी भी कहा जाता है बिहार शरीफ स्टेशन से नौ मील दूर है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय इस निर्वाण स्थल को कई सदियों से श्रद्धा पूर्वक पूजते आ रहे है। इस 'पावापुरी' मे निर्वाण-स्थल पर एक जल-मन्दिर निर्मित है। यह मन्दिर पूर्ण संगमरमर से बना हुआ है, और एक बड़े सरोवर के मध्य स्थित है। मन्दिर तक पहुचने के लिए ६०० फुट लम्बा लाल पत्थरों से निर्मित पुल है। सरोवर कमल पुष्पो से सदा आच्छादित रहता है। चांदनी रात्रि में मन्दिर का प्रतिबिम्ब जब सरोवर के स्वच्छ जल मे झिलमिलाता दीखता है तब वह शोभा और भी अनुपम बन दर्शको को मोह लेती है। 'वास्तु-कला' की दृष्टि से भी यह बिहार प्रान्त की एक अनुपम निधि है। यहा धर्मशालायें और अन्य मन्दिर भी हैं।

मुनि कल्याण विजय गणी ने लिखा है कि प्राचीन भारत में 'पावा' नाम की तीन नगरिया थी। जैन सूत्रो के अनुसार एक 'पावा' मंगि देश की राजधानी थी। यह प्रदेश पार्श्वनाथ पर्वत (सम्मेद-शिखर) के आसपास के भूमि भाग में फैला हुआ था।, जिसमे हजारीबाग और मानभूमि जिलों के भाग शामिल थे। बौद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ कुछ विद्वान इस 'पावा' को मलय देश की राजधानी बतलाते हैं, परन्तु जैन-सूत्र ग्रन्थों के अनुसार यह मंगि देश की ही राजधानी सिद्ध होती है। दूसरी 'पावा' कोशल से उत्तर-पूर्व कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। जिसे महापडित 'राहुल सांकृत्यादन' गोरख जिले के 'पपउर' ग्राम को मान्यता देते है। यह पडरौना के निकट और कसाया से १२ मील उत्तर-पूर्व मे है। 'मल्ल' लोगों के गणतन्त्र का सभा भवन भी इसी नगर मे था।

तीसरी 'पावा' मगध जनपद मे थी, जो आजकल तीर्थ क्षेत्र के रूप मे मान्य है। इन तीनों 'पावाओं' में पहली 'पावा' आग्नेय दिशा में, दूसरी 'पावा' वायव्य-कोण मे स्थित थी, अतः तीसरी पावा मध्यमा के नाम से प्रख्यात थी। भगवान महावीर का निर्वाण और अन्तिम चातुर्मास इसी पावा में हुआ था। (श्रवण भगवान महावीर-पृ० ३७५)।

डा० राजबली पाण्डे का—"भगवान महावीर की निर्वाण भूमि' शीर्षक एक लेख (निबन्ध) प्रकाशित हुआ है। आपने उसमे 'कुशीनगर से वैशाली' की ओर जाती हुई सड़क पर कुशीनगर से ६ मील की दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशा में 'सठियाव गाँव' के 'भग्नावशेष' (फाजिलनगर) को ही निश्चित किया है।

यह भग्नावशेष लगभग डेढ मील विस्तृत है, और योगनगर तथा कुशीनगर के मध्य में स्थित है। यहां पर जैन-मूर्तियों के ध्वसावशेष अभी तक पाये जाते है। बौद्ध-साहित्य में जो पावा की स्थिति बतलायी गयी है, वह भी इसी स्थान पर घटित होती है।

डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री (आरा) ने लिखा है कि —तीनों पावाओं की—स्थिति पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि ती० महावीर की निर्वाण-भूमि 'पावा' डा० राजबली द्वारा निरुपित ही है। इसी स्थल पर काशी-कोशल के नौ, लिच्छवी, तथा नौ मल्ल, एव अठारह गणराजाओं ने दीपक प्रज्वलित कर भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव मनाया था। 'नन्दि वर्धन (वर्धमान के अग्रज) द्वारा ती० महावीर की निर्वाण भूमि पर उनकी पुण्यस्मृति में जिस मन्दिर का निर्वाण किया था, आज वही मन्दिर फाजिल नगर का ध्वंसावशेष है। इस मन्दिर का निर्माण एक मील के घेरे में हुआ था, और यह ध्वंसावशेष लगभग एक-डेड़ मील का है। ऐसा अनुमान होता है कि मुसलमानी सलतनत की ज्यादतियों के कारण इस प्राचीन तीर्थ को छोड़कर 'मध्यम-पावा' को ही तीर्थ मान लिया गया है। यहा पर क्षेत्र की प्राचीनता का द्योतक कोई भी चिन्ह नहीं है। अधिक से अधिक तीन सौ वर्षों से इस क्षेत्र को तीर्थ स्वीकार किया है। ती० महावीर के काल में सोलह जनपद थे। जिसमे काशी, कोशल, मगध, वज्जि और मल्ल प्रमुख थे। काशी की राजधानी बाराणसी,

कोशल की श्रावस्ती, मगध की राजगृह, और मल्लों की 'पावा' और 'कुशी नगर' थी। वैशाली वज्जियो की राजधानी थी। यह एक प्रसिद्ध महत्वपूर्ण नगर था। अन्य सभी राजधानियों भी विस्तृत समृद्ध और युग की श्रेष्ठ प्रसिद्ध नगरियाँ थी।

गणतन्त्र के प्रमुख नगर 'पावा', कुशीनगर, भंडग्राम, वालाहार, वनखण्ड, भोगनगर और आम्र ग्राम थे। 'पावा' एवं कुशीनगर के मध्य तीन नदिया बहती थी, जिनमें तुकुत्था (घाघी) और हिरणावती के नाम और चिन्ह मिलते हैं।

भगवान बुद्ध के यात्रा मार्ग की चर्चा बौद्धग्रन्थ निव्वानसुत्त मे आती है। वैशाली और कुशीनगर के बीच भण्डग्राम, जम्बूग्राम, हत्तिग्राम, आम्रग्राम भोगनगर, 'पावा' और कुशीनगर उन्हें मिले थे। 'कुशीनगर' से पावा कुल तीन गव्युति अर्थात् १२ मील दूरी पर था।

गणराज्य की राजधानी 'पावा' का प्रसार साक्यराज की सीमा तक फैला था। ती० महावीर के अनुयायियों की बस्ती 'कुशीनारा' में थी। प्राचीन मल्लराष्ट्र के भूभाग मे अब भी मल्लों के राज्य (स्वाधीनता से पूर्व) विद्यमान हैं। किन्तु इन राज्यों के मल्ल शासक शायद अपने को उस पुरातन मल्लो का वशज न मान कर अन्य क्षत्रिय मानते है।

महापंडित 'राहुल सांकृत्यायन' का कहना है कि पडरौना के राज्य जो आजकल अपने को 'सैथवार', तमरवुही के राजा 'भूमिहार'-'ब्राह्मण' एवं मझौली के राज्य के 'विसने राजपुत' कहते हैं ये सभी 'मल्ल-क्षत्रियों' के वंशधर हैं। १३वी शताब्दी के प्रारम्भ मे 'कुशीनगर और पावा' के बौद्ध और जैन-विहार, स्तम्भ तथा मन्दिर मुसलमानो द्वारा नष्ट कर दिये गये थे।

भरतसिंह उपाध्याय 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' मे लिखते हैं कि जैन-लोग महावीर की निर्वाण भूमि 'पावा' को मानते हैं, जो विहार शरीफ से करीब ७ मील 'दक्षिण पूर्व' दिशा मे नालन्दा के निकट स्थित है। 'पावा' तीर्थ यह स्थान कदापि नही हो सकता है, क्योंकि राजगृह के इतने निकट 'शाक्य' तथा 'कुशीनगर' और गणतन्त्रों वाली मल्लों की राजधानी 'पावा' कैसे हो सकती है? राजगृही का राज्य 'साम्राज्यवादी' था, और अन्य मल्ल-राज्य स्वतन्त्र 'गणतन्त्र राज्य' थे। उनका इस भूभाग में होना असम्भव है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के जैन-साहित्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवली भगवान ती० महावीर ने अन्तिम चातुर्मास 'पावा' के मल्ल गणतन्त्री राज्य हस्तीपाल की रज्जुग सभा में बिताया था। और उनका निर्वाण 'पावा' में हुआ था, जो मल्ल राजा हस्तीपाल की राजधानी थी।

दिगम्बर आम्नाय के ग्रंथ पुष्पदन्तकृत महापुराण (सन्धि १०२ कडवक १०-११) तथा उत्तरपुराण (७६, ५०८-५१२) में और अन्य ग्रंथों में भी केवली ती० भगवान महावीर ने अपने विहार का क्रम समाप्त कर 'पावा' नगर मे अनेक सरोवरो के बीच उन्नत भूमि पर महामणि शिला पर आसन ग्रहण लिया था और वहीं से वह मोक्ष पधारे थे।

डा० हीरालाल जी जैन और डा० आ० ने० उपाध्याये भी अपनी रचना 'महावीर युग और जैन दर्शन' में पृष्ठ ३० पर लिखते है कि –'कल्पसूत्र तथा परिशिष्ट पर्व के अनुसार जिस पावा मे भगवान का निर्वाण हुआ था, वह मल्ल क्षत्रियो की राजधानी थी। ये मल्ल वैशाली के वज्जिसंघ व लिच्छवि संघ में प्रविष्ट थे। और मगध के सत्तात्मक-राज्य से उनका वैर था। अतएव गंगा के दक्षिणवर्ती प्रदेश जहा वर्तमान 'पावापुरी' क्षेत्र है, वहाँ उनके राज्य होने की सम्भावना नही है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथो जैसे 'दीघ-निकाय, मंझिम-निकाय' आदि से भी सिद्ध होता है कि 'पावा' की स्थिति 'शाक्य-प्रदेश' में ही थी, और वह वैशाली से पश्चिम की ओर कुशीनगर से केवल दस बारह मील की दूरी पर थी। शाक्य-प्रदेश के 'सामग्राम' मे जब भगवान बुद्ध का निवास था, तभी उनके पास सन्देश पहुचा था कि अभी-२ अर्थात् एक दिन के भीतर पावा मे भगवान महावीर का निर्वाण हुआ है।

उक्त बातों पर विचार विनमय, पश्चात् इतिहासज्ञ इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि जिस पावापुरी में भगवान

महावीर का निर्वाण हुआ था, वह यथार्थतः उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में व कुशीनगर के समीप वाला 'पावा' नामक ग्राम है, जो आजकल सठियांव (फाजिलनगर) कहलाता है, और जहां बहुत से प्राचीन खण्डर व भग्नावशेष पाये जाते हैं। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान को स्वीकार कर उसे भगवान महावीर की निर्वाण भूमि योग्य तीर्थ बनाना चाहिये।

वर्तमान में वहां एक 'श्री पावानगर निर्वाण क्षेत्र समिति' कार्य कर रही है। जिसके राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, अध्यक्ष (नन्दभवन, गोरखपुर, २७३००१) और आचार्य श्री अनन्त प्रसाद जैन, मंत्री (जैन मन्दिर गली, अलीनगर, गोरखपुर २७३००१) हैं। आप लोगो के सत् प्रयत्न से वहां भारी कार्य हुआ है और बराबर हो रहा है। इन दोनों महानुभावों के परिश्रम का प्रतिफल है कि उस निर्वाण भूमि पर ती० महावीर के एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो रहा है, जिसका नाप ७२ फुट × ३० फुट है, और जिसमें १२ फुट का गर्भ गृह की वेदी में ती० महावीर की प्रतिमा स्थापित होगी।

७२ वर्ष की आयु मे ती० तहावीर का निर्वाण हुआ था, ३० वर्ष की आयु मे प्रवज्या ली थी, और १२ वर्ष उनका तपस्या काल था। मन्दिर की नाप तीर्थंकर महावीर की जीवन घटनाओं को प्रतिध्वनित करने वाली है। एक धर्मशाला भी निर्माण कराई जा रही है। भारत वर्षीय दि० जैन २५००वां निर्माण समिति, दिल्ली ने भूमि खरीदने के लिये १५००० रुपये तथा श्रावक शिरोमणि दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी ने पांच हजार नगद और एक वैगन सीमेंट द्वारा सहायता की है। अन्य भक्तो की ओर से नित्य कार्य प्रगति पर है।

२५०० सौवीं तीर्थंकर महावीर के निर्वाणोत्सव पर वहाँ महाविद्यालय (डिग्री कालेज) भी स्थापित हो चुका है। सरकार और विश्वविद्यालय-मान्यता उसे प्राप्त हो चुकी है। हम सब का कर्त्तव्य है कि इस दीपावली पर तीर्थंकर महावीर के २५०७वें निर्वाण पर हम फाजिलनगर जाने का निर्णय करें और वहां यात्रा कर पुण्य उपार्जन करें तथा यह भी देखें कि यथार्थ क्या है? दीपावली के अतिरिक्त भी वहा की यात्रा की जा सकती है।

पूर्वोत्तर (ई. एन.) रेलवे के गोरखपुर अथवा देवरिया स्टेशन पर उतरें, वहां से बस-टैक्सी आदि सवारी से पावानगर (वर्तमान फाजिलनगर) पहुचे। गोरखपुर से ४४ और देवरिया से ३५ मील दूर है, और पक्की सड़क पर है। धर्मशाला मे ठहर कर वहां का वैभव निरीक्षण सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

□□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली। मुद्रक-प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्राकशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन,
पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
सम्पादक—गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रीयता—भारतीय पता—वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

नागछत्र-परंपरा और पार्श्वनाथ

□ डा० भगवतीलाल पुरोहित, उज्जैन (म० प्र०)

इस देश और संसार में, लोक में नाग-महिमा व्याप्त है। नागो के बारे मे अनन्त अनन्त लोक कथाएँ प्रचलित हैं। इन लोककथाओं मे नागो का मानवीकरण भी हो गया है। नाग स्वभाव से ही क्रोधी माने गए। इसीलिए क्रोधी लक्ष्मण, बलराम इत्यादि को शेष का अवतार माना गया। शेष के सहस्र फणों पर पृथ्वी टिकी है, यह भी मान्यता रही है। शेष बहुल भी माना गया है।

विष्णु को शेष फणो से छात्र किए बनाए जाते है। ऐसी प्रतिमाएँ गुप्तकाल तक की प्राप्त होती है जिनमे देवगढ की शेषशायी प्रतिमा सर्वप्रसिद्ध है। शिव के आभूषण ही नागा के है। पतंजलि नागवंश में उत्पन्न होने से तथा बहुलता के कारण शेष के अवतार माने जाते है और उनका महाभाष्य फणिभाष्य कहलाता है।

नागनृपों का इस देश मे पर्याप्त वर्चस्व रहा। तक्षशिला, अहिच्छत्र, नागपुर, उरगपुर (उरैयु — मदुरै) इत्यादि नागपरम्परा तथा नागवर्चस्व के ही अवशेष है। काशी में नागनृपो ने ही दस अश्वमेध किए थे। वह स्थल आज भी दशाश्वमेघ घाट के नाम से प्रसिद्ध है। जनमेजय का नागयज्ञ लोकविश्रुत है जिसमे जनमेजय ने नागविनाश का बीड़ा ही उठा लिया था।

नागो का इस देश के साहित्य, कला और संस्कृति में पर्याप्त योगदान रहा है। विदिशा से मथुरा तक का क्षेत्र इनके ही वर्चस्व मे था जहा से अनन्त अनन्त नागमूर्तियां भी प्राप्त होती है। इन्होंने भारतीय परम्परा के अनुरूप अपने राज्य क्षेत्र में विभिन्न धर्मो तथा उनकी परम्पराओं को आश्रय तथा प्रश्रय दिया। अशोक ने आजीवको को गुहादान किया था और ब्राह्मण सातवाहनो ने बौद्धो को गुहादान किया था। नागाओ ने भी ऐसी ही उदारता दर्शायी थी। परन्तु एक चातुर्य अवश्य किया था। जिस सम्प्रदाय को सरक्षा प्रदान कर उन्होंने पल्लवित किया उसे उन्होंने नागचिन्ह से अवश्य सम्पृक्त कर दिया जिससे उनका नागसम्बन्ध चिरविज्ञात रहे।

विष्णु की शेषशायी प्रतिमा नागो के ही राज्य क्षेत्र — देवगढ से प्राप्त हुई है। असभव नही, यह तथा ऐसी प्रतिमा के निर्माण का प्रथम प्रयास नागो ने ही किया हो। शेष नामक नागराजा भी हुआ है। सम्भव है उसने ही विष्णुकी पहली ऐसी प्रतिमा बनवायी हो। और उसके संरक्षण मे वैष्णव-धर्म का पल्लवन हुआ हो। उस प्रतीक के माध्यम से अपनी राजक्षमता व्यक्त करने के लिए उसने यह भी घोषित करवा दिया कि शेष के सिर पर ही धरती टिकी है; शेष के बिना धरती रसातल में चली जाती।

कहते है पार्श्वनाथ ने पूर्वजन्म में नाग की रक्षा की थी। फलत: इस जन्म में पार्श्वनाथ पर कठिनायी आने पर नाग ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया। नाग के सरक्षण के कारण ही पार्श्वनाथ की रक्षा हो सकी। इस कथा से यही ज्ञात होता है कि किसी समकालीन नागनृप अथवा नाग जाति के वीर ने पार्श्वनाथ की संकट मे रक्षा की तथा वह उनका प्रमुख सहयोगी बना। बल्कि अधिक मर्मार्चीन यही प्रतीत होता है कि किसी नाग के संरक्षण मे ही पार्श्वनाथ के विचारों का प्रचार-प्रसार हुआ। पार्श्वनाथ के प्रति अत्युपकार के कारण ही नागछत्र उनके साथ सदा के लिए सम्पृक्त हो गया। सम्भव है नागफणों से युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा का प्रचार भी उस संरक्षक नाग अथवा उसके उत्तराधिकारियो के द्वारा ही हुआ हो। क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुरूप आचरण है। पार्श्वनाथ को अधिक लोकप्रिय बनाने में किसी नाग का हाथ था या उनके तद्युगीन अनुयाइयों ने भी सहर्ष स्वीकारा और तभी इनके साथ उपर्युक्त अन्य देवों के समान नागछत्र स्थायी रूप से जुड़ ही नही गया, बल्कि वह उनका प्रतीक चिन्ह भी बन गया।

वस्तुत: नागो के अवदान को बिसारा नही जा सकता अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य का एक नाम मल्लनाग था। छदशास्त्र का प्रथम प्रणेता पिंगलनाग था। योगसूत्र तथा महाभाष्य के रचयिता पतंजलि भी नाग ही थे। भावशतक रचयिता गुप्तयुगीन गणपतिनाग था जो समुद्रगुप्त से पराजित हुआ था। और इसी प्रकार अनेकानेक विद्वान हुए हैं। नाग-नृपो ने साहित्य और कला के साथ ही भारतीय स्वयुगीन विभिन्न धर्मों को भी समान आदर ही नही दिया उनके साहित्य-कलादि के द्वारा प्रसार-प्रचार में भी पूर्ण सहयोग दिया। भारत को नागो के अवदान सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन से और भी अनन्त अज्ञात तथ्य प्रकाशित होने की सम्भावना को अस्वीकार नही किया जा सकता।

□□□

'अनागत चौबीसी' : दो दुर्लभ कलाकृतियां

□ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

जैन शास्त्रों में तीन चौबीसी प्रचलित हैं। वर्तमान, भूत (अतीत) और भविष्यत (अनागत)। वर्तमान चौबीसी में ऋषभदेव, अजितनाथ आदि से लेकर भ० महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हैं जिनकी पहिचान उनके लांच्छन (चिन्ह) बैल, हाथी, घोड़ा आदि से लेकर सिंह पर्यन्त चौबीस चिन्हों से होती है। यद्यपि यह चिन्ह परम्परा छठी शताब्दी के बाद प्राप्त होने वाली प्रतिमाओं में ही दृष्टि गोचर होती है इससे पूर्व की प्रतिमाएँ बिना लांछनों (चिन्हों) की ही मिली हैं।

भूतकाल (अतीत) के २४ तीर्थंकरों के नाम शास्त्रानुसार १ निर्वाण २. सागर ३ महासाधु ४. विमल प्रभु ५. शुद्धाय ६ श्रीधर ७ सुदत्त ८. विमल प्रभु ९ उद्धर १० अगिर ११. सन्मति १२. सिंधु १३ कुसुमाजलि १४. शिवगण १५ उत्साह १६. ज्ञानेश्वर १७. परमेश्वर १८. विमलेश्वर १९. यशोधर २०. कृष्णमति २१. ज्ञानमति २२. शुद्धमति २३. श्रीभद्र २४. श्मत: आदि है।

भविष्यत (अनागत) काल के २४ तीर्थंकरों के नाम १. महापद्म २ सुरदेव ३. सुपार्श्व ४. स्वयप्रभु ५. सर्वात्मभूत ६. देवपुत्र ७. कुलपुत्र ८. उदङ्क ९. प्रोष्टिल १०. जयकीर्ति ११. मुनिसुव्रत १२. अर १३. निरपाप १४. निराकाय १५. विपुल १६. निर्मल १७. चित्रगुप्त १८. समाधिगुप्त १९. स्वयंभू २०. अनिवृत्तक २१. जय २२. विमल २३. देवपाल और २४. अनन्तवीर्य आदि है।

वर्तमान चौबीसी की अनेकों मूर्तियां व प्रतिमाएँ पुरातत्त्व एव इतिहास की दृष्टि से उपलब्ध है। चन्देरी की चौबीसी तो प्रसिद्ध ही है पर है वह वर्तमान २४ तीर्थंकरों की। पर अतीत और अनागत चौबीसी की कोई प्रतिमा या मूर्ति किसी अनुसंधित्सु विज्ञ पाठक या लेखक को कहीं प्राप्त हुई हो तो कृपया लेख के संदर्भ में आगे प्रकाश डालें और मुझे भी सूचित करने की कृपा करें जिससे मैं अपनी अल्पज्ञता में कुछ संशोधन कर सकू।

अभी इस दशहरा अवकाश पर लगभग दो हजार कि. मी. के प्रवास पर सपरिवार निकला था। दिल्ली लौटते हुए दो दिन को करेरा भी चला गया था क्योंकि वहा रिश्तेदारी है। यहाँ श्री मक्खनलाल जी वगैरा कपड़े के व्यापारी है तथा सि. बद्रीप्रसादजी दोनो ही बड़े धार्मिक एव श्रद्धालु श्रेष्ठ श्रावक है उन्होंने मुझे यहां के प्राचीन दि० जैन बड़े मंदिर में सहज भाव से मात्र धार्मिक चर्चा हेतु आमन्त्रित किया। मंदिर शिखर बध एव प्राचीन है। पहले भी कई बार दर्शन कर आया हू। अब की बार जब इस मंदिर में गया तो अचानक दो प्राचीन कलाकृतियो पर दृष्टि गड़ गई और ऐसा अनुभव हुआ कि ये कोई विशिष्ट प्रतिमाएँ हैं। मैंने श्री मक्खनलालजी से इनको देखने तथा इनमें उत्कीर्ण लेख को पढ़ने की उत्कण्ठा प्रकट की। चूंकि भाई मक्खनलालजी ने भोजन का आयोजन कर रखा था। अत: इस शुभ कार्य को भोजनोपरान्त ही सम्पन्न करने की स्वीकृति दी। मै तो शोधार्थी ठहरा मुझे भाई मक्खनलाल जी का आग्रह स्वीकारना पड़ा। इस बीच खब जमकर धार्मिक एवं आधुनिक समाज की विकृतियों के सम्बन्ध में खुलकर चर्चा हुई।

भोजनोपरान्त श्री मक्खनलालजी ने पुन: स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण कर मूर्तियो को बाहर प्रकाश मे निकाला और सिं. बद्रीप्रसादजी व श्री मक्खनलालजी के सहयोग से उन मूर्तियो का सूक्ष्म निरीक्षण किया और उनसे अंकित लेख नोट किए। यहाँ जो उल्लेखनीय ऐतिहासिक एव पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण दो अनागत चौबीसी, एक पंचमेरु तथा एक ताम्रयत्र हैं। ग्वालियर के पुरातत्त्व के विभाग ने उन्हे रजिस्टर्ड कर लिया है नियमानुसार रजिस्ट्रेशन पत्र भी दिया है तथा उपर्युक्त प्रतिमाओं के चित्र भी दिए है। पर लगता है पुरातत्त्व विभाग के

अधिकारियों ने या तो लेख पढ़े नही या वे 'अनागत चौबीसी' के महत्व को समझे नही।

जैसे ही मैंने स. १६७४ वाली चौबीसी में पूर्ण विवरण के साथ, जो आगे उल्लिखित है, 'अनागत चौबीसी' शब्द पढा तो मेरा मन हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा और मस्तिष्क में खलबली मच गई कि यह तो एक सर्वथा दुर्लभ और अप्रकाशित एव अज्ञात कलाकृति है। यद्यपि अब तक मैंने दस पाच या सौ पचास नही अपितु हजार से अधिक मूर्ति
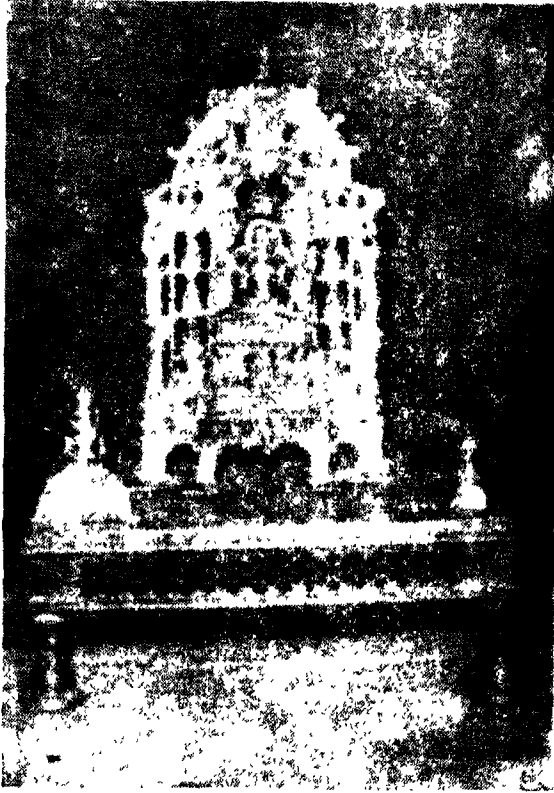
(संवत् १६७४)

लेख, यंत्रलेख, चौबीसी वगैरह देख चुका हूं और उनके लेख संग्रहीत एवं संकलित कर प्रकाशित कराए है पर अब तक 'अनागत चौबीसी' के नाम से कोई भी प्रतिमा या चौबीसी दृष्टि गोचर नही हुई, अतः अपनी अल्पज्ञता की शांति हेतु मैंने अनेकों विद्वानों मे पुरातत्वविदों से, तथा जैन इतिहासकारों से पत्र व्यवहार किया जिनमें से कुछ निम्न प्रकार है :—

पं० श्री कैलाश चन्द जी शास्त्री वाराणसी, डॉ. श्री ज्योतिप्रसादजी जैन लखनऊ, पं० श्री अगरचन्द नाहटा, दुर्गावती पुरातत्व संग्रहालय जबलपुर के अध्यक्ष श्री बालचन्द जी एम. ए., लखनऊ पुरातत्व संग्रहालय के विद्वान् श्री शैलेन्द्र रस्तोगी, जैन पुरातत्व के पंडित श्री गोपीलाल जी अमर, पं. श्री हीरालाल जी सादूमल, ज्ञानपीठ के डॉ. गुलाब चन्द जी, पं. श्री हीरालाल जी कौशल प्रभृति विद्वानों से 'अनागत चौबीसी' के बारे मे चर्चा की पर सभी ने शास्त्रानुसार 'अनागत चौबीसी' का अस्तित्व तो स्वीकार किया पर प्रमाणस्वरूप कोई प्रतिमा या कही किसी शास्त्र में ऐसी प्रतिमा के निर्माण के उल्लेख के बारे मे कोई ऐतिहासिक या पुरातात्विक प्रमाण के विषय में कोई आधिकारिक उत्तर नही लिखा। इन सभी विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हू।

यद्यपि श्रद्धालु रूढ़िवादी पाठक इस विषय में शंका कुशंका या तर्क-वितर्क करेंगे कि इस पचमकाल में अनागत चौबीसी का निर्माण कैसे हो सकता है यह तो चौथे काल (आने वाले) की बात होनी चाहिए। पर यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथा पुरातत्व की दृष्टि से सिद्ध हो गया है कि लगभग चार सौ वर्ष पूर्व सं० १२८३ में निर्मित ऐसी ही चौबीसी उपलब्ध हैं। 'अनागत चौबीसी' के निर्माण के पीछे आचार्यों की तथा विद्वानों की क्या परिकल्पना रही होगी और किस भक्ति-भाव से उन्होने ऐसा किया कुछ नही कहा जा सकता जबकि प्रायः वर्तमान चौबीसी के ही निर्माण की प्रथा प्रचलित रही है। अनुसंधित्सु विद्वान इस पर विचार विमर्श करें और ऐसी मूर्ति निर्माण के कारण खोजें। पर यह निर्विवाद सत्य है कि यह एक नई खोज है जो आज तक अन्यत्र उपलब्ध नही हुई है और न कही चर्चा भी है, अतः इस पर विस्तार से चर्चा होनी चाहिए। अभी १५ दिसम्बर, ८० को ज्ञानपीठ पुरस्कार के अवसर पर पं. श्री कैलाश चन्द जी से चर्चा हुई थी तो उन्होंने इस प्रतिमा को अद्भुत बताया साथ ही उन्होने बताया कि विदेह क्षेत्र स्थित विद्यमान बीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में से प्रथम तीर्थंकर सीमंधर स्वामी की प्रतिमा के विषय में लोग शंकास्पद थे, जब स्व पू कानजी स्वामी ने सोनगढ़ समोशरण में सीमंधर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई लोगों ने इसका विरोध किया था पर अब खोज शोध के

बाद बयाना में सीमधर स्वामी की प्रतिमा प्राप्त हो गई है। ऐसी जनश्रुति है कि सीमधर स्वामी के समोशरण मे कुन्दकुन्दाचार्य जी को कोई देव ले गया था जो वहा बहुत ही छोटे से जीव प्रतीत हुए थे।

अब उन 'अनागत चौबीसी' का विवरण करता हू। पहली चौबीसी धातु पीतल की निर्मित है और अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से ढाली गई है चित्र संलग्न है। यह लगभग एक फुट लम्बी, ऊंची होगी और लगभग ८३ इन्च चौड़ी होगी। प्रायः चौबीस में पद्मासन प्रतिमाएँ होती है पर इसमें कुछ खड्गासन भी है। मूलनायक प्रतिमा कुछ बड़ी है बाकी २३ प्रतिमाएँ छोटी-छोटी है यहाँ तक कि नाक नक्श भी स्पष्ट दिखाई नही देते पर शिल्पी ने जिस कलात्मक ढंग से इसे सजाया है। वह सर्वथा दर्शनीय है। इसमें जो पृष्ठ भाग मे उत्कीर्ण है वह निम्न प्रकार है— 'संवत् १२८३ वर्षे मूलसंघे वैसाख सुदी ६ साधुलाल गजे सिंह सल्लेखना नमति' यद्यपि इस प्रतिमा मे 'अनागत चौबीसी' का उल्लेख नही है पर इसकी आकृति तथा कला एवं रचना पद्धति दूसरी चौबीसी जो स. १६७४ की है और जिसमें 'अनागत चौबीसी' उत्कीर्ण है उससे बिल्कुल मिलती जुलती है और ऐसी प्रतीत होती है कि उसी साचे की ढली हो यद्यपि आकार में कुछ बड़ी है।

दूसरा चौबीसी का लेख—यह पहली चौबीसी की भांति पीतल की बनी है इसकी मूल नायक प्रतिमा नेमिनाथ की है जिसमे शख का चिन्ह अंकित है इसके साथ २३ प्रतिमाएँ पद्मासन और खड्गासन की है। इसमे जो लेख पृष्ठ भाग मे अंकित है वह इस प्रकार है :—

संवत १६७४ जेठ सुदी नौमी सोमे मूलसंघे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्रीयश कीर्ति भट्टारक तत्पट्टे भ. ललितकीर्ति तत्पट्टे भ. धर्मकीर्ति उपदेशत जैसवाल जातो कोटिया गोत्रे, चौ. गोपालदास भार्या कपूर के पुत्र द्वौ ज्येष्ठ संघपति श्री चिंतामणि भार्या बसाइकदे पुत्र त्रयाः बनराज भार्या मथुरावती, सागरचन्द भार्या किसुनावती भूपति भार्या दगम, द्वितीय संघपति किसुनदास भार्या परभावती पुत्र त्रयाः सांवेराय भार्या अन्हपदे धर्मदास महिमा एते नमति। 'अनागत चौबीसी' उपर्युक्त भट्टारक बलात्कार गण की जो हर शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। भ. धर्मकीर्ति अपने समय के बड़े प्रतिष्ठित विद्वान और आचार्य थे इन्होंने अनेकों मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी तथा आश्विन कृष्णा ५ स. १६७१ मे हरिवंश पुराण की रचना की थी विशेष जानकारी के लिए भट्टारक सप्रदाय के पृ. २०३-२०४ पर देखें।

पंच मेरु प्रतिमा —तीसरी कलाकृति पीतल की चौकोर मेरु प्रतिमा है जो लगभग एक फुट ऊँचा गोल गुम्मदकार है प्रत्येक ओर पाच-पाच प्रतिमाएँ विराज है इस तरह कुल
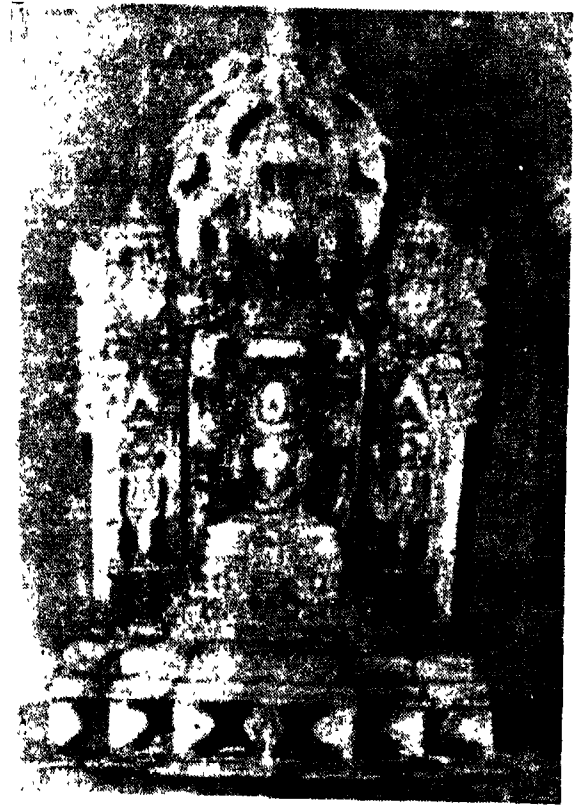
(संवत् १२८३)

बीस प्रतिमाएँ इस मेरु मंदिर मे विराजमान हैं। इसमें जो लेख उत्कीर्ण है वह निम्न प्रकार है—'संवत् १७२५ वर्षे पौष सुदी १५ गुरुवासरे श्रीमूलसंघ बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दान्वये सकलकीर्ति उपदेशात् स वसते कुजमणी नित्य प्रणमति सकुटुम्बैः' यह भट्टारक सकलकीर्ति भी उपर्युक्त बलात्कार गण की गेरहट शाखा के ही भट्टारक प्रतीत होते हैं।

ताम्र यन्त्र—यह एक चौकोर ताम्बे का यंत्र है जो किसी प्रतिष्ठा या अष्टान्हिका व्रत आदि के उद्यापन के समय तैयार कराया गया होगा। इसमे उल्लिखित लेख से ज्ञात होता है कि सिंघई अमरसिंह ने कर्ममल दहन हेतु इसकी प्रतिष्ठा कराई थी तभी यह यंत्र प्रतिष्ठित हुआ था। पूर्ण लेख निम्न प्रकार है—प्रारम्भ मंगलाचरणात्मक श्लोक से होता है जो अपूर्ण और अस्पष्ट है तथा ठीक से पढ़ा नहीं गया, जो कुछ पढ़ा गया वह निम्न प्रकार है : श्रद्धालु विज्ञ जन इसमे सशोधन कर लें—

तत्वं निर्विकल्प सर्ववृत्ति तात्पर्य परिग्रहं
सम्मान निश्र···विवहारं न सधर्म······

संवत् १५२६ वर्षे वैसाष सुदी सप्तमी दिने बुधवासरे मूलसंघे बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे पद्मनंदीदेवा स्तत्पट्टे शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे जिनचन्द्रदेवा सिंघकीर्ति देवा तस्या · पोरवालवंशे स. धनपति स. उद्धरण च · मद्गुणि स चाद स. राव देवा सं विजयसिंह सं कर्मसिंह सं. मही पति स. रतन स. मनसुख स सामन्त पुत्रा स मन्ना स. धन्ना पुत्र मन् स. अमरसी पुत्र स होरिल द्वितीय पुत्र स. वीरभान श्री स ·ावदेव भार्या जसोवहा तत्पुत्र श्री विजयसिंह भार्या हेमा स भीकू भार्या दुर्णाघा स अमर सिंह प्रणमंति सुभ स्नान प्रतिष्ठा कार्य स·· विजय सिंह स मक्षिम स. अमरसिंह कर्मदहन मल इति।

उपर्युक्त आचार्य परम्परा बलात्कार गण दिल्ली-जयपुर शास्त्र की अटेर शाखा से संबंधित हैं। भ जिन चन्द्र के दो शिष्य थे रत्नकीर्ति और सिंहकीर्ति जिनमे से इस प्रशस्ति का नामोल्लेख है वही इस प्रतिष्ठा के प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे होंगे, इसीलिए भ. रत्नकीर्ति का उल्लेख छूट गया है क्योंकि उन्होंने नागौर शास्त्र की पृथक स्थापना कर ली थी। विशेष विवरण के लिए भट्टारक सम्प्रदाय के पृष्ठ ९७ से १०४ तक विभिन्न उद्धरणों मे उपर्युक्त भट्टारकों का उल्लेख है। विस्तारभय के कारण उन सबका परिचय यहां अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार 'अनागत चौबीसी' की दो कलाकृतियों की शोध सर्वथा नवीन है और विद्वानों को विशेषतया सिद्धांत तथा तत्वशास्त्र के वक्ताओं को चिन्तन के लिए एक प्रमाण उपलब्ध हुआ है कि तेरहवी सदी में 'अनागत चौबीसी' के निर्माण की कल्पना कैसे उद्भूत हुई और क्यों तथा किस कारण से यह अद्भुत परम्परा प्रचलित हुई। यद्यपि खोज शोध करने पर ऐसी कलाकृतियां और भी उपलब्ध हो सकेगी पर आवश्यकता है त्याग एवं साधना की।

यद्यपि कलाकृति में भविष्यत काल के २४ तीर्थंकरों के नाम का उल्लेख नही है क्योकि प्रतिमाएँ इतनी छोटी हैं कि जिन पर नामोत्कीर्ण नही हो सकता था और चिंह या लाछन का प्रश्न ही नही उठता है क्योंकि शास्त्रों में भूत भविष्यत् (अतीत अनागत) काल के २४ तीर्थंकरों के चिन्ह या लाछनों का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है अतः प्रतिष्ठाचार्य भट्टारक महोदय ने श्रावक धर्मदास को यही सलाह दी होगी कि पूर्ण चौबीसी का निर्माण करा कर अन्त मे इसका मूल शीर्षक 'अनागत चौबीसी' रख दिया जाये। और आज सदियों बाद हमे ऐसी दुर्लभ कृति उपलब्ध हो सकी। दोनों चौबीसियों के चित्र प्रस्तुत हैं। इसके लिए भाई मक्खनलाल जी विशेष धन्यवाद के पात्र है।

करैरा ग्वालियर राज्य की एक प्रसिद्ध तहसील थी और एक मजबूत किला था। जो अब ध्वंशावशेष मात्र रह गया है। इसके भीतर इतनी अधिक ऊंचाई पर एक बड़ा गहरा तालाब है जिसमें जनश्रुति के अनुसार प्रतिवर्ष किसी न किसी व्यक्ति की मृत्यु होती आ रही है। यहां के राज्य ने झांसी की रानी महारानी लक्ष्मीबाई को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई लड़ने मे बड़ी मदद की थी। स्व० डा० वृन्दावन लाल जी वर्मा ने अपने उपन्यासों में करैरा का बड़ा महत्वपूर्ण वर्णन किया है। करैरा जाने के लिए झांसी से बसें चलती है। इतिहास एवं पुरातत्व के विशेषज्ञ एक बार इस गाव के मंदिर में स्थित ·न बहुमूल्य कृतियों को देखें और उनका गंभीर अध्ययन कर इस पर विशेष चर्चा करें। और 'अनागत चौबीसी' पर विशेष प्रकाश डालें। हो सकता है किसी ने 'अतीत चौबीसी' भी बनवाई हो जो भविष्य मे शोध खोज करने पर यत्र तत्र कही प्राप्त हो सके। जैसी की सीमंधर स्वामी की प्रतिमा बयाना मे मिल गई है।

अन्त में इतना ही उल्लेख करना चाहता हूं कि शिवपुरी जिला जैन पुरातत्व एवं कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस जिले में कोलारस, मगरौनी, नरवर, करैरा, शिवपुरी स्वयं, अमोला, आमोल, सखाया आदि

(शेष पृ० ९६ पर)

कुन्दकुन्द की कृतियों का संरचनात्मक अध्ययन*

☐ डा० बी० भट्ट, पटियाला (पंजाब)

जैन धर्म के इतिहास मे आ० कुन्दकुन्द का महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बरों के प्राचीन जैन सिद्धान्त के प्रस्तोता के रूप मे उनकी अच्छी ख्याति है। श्वेताम्बर सप्रदाय मे भी इनकी मान्यता है। ये दक्षिण भारत के सभवत: आन्ध्र क्षेत्र में लगभग तीसरी-चौथी सदी मे हुए थे। इनके ८४ ग्रथ बताये जाते है, लेकिन वर्तमान मे इनके केवल १५ ग्रथ उपलब्ध है जिनमे लगभग २००० गाथाये है इन ग्रन्थो की विषयवस्तु विविध एव व्यापक है। इनमे से लगभग आठ ग्रन्थ 'अष्टपाहुड' के रूप मे प्रकाशित है। इनमें से छह ग्रन्थो को 'छप्पाहुड' कहते है। इनका आलोचनात्मक अध्ययन शूब्रिग (कुन्दकुन्द एश्ट एड उनेष्ट, ZDMG, १०७, १६५७), डैनके (फैस्टश्क्रिप्ट जेकोबी, १६१०) तथा लायमान (उबरशिश्ट) ने किया है।

इन पन्द्रह ग्रन्थो मे हमे निश्चय नय (शुद्ध और परमार्थ नय) तथा व्यवहार नय शब्द मिलते है। समयसार, अनुप्रेक्षा और नियमसार मे इन पदो का उपयोग पर्याप्त मात्रा मे है। ये नय-युगल सामान्य सात नयो से भिन्न हैं। यह नय-युगल कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से इनका अध्ययन पूर्व मे नही किया गया है। सर्वप्रथम मैने ही अपने जर्मनी के प्रवास में इस रूप मे इनका अध्ययन प्रकाशित किया था। (ZDMG, Suppt. II १६७२)। अन्य विद्वानों की सुविधा के लिए मैं इस अध्ययन को पुन: प्रकाशित कर रहा हू लेकिन इसमें अनेक नई सूचनायें कुछ सक्षेप मे तथा कुछ विस्तार से दी गई हैं।

शूब्रिग ने छन्दभेद आदि के आधार पर आठ पाहुड़ों के मिश्रित रूप को निर्दशित किया था। कुदकुन्द के पन्द्रह ग्रन्थों में वर्णित नय-सम्बन्धी विषयवस्तु की परीक्षा तथा मूल्यांकन के आधार पर मैं भी शूब्रिग के मत का समर्थन करूंगा। ऐसा करने से पहले मैं शूब्रिग के पाहुड-अध्ययन का संक्षेपण भी करूंगा।

अष्टपाहुड़ में विभिन्न गाथाओं मे एक-दूसरे की अनुवृत्ति है। इसकी लगभग ५०० गाथाओं मे केवल सात श्लोक हैं और कुछ गीतिया है। इनमें उत्तमग्ग ३ निःलेवखा, ४, तिल-ओसे, ४, पावया (प्रव्रज्या), ३ के समान अनेक भाषायी अनियमितायें, रयणत्त (रत्नत्रय) ४, के समान संक्षेपण एवं छन्दपूर्ति के लिये दु (तु) य और म-(प्रत्यय) आदि के कालगरिमा के प्रतिकूल उपयोग, सहज-उप्पन्ना, १, कम्मक्खय कारण-निमित्त, १, वोसेत्था और चत्तदेहा आदि के समान पुनरुक्तिया, सच्चित्ता और अज्जीवा, ६, आत्तावन (आतावन), ५, आयत्तन (आयतन) ८, ग्गनं, २, निग्गोय, ५, ग्गमनं, १, ३ में जिन-मग्ग के बदले दंसणमग्ग के समान विचित्र द्वि-गावृत्तिया, भये (भ्रमयेत्ते), य (य:) सोपान, कान्तार, भभादेइ आदि के समान प्राकृत में सस्कृतीकरण के प्रयोग पाये जाते है।

इन पाहुडों की शैली भी अत्यन्त कमजोर है। डैनके के अनुसार, इसकी प्राकृत अपभ्रश से प्रभावित है। उदाहणार्थ इनमे श्रमण के स्थान पर सवन (३, ५, ६, ८), तथा तम-जम (८), तव-जव (८), जहा-तहा (८) आदि शब्द पाये जाते है। उपाध्ये का विचार है कि ये पाहुड जनसाधारण में पर्याप्त लोकप्रिय थे। सभवत: इन अपभ्रंशभाषी लोगों के कारण ही इनमें मिश्रण हो गया है। लेकिन इस सुझाव के समय उन्हे यह ध्यान नही रहा कि पद्यों में इस प्रकार के परिवर्तन सभव नहीं होते। इन तथा अन्य अनेक कारणों से (जिनका विवरण देना आवश्यक नहीं है, अन्यथा हम शूब्रिग के तर्कों को नही समझ पायेंगे) यह कहा जा सकता है कि ऐसे दुर्बल पाहुड़ कुन्दकुन्द के समान विद्वान् साधु के द्वारा रचित नही हो सकते।

कुन्दकुन्द के द्वारा रचित दो हजार गाथाओं के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें निश्चय-व्यवहार

*कै० च० शास्त्री अभि. समय मे पठित मूल अंग्रेजी शोधपत्र को मन्दलाल जैन द्वारा अनुदित कर प्रस्तुत किया गया है।

नय-युगल को दो रूपों में वर्णित किया गया है—रहस्यवादी और यथार्थवादी। ये दोनों रूप एक-दूसरे से भिन्न है और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। इस तथ्य पर अभी तक किसी भी विद्वान गवेषक ने प्रकाश नही डाला है।

रहस्यवादी रूप का उद्देश्य स्वानुभूति है। यह जीव और आत्मा को मानता है, परमार्थ मानता है।

तत्थेको विच्छिदो जीवो (समयसार, ४८)

अहमिक्को (समयसार, १९९)

इसके विपर्यास में, संसार किसी शुद्ध क्रिस्टल में वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान आभासी तत्व है (समयसार, २७८-७९)। रहस्यवादी विचारधारा केवल आत्मा की प्रकृति पर विचार करती है और उसकी अजीव (संसार) मे कोई विशेष रुचि नहीं है। जीव और अजीव का सम्पर्क केवल कल्पना (उपचार, समयसार, १०५) है। समयसार (२६६) मे बताया गया है कि यह सम्पर्क वास्तविक नही है, लेकिन यह संसार की वास्तविकता के मायाजाल को प्रकट करता है। यहाँ तक की गाथा ७ तथा १५२-५३ के अनुसार व्रत-उपवासादि चारित्र और रत्नत्रय भी सांसारिक वास्तविकता के क्षेत्र मे समाहित होते है। यद्यपि शास्त्रो मे इनका विधान किया गया है फिर भी ये अज्ञानी के मिथ्या गण है। समयसार की गाथा ३९० के अनुसार शास्त्र भी परम तत्व के विषय में अज्ञान है। इस गाथा की तुलना गाथा २०१ तथा प्रवचनसार की गाथा ३, ३९ की जा सकती है। इस प्रकार, रहस्यवादी के अनुसार संसार तब तक वास्तविक है जब तक आत्मा इसकी प्रकृति के विषय मे अज्ञान मे हैं। इसे वह ज्ञान और स्वानुभूति से ही जानता है।

१. उपरोक्त विवरण मे पाहुड़ो को निम्न प्रकार क्रमांकित किया गया है :

१. दर्शनपाहुड	४ बोधपाहुड	७. लिंगपाहुड
२ चरित्रपाहुड	५. भावपाहुड	८. शीलपाहुड
३. सूत्रपाहुड	६. मोक्षपाहुड	

रहस्यवादी दृष्टिकोण मे निश्चय नय केवल आत्मा से ही संबंधित है। यह अनन्यक, शुद्ध, नियत, मुक्त, अबद्ध और अस्पष्ट होता है। (समयसार, १४)। यह निश्चय नय व्यवहार नय को अस्वीकार करता है। समयसार की गाथा ११ और २७२ के अनुसार व्यवहार नय की किसी भी मान्यता को निश्चय नय अस्वीकार कर देता है। इस मत की तुलना समयसार, गाथा, ५६, अनुप्रेक्षा, ६०, ६५ तथा नागार्जुन की 'मूलमाध्यमिक कारिका' (१७, २४) से की जा सकती है :

व्यवहारा विरुध्यन्ते सर्व एव, न संशय............

तथा

सर्व संव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे ॥ २४, २६ ॥

रहस्यवादी दृष्टिकोण मे व्यवहार नय संसार से संबंधित है। वह इसे वास्तविक मानता है। वह जीव और अजीव के सम्पर्क एव उसके सांसारिक अनुभवो को भी वास्तविक मानता है (समयसार, १०७)। साथ ही, समयसार की गाथा ८ मे कहा गया है कि जिस प्रकार अनार्य को उसकी भाषा जाने बिना नही समझा जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ वास्तविक तत्त्व को व्यवहार के बिना नही समझा जा सकता इस गाथा की नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव के चतुरशतक की गाथा ८.१९ से तुलना की जा सकती है (भाषान्तरकार : विधुशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९३१) :

नान्यया भाषया शक्यो ग्राहयितुं यथा ।
न लौकिकां ऋते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥

चतुरशतक की यह गाथा अप्रामाणिक प्रतीत होती है। व्यवहारनय निश्चय नय की इस प्रकार सहायता करता है जिससे अन्त मे वह नष्ट हो जावे। यह उत्तरवर्ती वेदांत दर्शन के कन्टक न्याय के समान व्यवहार का व्याहार करता है। यह मत रत्नावली (नागार्जुन) के 'विशेषणानि विसंहर्त्यात्' तथा 'मूलमाध्यमिक कारिका' के २४.८ तथा १० मे भी तुलनीय है :

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृति-सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः ॥
व्यवहारं अनाश्रित्य, परमार्थो न विद्यते ।
परमार्थमनागम्य, निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

रहस्यवादी धारा के निश्चय और व्यवहार नय माध्यमिक दर्शन के परमार्थ और व्यवहार (संवृति या लोक संवृति) के समानान्तर हैं। यही नही, इनकी तुलना शंकर वेदान्त दर्शन से भी की जा सकती है। लेकिन

मनोरंजक तथ्य यह है कि कुन्दकुन्द के अनेक ग्रन्थों में से केवल समयसार में ही यह रहस्यवादी निरूपण विस्तार से किया गया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण दार्शनिक सिद्धान्तो के निदर्शन के लिये है। इसमें रत्नत्रय और उससे सबधित दार्शनिक धारणाओं पर बल दिया गया है। इस दृष्टिकोण को जैनों के सभी संप्रदाय मानते है। इस मत में जीव और अजीव-दोनों ही वास्तविक है। इनमे परस्पर संपर्क होता है: इनकी प्रकृति में परिणमन होता है जैसा कि प्रवचनसार की गाथा १, ४६ में तथा समयसार की गाथा १२२ में बताया गया है। इसके अनुसार जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा भौतिक जगत सभी वास्तविक है। (रत्नत्रय इत्यादि के विषय में नियमसार, अष्टपाहुड, समयसार, प्रवचनसार आदि देखिये)।

यथार्थवादी विचारधारा आत्मा की अनेकता मे विश्वास करती है। इसके अनुसार, प्रत्येक आत्मा का विस्तार शरीर के परिमाण तक सीमित होता है (पचास्तिकाय २७, ३४ तथा भावपाहुड, १४८)। जीव-अजीव के संपर्क में आने से कर्म और कषायों के आस्रव के कारण दूषित हो जाता है (समयसार, ४५, १६४-६५, १०६ आदि)। इससे जीव स्वय अपने को सासारिक क्रियाओ का कर्ता और भोक्ता समझने लगता है। इस प्रकार जीव सुख और दुख के ससार मे बध जाता है। जीव अपनी प्रकृति के विषय में अज्ञानी बना रहता है (समयसार, ६६)। जीवन के सुख-दुख से मुक्ति के लिये तपस्या और साधना करनी पड़ती है। इससे संवर और निर्जरा (समयसार, १६६-६७, १६४) होते हैं। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के विवरण में ही हमें जैन-धर्म की पारिभाषिक शब्दावली-उपयोग, परभाव, स्वभाव आदि मिलती है। यह कहना तर्कसगत होगा कि इस दृष्टिकोण का उद्देश्य आत्मानुभूति नही, आत्म-सुधार है।

इस विचारधारा के निश्चय नय में जीव स्वाभाविक परिवर्तनो का कर्ता और भोक्ता है (दर्शन, पाहुड़, ३०, शीलपाहुड़, २७, समयसार, २३)। जीव और अजीव दोनों ही स्वक-भाव मे शुद्ध और असंदूषित रहते है। जीव शुद्ध होता है, स्वभाव में परिणत होता है और अनेक परिवर्तनों का कर्ता होता है। (समयसार, ८२-८३)। यही तथ्य प्रवचनसार (११, ९२) तथा पंचास्तिकाय (६७) में भी कहा गया है।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव रत्नत्रय है। उपयोग इससे समीपत: संबंधित है अथवा इसे रत्नत्रय हेतु प्रयुक्त किया जाता है (प्रवचनसार, ११ ६३, नियमसार, १०, समयसार, १६, ६४-६५)। समयसार (३५६) के अनुसार, आत्म निश्चय नय सेदृष्टा भी होता है। इसी प्रकार पुद्गल भी असदूषित अवस्था में स्व भाव स्थित होता है। यह भी स्वय के परिवर्तनों का कर्ता है (समयसार, ७८, ११२-१३ और पंचास्तिकाय ६८, ८७)।

यथार्थवाद में व्यवहार नय का संबन्ध पर भाव या द्वितीयक दशाओं में रहता है। जीव और अजीव जब स्वय के या एक-दूसरे के सम्पर्क मे रहते है, तब परभाव

(पृ० ८० का शेषांश)

रूपोवन के कारण वह परिवर्तन परिलक्षित होता है और वह भी पुद्गल-द्रव्य के स्वभाव के कारण उनकी पर्यायें बदलती रहती हैं। काल-द्रव्य उस परिणमन एव परिवर्तन मे सहायक होता है। परन्तु पुद्गल-द्रव्य का कभी भी नाश नही होता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप मे स्थित रहते हुए अपनी पर्यायो मे परिणमन करता है। द्रव्य के उस यथार्थ स्वरूप को समझना ही सम्यक् ज्ञान है और वही आत्म-विकास का सही मार्ग है।

□□□

(पृ० ९३ का शेषांश)

अनेकों स्थान हैं जहां पर शोध खोज एव खुदाई की आवश्यकता है। मगरौनी में तो मुझे अपभ्रंश के महाकवि रइधू की कुछ रचनाओं के उपलब्ध होने की भी आशा है। जब मैं नरवर से मगरौनी जाना चाहता था तो लोगो ने बताया था कि वहां कुछ हस्तलिखित ग्रंथ है पर वहाँ के चौधरी किसी को दिखाते नही हैं। समाज को इस दिशा मे सतर्क और सजग होकर इस शोध कार्य को कराना चाहिए। जैन पुरातत्वविदो को शिवपुरी जिला शोध खोज के लिए निश्चय ही वरदान स्वरूप सिद्ध होगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु अनामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् भवतु दुःखभाग्॥

श्रुत कुटीर
६८, कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर
दिल्ली-११००३२

□□□

(विभाव) में होते हैं। इस विचारधारा में पुद्गल का यह स्वभाव ही है कि वह बिना किसी की सहायता के भी दूसरे पदार्थों के संपर्क में आये। यही नहीं, इस संपर्क में संदूषण के बावजूद भी जीव और अजीव अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। यथार्थवादी व्यवहार नय में रत्नत्रय में भी यह तथ्य समाविष्ट रहता है कि जीव ज्ञाता है और दृष्टा है और यह अन्य पदार्थों से किया करता है। यही स्थिति पर्यायों पर भी लागू होती है (समयसार, ३६१-६५)।

निश्चय नय के अनुसार, पुद्गल स्वभावतः परमाणुरूप होता है और व्यवहार नय के अनुसार, इसका विभाव स्कन्ध रूप होता है। यह परभाव स्वभाव में विकृति या संदूषण का परिणाम है (नियमसार, २९ और पंचास्तिकाय, ८२)।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर है। जिन ग्रन्थों पर हम चर्चा कर रहे है, उनमें से केवल समयसार में ही रहस्यवादी धारा का विशद निरूपण है। इसे हम **समयसार का रहस्यवाद** कह सकते हैं। फिर भी, यह ध्यान में रखना चाहिये कि समयसार की ४३९ गाथाओं में से ३०३ में यथार्थवादी विचाराधारा निरुपित हुई है। हमारी संरचनात्मक विश्लेषण से हम यह कह सकते हैं कि समयसार का वर्तमान रूप समांग नहीं है। यह संभव है कि समयसार की रहस्यवादी विचारधारा की १३६ गाथायें एक व्यक्ति ने रची हों जो कुन्दकुन्द थे। एक-दूसरे की विरोधी दो विचारधाओं को समाहित करने वाले ग्रन्थ का एक ही कर्ता नहीं माना जा सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल समयसार निम्न प्रकार से तीन अध्यायों में विभाजित हो :

प्रथम अध्याय गाथा	१-१४४
द्वितीय अध्याय गाथा	१५१-२७२
तृतीय अध्याय गाथा	२७६-४१५

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भारतीय दर्शनों में रहस्यवादी विचारधारा का आविर्भाव प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत में हुआ था। तृतीय शताब्दी के नागार्जुन ने बौद्ध रहस्यवाद का प्रसार किया। यह संभवतः आन्ध्र का ही दार्शनिक था। इसे ही आन्ध्र के ही कुन्दकुन्द (३-५ सदी) ने समयसार के रहस्यवाद में विकसित किया। यही रहस्यवाद बाद में ब्राह्मण रहस्यवाद के रूप आठवीं शताब्दी में शंकर ने अपनाया और निरूपित किया। शंकर भी संभवतः मालाबार या आन्ध्र के समीपवर्ती दक्षिण भारत क्षत्र में जन्मे थे।

मैं यहां यह भी बता देना चाहता हूं कि कुछ दिगम्बराचार्यों ने उत्तरवर्ती काल में भी कुन्दकुन्द की इस रहस्यवादी विचारधारा को न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में निरूपित किया है। इसके विपर्यास में श्वेतांबर विद्वान् कुन्दकुन्द की इस विचारधारा को शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। नयोपदेश (८०-८२) के कर्ता यशोविजय समान उत्तरवर्ती श्वेताबराचार्यों ने इस विचारधारा की आलोचना भी की है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में वे इस विचारधारा से प्रभावित भी हो गये थे। लेकिन यह एक तथ्य है कि श्वेताबरों में इस रहस्यवादी विचारधारा को विशेष स्थान नहीं मिला है। इस दृष्टि से हम औपपातिक की गाथा १९ (सुत्तंगम् ४, पृष्ठ ३९) और आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र-संस्करण, पृष्ठ ४४६) की गाथा ९८३ को समयसार की गाथा ८ तथा चतुरशतक की गाथा ८.१९ से तुलना कर सकते हैं। समयसार की गाथा ३२७ तथा आवश्यक निर्युक्ति के मत परस्पर तुलनीय हैं। ये ग्रन्थ श्वेताबराचार्यों के हैं। इसके विपर्यास में, यथार्थवादी विचारधारा दोनों ही समुदायों में एक समान रूप से अभिस्वीकृत की गई है।

—जैन विद्या विभाग, पंजाबी यूनिवर्सिटी
पटियाला (पंजाब)

संदर्भ

१. समयसार सं. प. कैलाशचन्द्र शास्त्री, कुन्दकुन्द प्राकृत संग्रह में जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६०
२. अनुप्रेक्षा पूर्वोक्त
३. आठ भक्तियां पूर्वोक्त
४. नियमसार एस. बी. जे. सीरीज ९, जे. एल. जैनीट्रस्ट, १९३१
५. अष्टपाहुड़ हिम्मतनगर प्रकाशन, संवत् २०२५
६. रयणसार हिम्मतनगर, १९६७
७. प्रवचनसार सं. ए. एन. उपाध्ये, रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, १९६४
८. पंचास्तिकाय सार, सं. ए. चक्रवर्ती नायनार, एस. बी. मे. जे, १९२०

संक्षेपण

एस. बी. जे.—सेकेण्ड बुक्स आफ दी जैनाज, आरा लखनऊ
ZDMG—जीड श्क्रिफ्ट डेट ड्यूशेन मोगेनलेण्डिशेन गेशामशन ४२ बीजबेडेन (४० जर्मनी)

बाहुबलि-चरित्-विकास एवं तद्विषयक वाङ्मय

☐ डा० राजाराम जैन, आरा

भगवान् बाहुबलि प्राच्य भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रतीक हैं। उनके चरित के माध्यम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, राजस्थानी एव हिन्दी के कवियों ने समकालीन राजनैतिक, सामाजिक एव पारिवारिक विविध पक्षों को मार्मिक-शैली मे मुखरित किया है। राजनैतिक दृष्टि से पोदनपुर में उनकी आदर्श राज्य-व्यवस्था, सामन्ती युग में भी प्रजातन्त्रीय विचारधारा तथा शत्रु राजाओं के समक्ष बल, वीर्य, पुरुषार्थ एवं पराक्रम का प्रदर्शन अपना विशेष महत्त्व रखता है। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मी एवं सुन्दरी नाम की अपनी बहिनों के साथ उनका ७२ कलाओं का ग्रहण वस्तुत: उनको स्वस्थ, बलिष्ठ, सुरुचि सम्पन्न एवं समृद्ध समाज की परिकल्पना का प्रतीक है। इसी प्रकार उनका पारिवारिक-जीवन भी बड़ों के प्रति आदर-सम्मान की भावना के साथ-साथ स्वतन्त्र एवं स्वाभिमानी जीवन जीने का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है। अध्यात्म-साधना की दृष्टि से भी उनका विषम-उपसर्ग-सहन तथा कठोर तपश्चरण करने का उदाहरण अन्यत्र खोजे नहीं मिलता। विश्व में इस प्रकार के उदात्त एवं सर्वांगीण जीवन बिरले ही मिलते है। जो होंगे भी, उनमे बाहुबलि का स्थान निस्सन्देह ही सर्वोपरि है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ युगों-युगों से साहित्यकार अपनी साहित्यिक कृतियों मे उन्हे महानायक के रूप मे चित्रित कर अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलियां व्यक्त करते रहे, तो दूसरी ओर शिल्पकार भी अपने शिल्प-चातुर्य-पूर्ण विशाल-मूर्तियो का निर्माण कर उनके चरणों मे निरन्तर अपनी पूज्य बुद्धि व्यक्त करते रहे।

आधुनिक भाषा मे कह सकते हैं कि भ० बाहुबलि भारतीय भावात्मक एकता के प्रतीक रहे हैं। यदि वे उत्तर-भारत के अयोध्या में जन्मे और पोदनपुर, जो कि वर्तमान में सम्भवत: पाकिस्तान में कहीं पर स्थित है, से सम्बद्ध थे, तो उन्हें धवल यश एवं प्रतिष्ठा मिली दक्षिण-भारत मे। उत्तर भारतीय उस महापुरुष के चरित का अंकन, चाहे वह साहित्यिक हो और चाहे शिल्पकलात्मक, उसे प्रथमत: एवं अधिकांशत: दक्षिण भारतीयों ने ही विशेष रूपेण किया है। उनकी लेखनी एवं छैनी से ही उनका काव्यात्मक, कलात्मक, आकर्षक एवं धवल रूप इतना भव्य बन सका कि उनको देखते, सुनते एवं पढ़ते ही भावुक हृदय पाठक भाव विभोर हो उठता है। आठवीं सदी के गंग नरेश राचमल्ल के परम विश्वस्त मन्त्री महामति चामुण्डराय प्रथम महापुरुष थे, जिन्होने अपनी तीर्थस्वरूपा माता की कल्पना को साकार बनाने हेतु सर्वप्रथम ५७ फीट ऊँची बाहुबलि की भव्य मूर्ति का निर्माण श्रमणबेलगोल (कर्नाटक) में करवाया। कला के क्षेत्र मे यह युक्ति सुप्रसिद्ध है कि—"मूर्ति जब बहुत विशाल होती है, तब उसमे सौन्दर्य प्राय: नहीं ही आ पाता है। यदि विशाल मूर्ति में सौन्दर्य आ भी गया तो उसमें दैवी-चमत्कार का अभाव रह सकता है, किन्तु गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति मे तीनों तत्त्वों के मिश्रण से उसमे अपूर्व छटा उत्पन्न हो गई है।" (दे० श्रवणबेल्गोल शिलालेख सं० २३४)।

हमारा जहाँ तक अध्ययन है, बाहुबलि की (अर्थात् गोम्मटेश्वर की) यही सर्व प्रथम निर्मित एवं उत्तुंगकाय सुन्दरतम प्राचीन मूर्ति है। इससे प्रेरित होकर धीरे-धीरे अन्यत्र भी बाहुबलि की मूर्तियों का निर्माण होने लगा। दक्षिण-भारत की इस परम्परा ने उत्तर-भारत को भी पर्याप्त प्रेरित-प्रभावित किया है और अब यत्र-तत्र बाहुबलि की मूर्तियों का निर्माण होने लगा है। प्रारम्भ मे ये मूर्तियां पाषाण से निर्मित होती थी किन्तु अब धातु की भी प्रतिमाएँ बनने लगी हैं।

बाहुबलि-चरित के लेखन के प्रमाण ईस्वी की प्रथम

सदी से उपलब्ध होते हैं किन्तु उस समय वह सर्वथा अविकसित था। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड की ४४वीं गाथा में कठोर तपश्चर्या के प्रसंग में उनका उल्लेख किया है किन्तु वह विकसनशील अवश्य बना रहा। ७वीं सदी तक उसकी कथा में पर्याप्त विकास हुआ। उसे आलंकारिक रूप भी प्रदान किया गया, यद्यपि कथा "प्रकरण" के रूप में बनी रही। १३वीं सदी से बाहुबलि पर स्वतन्त्र काव्यों की रचनाएँ लिखी जाने लगीं। आधुनिक शैली में भी उनके ऊपर पर्याप्त लिखा जा रहा है किन्तु आश्चर्य यही है कि तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शैली से बाहुबलि-साहित्य पर स्तरीय शोधकार्य करने की ओर अभी किसी का ध्यान नहीं गया है और इसी कारण बाहुबलि-सम्बन्धी एक विशाल भारतीय-वाङ्मय एवं तत्सम्बन्धी पुरातत्त्व अभी उपेक्षित जैसा ही पड़ा है। साहित्य के शोधार्थियों के लिए तद्विषयक सन्दर्भों तथा प्रकाशित एवं अप्रकाशित कुछ प्रमुख ग्रन्थों की एक सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है :—

ग्रन्थकार-	ग्रन्थ	काल	विशेषता
आचार्य कुन्दकुन्द	भावपाहुड (प्राकृत)	वि. स. की प्रथम सदी	बाहुबलि का नामोल्लेख मात्र तथा कठोर तपस्या की प्रशंसा
आचार्य विमलसूरि	पउमचरिय (प्राकृत)	ईस्वी की तीसरी सदी	संक्षिप्तकथा-विस्तारतथा दृष्टि एवं मुष्टि युद्ध का सर्वप्रथम वर्णन
यतिवृषभ	तिलोयपण्णत्ती (प्राकृत)	ईस्वी की ४-५वीं सदी	नामोल्लेख मात्र
,,	धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)	६वीं सदी	सामान्य कथा विस्तार एवं दृष्टि, वाणी एवं मल्ल युद्ध के उल्लेख
संघदासगणी	वसुदेव हिण्डी (प्राकृत)	५वीं-छठी सदी	
धर्मदासगणी	उपदेशमाला (संस्कृत)	,, ,,	
रविषेण	पद्मपुराण ,,	वि. स ७६१	

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
जिनसेन (द्वि०)	आदिपुराण (संस्कृत)	वि. सं. ८४६
पम्प	आदिपुराण (कन्नड)	वि. सं. ९९८
पुष्पदन्त	महापुराण (अपभ्रंश)	वि. सं. १०२२
जिनेश्वरसूरि	कथाकोषप्रकरण (संस्कृत) (प्राकृत)	वि. सं. ११०८
सोमप्रभसूरि	कुमारपालप्रतिबोध (संस्कृत) (प्राकृत)	वि.सं. १२५२
शालिभद्रसूरि	भरतेश्वर बाहुबलिरास (राजस्थानी)	वि. सं. १२६८
हेमचन्द्राचार्य	नाभेय-नेमि द्विसन्धान-काव्य (संस्कृत)	१३वीं सदी विक्रमी
अमरचन्द्र	पद्मानन्द महाकाव्य	१४वीं सदी विक्रमी
धनेश्वर	शत्रुञ्जय महात्म्य (संस्कृत)	१४वीं सदी विक्रमी अप्रकाशित
रइधू	तिसट्ठिमहापुराण पुरिसचरिउ (अपभ्रंश)	१५वीं सदी विक्रमी अप्रकाशित
रत्नाकर वर्णी	भरतेश वैभव (कन्नड)	१५वीं सदी विक्रमी
कुमुदचन्द्र	बाहुबलि छन्द (संस्कृत)	१५वीं सदी विक्रमी
दोड्डय	भुजबलि शतक (कन्नड)	१६वीं सदी विक्रमी
सकलकीर्ति	वृषभदेव चरित	१६वीं सदी विक्रमी
चन्द्रम	कार्कलद्गोम्मटेश्वर-चरिते (कन्नड)	१६वीं सदी विक्रमी
पंचवण्ण	बाहुबलिचरिते (कन्नड)	१७वीं सदी विक्रमी
पुण्यकलशगणी	भरतबाहुबलि-महाकाव्यम् (संस्कृत)	१७वीं सदी विक्रमी
पामो	भरतभुजबलि चरितम् (संस्कृत)	१८वीं सदी विक्रमी
अज्ञात	भरतराजदिग्विजय (वर्णन भाषा (हिन्दी)	१८वीं सदी विक्रमी
लक्ष्मीचन्द्र जैन	अन्तर्द्वन्द्वों के पार	२०वीं सदी विक्रमी
अक्षय कुमार-जैन	जय गोम्मटेश बाहुबलि	२०वीं सदी विक्रमी

उक्त बाहुबलि-वाङ्मय के आधार पर बाहुबलि-कथा विकास सम्बन्धी निम्न तथ्य सम्मुख आते हैं—

१. प्रारम्भ में अर्थात् दूसरी सदी तक के बाहुबलि-चरित के विषय में सामान्यतया यही बताया गया है कि वे (बाहुबलि) महान् बलिष्ठ एवं तपस्वी थे। यह चर्चा मात्र १-२ गाथाओं में ही मिलती है।

२. तीसरी सदी से कथा में कुछ विस्तार मिलने लगता है। दृष्टि एवं मुष्टि युद्ध का सर्वप्रथम उल्लेख विमलसूरि कृत पउमचरिय में मिलता है।

३. छठवीं सदी में दृष्टि एवं मुष्टि के साथ-साथ मल्लयुद्ध की चर्चा मिलने लगती है। फिर भी कथावस्तु संक्षिप्त ही बनी रही।

४. आठवीं सदी के प्रारम्भ में बाहुबलि का आलंकारिक वर्णन मिलने लगता है। इस दिशा मे महाकवि रविषेण अग्रगण्य हैं।

५. १३वीं सदी से बाहुबलि पर स्वतन्त्र रचनाएं लिखी जाने लगी। इसमें शालिभद्रसूरि द्वारा लिखित भरतेश्वर-बाहुबलिरास बाहुबलिचरित की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, रासा साहित्य भी यह आद्यग्रन्थ है।

६. अपभ्रंश मे आद्य स्वतन्त्र बाहुबलिचरित महाकवि धणवाल कृत है जो अपभ्रंश के महाकाव्यों मे वीररस प्रधान होने के कारण अपनी विधा की दृष्टि विशेष महत्त्वपूर्ण है।

७. अद्यावधि ज्ञात एवं उपलब्ध बाहुबलि-चरितों में १५वीं सदी के महाकवि रत्नाकर वर्णी द्वारा कन्नड-भाषा में लिखित "भरतेश-वैभव" सर्वाधिक सशक्त, मार्मिक तथा पाठकों को झूमा देने वाली महाकाव्य शैली की रचना सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई है। सुनते हैं कि उनके समकालीन किसी राजा ने उस कृति को सुन कर कवि एव कृति दोनों को ही सम्मानित कर हाथी पर उसकी सवारी निकाली थी।

८. प्रो० डा० विद्यावती जैन (आरा) के एक बाहुबलि-साहित्य सर्वेक्षण के अनुसार[1] अभी तक तद्विषयक अनेक रचनाओं (मूल एवं सामान्य समीक्षात्मक) की जानकारी मिली है। मेरी दृष्टि से उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(क) प्रकरण-साहित्य— (ज्ञात एवं प्रकाशित-प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़ राजस्थानी एवं हिन्दी मे लिखित ग्रन्थ संख्या)—२१

(ख) स्वतन्त्र-साहित्य—(ज्ञात एवं प्रकाशित-प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, राजस्थानी एवं हिन्दी मे लिखित ग्रन्थ संख्या)—१४

(ग) स्वतन्त्र-साहित्य—(ज्ञात, अप्रकाशित)—३०

(घ) प्रकरण अथवा स्वतन्त्र साहित्य—(विविध भाषात्मक अज्ञात प्रकाशित अथवा अप्रकाशित ग्रन्थ) —अनेक

(च) बाहुबलि विषयक समीक्षात्मक शोध-निबन्ध— (विविध भाषात्मक, ज्ञात एव प्रकाशित)—३१

(छ) बाहुबलिविषयक समीक्षात्मक शोध-निबन्ध— (विविध भाषात्मक अज्ञात प्रकाशित)—अनेक

९. बाहुबलि-वाङ्मय एवं पुरातत्व पर अभी तक कोई भी स्तरीय शोध कार्य नही हुआ है। बहुत सम्भव है कि सिन्धुघाटी सभ्यता में कायोत्सर्ग-मुद्रा की जो नग्न मूर्तियाँ मिली हैं वे भगवान बाहुबलि की हों? श्रमण संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य को नए आयाम प्रदान करने के लिए इस अद्यावधि उपेक्षित एवं सर्वथा अचित वाङ्मय एवं पुरातत्व पर स्तरीय शोध कार्य हेतु शोधार्थियो को प्रोत्साहित करने की तत्काल आवश्यकता है।

१०. भ० बाहुबलि भारतीय भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। अतः उसका सुन्दर एवं सर्वोपयोगी प्रकाशन तो होना ही चाहिए साथ ही उसे चित्रात्मक एवं अल्पमोली भी बनाया जाय जिससे वह महलों के साथ-साथ झोंपड़ों में भी समान रूप से पहुंच सके।

रीडर एवं विभागाध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह० दि० जैन० कालेज, आरा
निवास : महाजन टोली नं० २, आरा (बिहार)

१. दे० भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वार प्रकाश्यमान—बाहुबलि स्मारक ग्रन्थ का—"युगों-युगों में बाहुबलि : बाहुबलि-चरित विकास, इतिहास, समीक्षा एवं साहित्यिक सर्वेक्षण नामक शोध निबन्ध।

महाकवि पुष्पदंत का बाहुबलि-आख्यान

☐ डा० देवेन्द्रकुमार जैन, इन्दौर

९८१ ई० मे चामुण्डराय की प्रेरणा से श्रवणबेलगोला में बाहुबली की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठापना हुई। इससे तेरह वर्ष पूर्व ९६८ में मंत्री भरत के अनुरोध पर महाकवि पुष्पदंत अपभ्रंश में महापुराण की रचना कर चुके थे। जो बहुत बड़ा काव्यात्मक प्रयोग था। इससे पहले संस्कृत को ही पुराण काव्य लिखने के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुष्पदंत ने अकेले त्रेसठशलाका पुरुषों के चरितों को अपभ्रंश जैसी लोकभाषा में कलात्मक अभिव्यक्ति देकर सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति पर किसी एक भाषा का अधिकार नहीं माना जा सकता। महापुराण के 'नाभेयचरित'। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का वर्णन है, बाहुबलि आख्यान उसी का एक अंश है, जो तीन संधियों में सीमित होने पर भी कवि की सृजनशीलता का श्रेष्ठ नमूना है, जो सामंतवाद की पृष्ठभूमि पर लिखित है। सामंतवाद, मूल्य विहीन राजनीति का सबसे घिनौना रूप था। पुष्पदंत का खुद, यह भोगा हुआ सत्य था। एक ओर मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण के साथ सिंध पर विदेशी आक्रमणों को इसकी चिन्ता नहीं थी। वे आपसी चढाइयों में एक-दूसरे को नीचा दिखाने और लूटपाट में लगे थे। महापुराण, और खासकर बाहुबली का आख्यान लिखते समय कवि के मन में यह चेतना थी।

बाहुबली का आख्यान—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के चरित से संबद्ध है, क्योंकि वे उनकी दूसरी पत्नी सुनंदा के इकलौते बेटे थे। पहली पत्नी यशोवती से सौ पुत्र और पुत्री थी—ब्राह्मी। बाहुबली की बहन थी सुंदरी। बाहुबलि आख्यान तब प्रारंभ होता है जब भरत दिग्विजय से लौट कर अपने भाइयों के पास यह संदेश भेजता है कि वे उसकी अधीनता मान लें। चक्रवर्ती सम्राट् बन कर भरत अपनी गृह नगरी लौट रहा है। कैलाश पर्वत पर ऋषभ तीर्थंकर की वंदनाभक्ति कर, जब भरत चलता है, तो उसकी सेना के मार्ग से बड़े-बड़े पहाड़ समतल हो गए, कौन जल कीचड़ नहीं हुआ ?

> होइ गिरित्थलु खिविसें समथलु।
> किण किण किर कद्दमियउ जलु ॥
> किण किण संचूरियउ वणु।
> किण किण धूली जायउ तणु ॥

भरत के स्वागत में चहल-पहल का क्या पूछना। कुमकुम का छिड़काव कपूर की रंगोली भौरों से गूंजते हुए पुष्पों की वर्षा, कल्पवृक्षों के वंदनवार, घर-घर गाए जाते हुए, भरत के गीत। कुछ स्त्रियों के द्वारा दूब, दही सरसों और चन्दन ग्रहण किया जा रहा है जब कि अन्यों के द्वारा दर्पण। सुरकन्या मंगल गान कर रही हैं :—

> 'कुंकुमेण छडउल्लउ दिज्जइ।
> कप्पूरें रंगावलि किज्जइ ॥
> घिप्पइ कुसुम करंबु सलवणु।
> बज्झइ सुरतरु-पल्लव तोरणु ॥
> घरि घरि गाइज्जइ जिणणंदणु।
> दोव दहिय-सिद्धत्थय चंदणु ॥
> दप्पणु कलसु धरिज्जइ अण्णहिं ॥
> उग्घोसिउ मंगलु सुरकण्णहिं ॥

यह सब इसलिए हो रहा है क्योंकि भरताधिप समस्त धरती जीत कर, और साठ हजार वर्षों तक दिग्विजय की क्रीड़ा कर अयोध्या में प्रवेश कर रहा है। उसकी क्रीड़ा जरूर पूरी हो चुकी होगी, परन्तु उसके चक्ररत्न की क्रीड़ा अभी पूरी नहीं हुई। वह अयोध्या की सीमा पर रुक जाता है क्योंकि दैवी विधान के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए अपने ही घर के भाइयों को जीतना बाकी है। चक्र के स्थिर होने पर कवि की कल्पना सक्रिय हो उठती है :—

'सुइघरि णं अण्णाय विढत्तउ ।
परपुरिसाणुराइ सइचित्तु व
परदासत्तब्भि सबसित्तु व
मायाणेहणि बंधणि मित्तु व
अबाणिपाविट्ठु चित्तु व
घुणय-विलीणइ दिण्णउ भत्तु व
रइरसतुरियइ णवउ कलत्तु व ।।

चक्र अयोध्या में वैसे ही प्रवेश नहीं करता, जैसे, पवित्र घर मे अन्याय से कमाया हुआ धन, दूसरे पुरुषों के अनुराग में सती का चित्त, जैसे दूसरों की दासता में स्वाधीन वृत्ति (चित्त), जैसे मित्र छल-कपट पूर्ण स्नेह बन्धन में, जैसे पापी का चित्त पात्रदान में, जैसे दिया हुआ भात (भोजन) अरुचि से पीड़ित व्यक्ति में, जैसे नई दुलहिन रतिरस से चंचल व्यक्ति के मन में प्रवेश नहीं नहीं करती।

ठहरा हुआ चक्र ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोपाग्नि का ज्वला मंडल हो। जैसे नगर की लक्ष्मी के कान का कुंडल हो, जैसे भरत के प्रताप से कायर हुआ सूर्य बिंब हो।

णं कोवाणल जाला मंडलु ।
णं पुरलच्छिइ परिहिउ कुंडलु ।।
भरहपयावें कायरिभावउ ।
भाणुबिंबु णं छज्जइ ।।२/१६।।

भरत के दूत, भाइयों के सामने बड़े भाई की अधीनता मान लेने का प्रस्ताव रखते है, भरत के सगे निन्यावें भाई गुलामी जिन्दगी जीने के बजाय सन्यास ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु सुनंदा का बेटा बाहुबली न तो प्रस्ताव स्वीकार करता है और न अधीनता मानता है, वह भाई की प्रभु-सत्ता को चुनोती देने से नहीं चूकता। उसका मुख्य तर्क है कि दुखों का नाश करने वाले महीश्वर (ऋषभ तीर्थंकर) ने नगर और देश से सीमित जो प्रभुसत्ता मुझे दी है वह मेरा लिखित शासन है—उसका अपहरण कौन कर सकता है? अपने स्वार्थ और सता की घिनौनी प्रवृत्ति को राज-नीति का रूप देने वाले भाई के दूत से वह कहते हैं?

लाभणियं सहेउणा मयरकेउणा एत्थकहिं मि जाया।
जे पर दविणहारिणो कलह कारिणो ते अयम्मि राया ।।

बुड्ढउ जंबउ सिव संविज्जइ ।
एण णाइं महु हासउ दिज्जइ ।।
जो बलवंतु चोरु सो राणउ ।
णिब्बलु पुणु किज्जइ णिप्राणउ ।।
हिप्पइ मृगहु मृगेण जि आमिसु ।
हिप्पइ मणुयहु मणुएण जि वसु ।।
रक्खाकंखइ जूहु रएप्पिणु ।
एक्कहु फेरी आण लएप्पिणु ।।
ते जि वसंति तिलोइ गविट्ठउ ।
सीह हु केरउ वंदु ण दिट्ठउ ।।
माणभंगि वर मरणु ण जीविउ ।
एहय दूय सुट्ठु महं भाविउ ।।
आवउ भाउ घाउ तहु दंसमि ।
संझाराउ व खणि विद्धंसमि ।।

तर्क देकर कामदेव बाहुबली कहते हैं—चाहे वे यहां पैदा हुए हों या और कहीं, जो दूसरो के धन का अपहरण करने वाले और झगड़ा करने वाले हैं, वे इस दुनिया मे राजा होते हैं। बूढ़ा सियार लोककल्याण की बात करता है यह देखकर मुझे हंसी आती है। निर्बल को और निष्प्राण बनाया जाता है, पशु के द्वारा पशु के मांस का अपहरण किया जाता है, और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के धन का। रक्षा की आकांक्षा के नाम पर गिरोह बना कर, और किसी एक की आज्ञा मान कर ये लोग निवास करते हैं, मैंने तीनों लोकों की छानबीन कर ली है। सिंहों का गिरोह कहीं दिखाई नहीं दिया। मान के भंग होने पर, मर जाना अच्छा, जीना अच्छा नहीं, हे दूत, मुझे यह अच्छा लगता है। भाई आए मैं उसे घात दूंगा, और संध्या की लालिमा की तरह एक क्षण मे ध्वस्त कर दूंगा।

बाहुबली के उत्तर को दूत भरत के सम्मुख इन शब्दो में रखता है:

'विसमुदेव बाहुबलि णरेसरु ।
णेहु ण संधइ संधइ गुणि सरु ।।
कज्जु ण बंधइ बंधइ परियरु ।
संधि ण इच्छइ इच्छइ संगरु ।।
पइं णाउ पेक्खइ भुय बलु ।
आण ण लालइ-चालइ णियकुलु ।।

माणु ण छंडइ छंडइ भयरसु ।
वइवु ण चिंतइ चिंतइ पोरिसु ।।

हे देव बाहुबली अत्यन्त विषम राजा है, वह स्नेह का संधान नहीं करता, डोरी पर तीर का संधान करता है, वह कार्य नहीं साधता, अपना परिकर साधता है, वह संधि नहीं चाहता, युद्ध चाहता है वह तुम्हें नही देखता, अपना बाहुबल देखता है । वह तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता अपने छल का पालन करता है । वह मान नहीं छोडता, भयरस छोड़ता है !

दूत के इस कथन के साथ सूरज डूबता है और कवि डूबती किरणो की रक्ताभा, सिंदूरी क्षितिज, आकाश-कामिनी रजनी और सूर्य को लेकर, अपनी अपार कल्पना शक्ति से प्रकृति के बिम्ब खड़े करता है जिनमे आकाश की लक्ष्मी सूर्य के रूप मे अपना शिरोमणि अस्ताचल को निवेदित कर रही है कि लो जब भाग्येश ही नही रहा, तो तो उसके प्रतीक का क्या करूगी, निशा वधू ने मानो दिवस के सामने शिखाओ से संतप्त, अत्यंत आरक्त दीप प्रज्ज्वलित कर दिया कि जिससे वह प्रवेश न कर सके । मानो सामने आई हुई उत्तर दिशा रूपी वधू का चन्द्रमुख खोलकर जल रूपी लक्ष्मीने सिंदूर का पिटारा दिया हो । धीरे-धीरे संध्याराग फैलता है पहाड़ नदियां और घाटिया उसमे डूब जाती हैं, लगता है सब कुछ लाक्षारस में डूब गया हो । सध्याराग को कामदेव की आग समझता हुआ कवि कहता है कि सहनशीलता को समाप्त करने वाला तपस्वियों और युवतियों को क्षुब्ध करने वाला कामदेव चूंकि मानव मन मे नहीं समा सका, इसलिए दशों दिशाओं मे दौड़ रहा है, अब उस संध्याराग की ज्वाला को अंधकार रूपी जल की लहरें शांत कर रही हैं, जिस संध्याराग को केशर समझा जा रहा था उसे अन्धकार के सिंह ने उखाड़ फैंका जिसे संध्याराग रूप वृक्ष समझा जा रहा था, उसे अंधकार के गजराज ने उखाड़ कर फेंक दिया ।।२४/१६

संध्याराग के विजेता अंधकार को हरा कर चन्द्रमा ने संसार पर अपना आधिपत्य जमा लिया । उसका प्रकाश गोखों में घुसता है, स्तन तल पर आंदोलित होता है, वह वधू के हार के समान दिखाई देता है । रंध्रों के आकार का होकर, मार्जारों के लिए दूध की आशंका उत्पन्न कर रहा है । कामरत जोड़ों के पसीने की बूंदें, उनसे आलोकित होकर इस तरह चमक उठती है जैसे सांप के मणि हों । इसके बाद कवि सामंतों की रतिक्रीड़ा का वर्णन करता है।

सूर्योदय होने पर जैसे-जैसे सूर्य बिम्ब ऊपर उठता है, उसकी लालिमा (उषाराग) कम होती जाती है इस प्रकार वह समस्त राग चेतना का त्याग करने वाले अरहंत की तरह परमउन्नति को प्राप्त होता है ।

'राउ मुयंतु तिगुणसंजणउ ।
अरहंतु व रवि उण्णइं पत्तउ ।।

रागचेतना की दो ही प्रवृत्तियां हैं या तो वह दिन में सूर्य की तरह विश्व को आक्रांत करेगी, या रात की चांदनी में आत्मरति मे डूबी रहेगी प्रकृति के दृश्य बदलते हैं, विश्व का घटना चक्र घूमता है, जीवन चेतना राग-विराग की धुरी पर घूमती है ।

आज फिर सवेरा है, अरहंत की तरह सूर्य रक्ताभा छोडकर सिर के ऊपर है । परन्तु बाहुबली मनुष्य के द्वारा मनुष्य के अधिकारों को हड़पे जाने की प्रवृत्ति के खिलाफ हैं, भले ही हड़पने वाला उसका भाई हो । वह लड़ने का निश्चय करते हैं, दोनों भाइयों की सेनाएं युद्ध के मैदान में तैयार हैं । होने वाले नरसहार को टालने के लिए बूढ़े मंत्री द्वंद्वयुद्ध द्वारा हारजीत का फैसला करने का अनुरोध करते हैं । लेकिन जब चक्रवर्ती सम्राट् देखता है कि तीन-तीन द्वंद्वयुद्धों में पराजित होकर उसके सम्राट बनने का मद धूल में मिल चुका है, विश्व को जीतने वाला वह अपने घर ही में हार गया, तो उसे लगा उसकी शक्ति, वह स्वयं नहीं, उसका चक्र है, वह उसे बाहुबली पर चलाता है ? वह वार भी खाली जाता है । बड़े भाई की करतूत—और हारे की मुद्रा से बाहुबली आत्मग्लानि से अभिभूत है। क्या गिरोह का मुखिया बनकर जनसेवा और जनकल्याण की डींग हांकने वाले राजनेताओं का यही चरित्र है ? सत्ता की तामझाम मे आदमी इतना गिर जाता है ? वह आत्म-विश्लेषण करते हुए कहते हैं—हाय मैं हीं नीच हूं कि जो मैंने अपने गोत्र के स्वामी चक्रवर्ती सम्राट को नीचा दिखाया ? मेरे बाहुबल के द्वारा यह क्या किया गया, जो मैं सुधीजनो के प्रति अन्याय करने वाला हुआ । वेश्या की तरह इस धरती (सत्ता) का उपभोग किसने नहीं किया ?

राज्य पर गाज गिरे—यह उक्ति बिल्कुल ठीक है, राज्य के लिए पिता को मार दिया जाता है और भाइयों को भी जहर दे दिया जाताहै, जब भट सामंत और मंत्री के वर्ग-विभाजन पर विचार करता हूं तो वह सब पराया प्रतीत होता है।

"महिपुण्णालि व केण ण भुत्ती।
रज्जहु पडउ वज्जु सम सुत्ती॥
रज्जहु कारणि पिउ मारिज्जइ।
बंधव हुं मि विसु संचारिज्जइ॥
भडसामंत मंतकियभायउ।
चिंतिज्जंउ सव्वु परायउ॥" १/१८

बाहुबली आत्मचिन्तन के क्षणों में सोच रहे है—यदि राज्य मे सुख होता, तो पितृदेव ऋषभ उसका परित्याग क्यों करते? कहां है सुखों की निधि वह भोग-भूमि, कहां हैं संपत्ति पैदा करने वाले कल्पवृक्ष? कहा गए वे कुलकर?

कालरूपी महानाग से कोई नहीं बच सकता है केवल एक सुजनता है कि उसके सामने टिकी रहती है। वह बड़े भाई को क्षमायाचना पूर्वक राज देकर तप ग्रहण करना चाहता, परन्तु भरत पराभव से दूषित राज्य नहीं चाहता। वह कहता है—हे भाई तुमने रनिवास के सामने मुझे अपने हाथों से उठाया और तड करके धरती पर पटक दिया। तब क्या इस चक्ररत्न ने मेरी रक्षा की? तुमने अपने क्षमाभाव से क्षमा (धरती को भी जीत लिया है। (तुम्हारे क्षमा मांगने से क्या?) तुम्हारे समान तेजस्वी सूर्य भी नही है, तुम्हारे समान गंभीर समुद्र भी नही है, तुमने अपयश के कलंक को धो डाला है, तुमने नाभि राजा के कुल को उज्ज्वल किया है, इस दुनिया मे तुम अकेले पुरुषरत्न हो, कि जिसने मेरे बल को विकल कर दिया? दुनिया मे तुम्हें छोड़ कर किसके यश का डंका बजता है? तुम्हारे समान त्रिभुवन मे कौन भला है? दूसरा कौन साक्षात कामदेव है? जिनवर के चरणों की सेवा करने वाला और नृपशासन की नीति की रक्षा करने वाला दूसरा कौन है? शशि सूर्य से, मंदर मदराचल से और इन्द्र इन्द्र से तुलनीय है परन्तु सुनंदा देवी के पुत्र एक तुम हो कि तुम्हारे समान दूसरा नहीं? हे भाई, लो यह राज्य तुम सम्हालो, मैं अब दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

कहते हैं सज्जन की करुणा से सज्जन ही द्रवित होता है, बाहुबली बड़े भाई की बात से अभिभूत हो उठते हैं, लाख-लाख अनुरोध करने पर, वह सन्यास लेने से नहीं चूकते कामदेव होकर अब वह अकाम साधना में लीन हैं। वर्ष भर ध्यान योग में खड़े हुए उनकी देह लताओं मे घिर जाती है, हिरन उससे सींग घिसते हैं, लेकिन वह अविचल हैं। लेकिन तपस्या का बाहरी रूप अंतरग को शुद्ध करने में असमर्थ है। उनका मन उधेड़-बुन में लगा है। एक दिन भरत सपत्नीक उनके दर्शन करके कहता है:

तुम्हारे समान संसार मे दूसरा भद्रजन नही है, तुमने कामदेव होकर अकाम साधना प्रारम्भ की है, तुमने राग से अराग को मल रहित कर दिया, तुमने बाहुबल से मुझे निस्तेज (मलिन) किया, फिर तुम्हीं ने करुणा से मेरी रक्षा की फिर अपने हाथ से मुझे धरती दी। इस दुनिया मे वास्तव मे परमेश्वर तुम ही हो (मैं नही)।

भाई और सम्राट भरत के इन शब्दों से बाहुबली का अह गलता है, और अन्त में उन्हे कवल प्राप्त होता है।

देवों और मनुष्यों की भीड़ मे देवेन्द्र उनकी स्तुति मे कहता है: राजचक्र को तुमने तिनका समझा, और कर्म-चक्र को ध्यान की आग ने झोंक दिया।

देवचक्र (मडल) तुम्हारे आगे-आगे दौडता है, चक्र-वर्ती (भरत) को अपना चक्र अच्छा नही लगता, हे मुनि आपके साक्षात्कार से राग नही बढ़ता, तुम्हें छोड़ कर और कौन नरक मे निकाल सकता है। पृथ्वीश्वर ने काम की आसक्ति से दीक्षा लेकर काम को जीत लिया।

अन्त मे कवि=ऋषभ तीर्थंकर के समवसरण में बैठे हुए बाहुबलि से कहता है—हे बाहुबली मुझे बोध और ज्ञान दीजिए?

महाकवि के महापुराण (दो रचनाएं और है, णायकुमार चरिउ जसहरचरिउ) जैन चरणानुयोग का ही नहीं समूचे भारतीय सृजनात्मक साहित्य की अमूल्य धरोहर है, एक ओर उसमे लोकभाषा और शास्त्रीय भाषा का संगम है, दूसरी ओर नई छंद शैली और शिल्प का प्रयोग है, काम चेतना और राग चेतना का द्वंद्व है, उसके सृजन में अपभ्रंश की प्राणवत्ता और अभिव्यक्ति-शक्ति मुखरित हुई है, कवि पौराणिक व्यक्तित्वों के माध्यम से अपने युग यथार्थ मूल्यों की अनुभूतिमय झांकी प्रस्तुत करता है, भाषिक अध्ययन की दृष्टि से उसका महत्त्व सृजन से भी अधिक है। कुल मिलाकर पुष्पदंत का बाहुबलि-आख्यान भारत की पुराणमूलक आध्यात्मिक चेतना की पृष्ठ भूमि पर दसवीं सदी के भारतीय समाज के सामंत-वादी मूल्यो के विश्लेषण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है।

शांति निवास, ११४ उषानगर, इंदौर-४५२००२

गोम्मटेश्वर बाहुबली स्वामी और उनसे संबंधित साहित्य

□ श्री वेदप्रकाश गर्ग, मुजफ्फरनगर

अत्यन्त प्राचीन युग में इस आर्य भूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे, जो १४वें कुलकर थे।[1] वे आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे।[2] वे अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे।[3] उन्हें हुए कितना समय बीता कुछ कहा नहीं जा सकता।

उनका युग एक संक्रान्ति काल था। उनके जीवन-काल में ही भोग-भूमि की समाप्ति हुई और कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने धैर्यपूर्वक इन नवीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर युग-प्रवर्तन किया। उनके नाम पर ही इस आर्य भूमि को अजनाभ वर्ष कहा गया।[4]

उदयाचल और पूर्व दिशा के रूप में क्रमशः सबोधित अयोध्या-नरेश महाराजा नाभिराय और मरुदेवी से सूर्य-समान भास्वर तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था।[5] उनका जन्म दो युगों की संधिबेला अर्थात् मानव-सभ्यता के प्रथम चरण में हुआ था, जब भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो रहा था।

कुलकर-व्यवस्था से जब सामाजिक जीवन विकसित होने लगा तो कुलकर के पुत्र होने के नाते ऋषभ पर उन व्यवस्थाओं का दायित्व आया।[6] उन्होंने बहुत सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से समस्याओं का विचारोपरान्त समाधान उपस्थित कर 'कर्म' का उपदेश दिया और उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया। ऋषभ ने जिन कार्यों की व्यवस्था की, उन्हें लौकिक षट्कर्म कहा जाता है।[7] इनके द्वारा सामाजिक जीवन को एक व्यवस्थित आधार प्राप्त हुआ। इसके साथ ही धार्मिक षट्कर्मों[8] का उपदेश भी दिया। कर्माश्रय से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में श्रम-विभाजन का भी निर्देश किया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये[9]। इससे उन्हीं से भारतीय क्षत्रियों के प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ हुआ। कृषि-कर्म में 'वृषभ' की प्रतिष्ठा प्रतिपादित करने के कारण वे स्वयं 'वृषभदेव' कहलाए और 'वृषभलांछन' उनकी पहचान का विशेष चिह्न बना। आज पुरातत्त्वज्ञ इसी चिह्न से उनकी मूर्तियों को पहचानते हैं। वे क्षात्रधर्म के प्रथम प्रवर्तयिता थे।[10] अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दोनों गुण प्रजापति ऋषभदेव में होने से उनकी 'पुरुदेव' संज्ञा भी हुई।[11]

ऋषभ का विवाह सुनन्दा और सुमंगला से हुआ था। उनके सौ पुत्र थे। उनमें दो विशेष प्रसिद्ध थे—भरत और बाहुबली[12] भरत को कलाओं और बाहुबली को प्राणी-लक्षण का ज्ञान कराया। इनके अलावा उनकी दो पुत्रियाँ भी थीं। एक ब्राह्मी और दूसरी सुन्दरी ऋषभ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि तथा सुन्दरी को अंक विद्या सिखाई।[13]

---

१. त्रिलोकसार ७९२-९३।

२. भागवत पुराण ११।२।१५।

३. तिलोयपण्णत्ति ४।४६।६।

४. स्कन्द पुराण १।२।३७।५५; महा पुराण ६२।८।

५. महापुराण १४।८१।

६. वही १६।१३३-३४। (कुलकर उसे कहते हैं, जो जनता के जीवन की नई समस्याओं का सही समाधान देता है।

७. असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य। (आदि पुराण १६।१७९)

८. देवपूजा, गुरु-भक्ति, स्वाध्याय, संयम तप और दान।

९. महा पुराण १६।२६४।

१०. महापुराण ४२।६ तथा महाभारत, शान्ति पर्व १२।६४।२०।

११. ब्रह्माण्ड पुराण २।१४।

१२. वसुदेव हिण्डी, प्र० ख० पृ० १८६।

१३. अभिधान, राजेन्द्र कोश भाग २, पृ० ११२६।

आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है।

ऋषभदेव के शतपुत्रों मे भरत ज्येष्ठ थे। वही उनके उत्तराधिकारी बने। अतः भरत को राज्य पद पर अभिषिक्त कर ऋषभ स्वयं सन्यस्त हो तपश्चर्या मे लीन हो गए। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण देश शासन के लिए दिया था। उसी के नाम से यह देश 'अजनाभवर्ष के स्थान पर 'भारतवर्ष' कहलाया[1] और प्राचीन आर्यों का भरतवश चला। भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। और उनके पीछे उनके पितामह तथा पिता आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतापी परम्परा थी। उन्होंने षट्खण्ड पृथ्वी को जीता और संपूर्ण भारत को राजनैतिक एक सूत्रता मे बांधने का प्रयत्न किया।[2]

जिस समय भरत का राज्याभिषेक हुआ था तभी बाहुबली ने पोदनपुर (तक्षशिला) का शासन सूत्र संभाला था। वे भी भरत की भांति प्रतापी थे। उनका जन्म ऋषभदेव की पत्नी सुनन्दा से हुआ था। उनका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था। इसी से वे 'गोम्मटेश' कहलाते थे। वे दृढ तपस्वी और मोक्षगामी महासत्त्व थे।[3]

इधर जब ऋषभ-साधना मे उत्कर्ष प्राप्त कर रहे थे, उधर तब भरत ने अपने शासन का विस्तार किया। उन्होंने चारों ओर की सभी प्रशासनिक इकाइयों को अपने अधीन कर लिया। स्वाभिमानी बाहुबली ने, जो पराधीन जीवन को मृत्यु से कम नही मानते थे, भरत की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। ऐसी स्थितिमें विचारवान् ज्ञान वृद्धों ने इसका समाधान निकाला कि "दोनों भाई आपस मे शक्ति-परीक्षण करलें। व्यर्थ ही जन-धन का विनाश न हो। शक्ति-परीक्षण के लिए तीन प्रकार चुने गए :—

१. दोनो एक-दूसरे की ओर अपलक देखें। जिसकी पलक पहले झपके वही हारा। इसे दृष्टि-युद्ध कहा गया।

२. सरोवर मे एक-दूसरे पर जल उछालें। जो आकुल होकर बाहर निकल आये, वह हारा इसे जल-युद्ध कहा

३. दोनों पहलवानों की तरह एक-दूसरे को पछाड़ें। जो चित्त हो जाये, वह हारा। इसे मल्लयुद्ध कहा गया।

बाहुबली का शरीर भरत की अपेक्षा विशाल था। वे उन्नतकाय भी थे। तीनों युद्धों में बाहुबली विजयी हुए। भरत अपनी इस हार से खीझ उठे। बदले की भावना से उन्होंने अपने भाई पर चक्र चलाया, किन्तु देवोपुनीत अस्त्र परिजनों पर नहीं चलते। वह बाहुबली के चरणों में जा गिरा। वह उन्हें कोई हानि न पहुंचा सका। इस प्रकार भरत की एक और पराजय हुई।[4]

बाहुबली को विजयी होने पर भी संसार-दशा का बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। इस घटना से उनका मन बहुत विचलित हो गया। वे सोचने लगे कि भाई को परिग्रह की चाह ने अंधा कर दिया और अहंकार ने उनके विवेक को भी नष्ट कर दिया है। धिक्कार है इस तृष्णा को ! जो न्याय-अन्याय का विवेक भुला देती है। अब मैं इस राज्य का त्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूं और बाहुबली संन्यस्त हो गये।

बाहुबली संन्यस्त होने के बाद कायोत्सर्ग-मुद्रा मे ध्यानमग्न हो गए। वे लगातार लम्बे समय तक तपस्यारत रहे। भूमि के लता-गुल्म बढ़ कर उनके उन्नत स्कन्धों तक पहुंच गए। मिट्टी की ऊँची-ऊँची बांबियां उनके पैरों के चारों ओर उठ आयीं। इस प्रकार उन्होंने कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना की और अन्त में पूर्ण ज्ञानी बन स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हुए। उन्हें कैवल्य ज्ञान हो गया।[5]

ध्यान-मग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में बाहुबली स्वामी की अनेक खड्गासन मूर्तियां मिलती हैं, जिनमें सबसे प्राचीन प्रतिमा बादा की गुफा की है। यह सातवीं सदी में निर्मित हुई थी। इसकी ऊँचाई साढ़े सात फुट है। दूसरी प्रतिमा एलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन शिला मन्दिर की इन्द्र सभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण काल लगभग ८वीं शती माना जाता है। तीसरी

१. 'अग्नि', 'मार्कण्डेय', 'ब्रह्माण्ड', 'नारद', 'लिंग', तथा 'भागवत', आदि पुराण इस संबंध मे साक्ष्य रूप हैं।

२. महा पुराण ३७।२०-२१।

३. दे० कवि धनपाल रचित 'बाहुबली चरिउ' तथा जिनप्रभसूरि रचित 'विविध तीर्थकल्प' पृ० ६०।

४. दे० कवि धनपाल रचित—'बाहुबली चरिउ'।

५. दे० वही 'बाहुबली चरिउ।

मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मन्दिर में है, जिसकी विशेषता यह है कि इसमें बामी, कुक्कुट, सर्प व लताओं के अतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किए गए हैं और इन उपसर्गकारी जीवों का निवारण करते हुए एक देव युगल भी दिखाया गया है।[1]

सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के श्रवण-बेलगोला[2] विन्ध्यगिरि पर विराजमान वह पाषाण मूर्ति है,[3] जिसको दक्षिण के गंग नरेश के महामात्य चामुण्डराय ने १००० वर्ष पूर्व उत्कीर्णित करवाया था। एक ही शिला को काट कर इसका निर्माण किया गया था। यह मनोज्ञ प्रतिमा ५७ फुट ऊँची है और उस पर्वत पर दूर से दिखाई देती है। मूर्ति की सुडौलता, मनोज्ञता तथा शांत मुखमुद्रा देखते ही बनती है। यह 'गोम्मटेश्वर' भी कहलाती है। दूसरे अंगों का संतुलन, मुख का शान्त और प्रसन्नभाव, वल्मीक व माधवी लता की लपेटने इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। इसीलिए इसके वीतराग अंग-सौष्ठव और मनोज्ञता को भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों ने सराहा है। इसके महामस्तकाभिषेक का मंगलानुष्ठान आयोजित कर धर्मानुरागी जन-व्याधियों को पराभूत करने मे समर्थ होते हैं। यह मूर्ति विश्व का आठवाँ आश्चर्य मानी जाती है।

इस मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में एक पर्वत पर सन् १४३२ ई० मे ४२ फुट ऊँची तथा वेणूर में १६०४ ई० में ३५ फुट ऊँची अन्य दो विशाल पाषाण प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थीं। कारीगरी की दृष्टि से ये भी दर्शनीय हैं। धीरे-धीरे बाहुबली जी की मूर्तियो का प्रचार उत्तर भारत में भी होता जा रहा है।[4]

उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त आबू की सं० १०८८ की विमल सही की शिल्पकला में भरत बाहुबली-युद्ध के दृश्य भी शिल्प-चित्रों मे दिखाए गए है।[5]

बाहुबली स्वामी के उदात्त चरित्र को लेकर साहित्य-रचना भी हुई है। कई कवियों और लेखको ने उनके चरित्र को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया है। श्री लालचंद भगवान गांधी ने अब तक भरत-बाहुबली पर आधारित साहित्य पर विस्तार से विचार किया है। सक्षेप मे यह साहित्य इस प्रकार है -

(१) विमलसूरि कृत 'पउम चरिउ' के चौथे उद्देश्य में ऋषभ चरित के साथ भरत और बाहुबली के अधिकार की सक्षेप मे सूचना मिलती है।

(२) धनेश्वर सूरि के ग्रथ 'शत्रुञ्जय महावलभी' के तृतीय सर्ग में दोनो के युद्ध का वर्णन है।

(३) वि० स० ७३३ मे जिनदास गणी की प्राकृत-भाषा मे चूर्णि नामक व्याख्या मे दोनों का चरित्र वर्णित है।

(४) रविषेणचार्य रचित पद्मचरित पुराण मे दोनों का युद्ध वर्णन है।

(५) दिगम्बर कवि जिनसेन के 'आदिपुरा ', कवि पुष्पदंत के 'त्रिसट्ठि महापुरिस-गुणालकार' तथा हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' के प्रथम पर्व भी इस सबध मे उल्लेखनीय है।

(६) सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध', (१२४१) विनय चन्द्रसूरिकृत 'आदिनाथ चरित'; जिनेन्द्र रचित 'पद्मानन्द महाकाव्य', मेरुतुंग रचित (१४०१) 'स्तभनेन्द्र प्रबंध'; जयशेखर सूरि कृत (१४३६) 'उपदेश चिन्ता-मणि' की टीका; (१४वी शती) गुणरत्नसूरि (१५३०) के 'ऋषभ चरित्र' तथा 'भरतेश्वर बाहुबली पवाड़ा'; श्रावक ऋषभदास (१६७८) के 'भरतेश्वर रास' तथा जिनहर्षगणि (१७५५) के 'शत्रुंजय रास' मे भरत-बाहुबली चरित वर्णित हैं।[6]

---

१. दे. डॉ. हीरालाल जैन का 'जैन मूर्ति कला' शीर्षक लेख।

२. यह कन्नड़ी शब्द है। विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि पर्वतों के मध्य एक चौकोर तालाब है, जहां श्रमण ठहरा करते थे। इसी से यह नाम पड़ गया।

३. जिस पर्वत पर यह मूर्ति है, उसे विविधतीर्थ कल्प मे 'अष्टापद गिरि कहा गया है। (दे० पृ० ६६, २०८)।

४. दे० जैन मूर्ति कला शीर्षक लेख, वर्धमान, पृ० १०३।

५. दे० श्री लालचद भगवान गांधी द्वारा सपादित भरतेश्वर बाहुबली राम, प्रस्तावना पृ० ५७-५८।

६. उपर्युक्त रचनाओ के विशेष विस्तार के लिए दे० श्री लालचंद भगवान गांधी द्वारा सपादित-भरतेश्वर बाहुबली राम की प्रस्तावना, पृ० ५३-५६। वस्तुतः इन दोनो चरितनायकों पर ख्यातवृत लिखने की परम्परा क्रमशः १८वीं शती तक सुरक्षित मिलती है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त भी कई अन्य रचनाएं 'भरत-बाहुबली' चरित से संबंधित प्राप्त होती है।

वज्रसेनसूरि रचित 'भरतेश्वर-बाहुबलि घोर' पुरानी राजस्थानी की प्राचीनतम रचना है, जिसका प्रकाशन श्री अगरचन्द नाहटा ने 'शोध-पत्रिका' मे कराया था। यह वीर और शान्त रस का ४६ पदो को छोटा-सा काव्य है।[1]

सं० १२४१ मे शालिभद्र सूरि ने भरतेश्वर-बाहुबली-रास' नामक खण्डकाव्य की रचना की, जिसको पुरानी राजस्थानी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ कहा जा सकता है। यह आदिकालीन हिन्दी-साहित्य का सर्व प्रथम रास माना जा सकता है।[2]

मालदेव रचित'भरत बाहुबलि गीत' व 'खदक बाहुबली गीत'[3] के अतिरिक्त 'भरत बाहुबली रास' नामक एक अपभ्रश की अन्य रचना भी प्राप्त होती है।[4] सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य की प्राकृत भाषा की रचना 'गोम्मटसार' भी बाहुबली-चरित्र से संबधित प्रतीत होता है। सभवत. तेजवर्द्धन कृत 'भरत बाहुबली रास' का उल्लेख भी मिलता है।

स० १४५४ मे कवि घनपाल द्वारा रचित 'बाहुबली चरिउ' मे पूर्णतया बाहुबली स्वामी के चरित्र का ही वर्णन किया गया है। कवि ने इस ग्रंथ का नाम 'काम चरिउ' (कामदेव चरित) भी प्रकट किया है। इस ग्रंथ की भाषा हिन्दी-भाषा के बहुत कुछ विकसित रूप को लिए हुये है। रचना सरस, गभीर और रुचिकर प्रतीत होती है।[5]

उपर्युक्त रचनाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसी रचनाएं भी मिलती है, जो सीधे बाहुबली स्वामी के चरित्र से तो सबध नही रखती, किन्तु प्रसगवश बाहुबली के चरित्र का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। ऐसी रचनाओं में देवसेन कृत 'मेहेसर चरिउ' तथा कवि रइधू का 'मेहेसर चरिउ मुख्य है, जिनमे भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार (मेघेश्वर) और उनकी धर्मपत्नी सुलोचना के चरित्र-चित्रण के साथ-साथ प्रासंगिक रूप मे भरत-बाहुबली-युद्ध, बाहुबली का तपश्चरण और कैवल्य-प्राप्ति आदि का भी वर्णन किया गया है।[6] इस प्रकार देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि भरतेश्वर-बाहुबली-वृत्त प्राकृत, सस्कृत अपभ्रश, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती आदि मे विस्तृत रूप मे मिलता है। सभव है, खोज करने पर अन्य ग्रन्थों मे भी उनके चरित्रोल्लेख प्राप्त हो जाय। विद्वानो को अन्वेषण द्वारा उनके पावन चरित्र से सबधित साहित्यका प्रकाश मे लाना चाहिए।[7] □□□

महामस्तकाभिषेक

श्री गोम्मटेश्वर के महामस्तकाभिषेक का श्रवणबेलगोल स्थित सन् १५०० के शिलालेख नं० २३१ में जो वर्णन है उसमें अभिषेक कराने वाले आचार्य, शिल्पकार, बढ़ई और अन्य कर्मचारियों के पारिश्रमिक का ब्योरा है तथा दुग्ध और दही का भी खर्चा लिखा है। सन् १३९८ के शिलालेख न० २५४ (१०५) मे लिखा है कि पण्डितार्य ने गोम्मटेश्वर का ७ बार मस्तकाभिषेक कराया था। पञ्चबाण कवि ने सन् १६१२ ई० में शान्ति वर्णी द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेक का उल्लेख किया है व अनन्त कवि ने सन् १६७७ में मैसूर नरेश चिक्कदेवराज ओडेयर के मंत्री विशालाक्ष पंडित द्वारा कराये हुए और शान्तराज पडित ने सन् १८२५ के लगभग मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर तृतीय द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेक का उल्लेख किया है। शिलालेख नं० २२३ (९८) में सन् १८२७ में होने वाले मस्तकाभिषेक का उल्लेख है। सन् १९०९ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था। मार्च सन् १९२५ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था, जिसे मैसूर नरेश महाराजा कृष्णराजबहादुर ने अपनी तरफ से कराया था। महाराजा ने अभिषेक के लिए ५०००) रु० प्रदान किये थे। उन्होंने स्वयं गोम्मटस्वामी की प्रदक्षिणा की थी नमस्कार किया था तथा द्रव्य से पूजन किया था। तदनन्तर भी यथा समय महामस्तकाभिषेक होते रहे हैं। महामस्तकाभिषेक दूध, दही, केला, पुष्प नारियल का चूरा, घी, चन्दन, सर्वौषधि, इक्षुरस, लाल चंदन, बादाम, खारक, गुड़, शक्कर, खसखस आदि वस्तुओं से और जल से अभिषेक कराया जाता है। □□

---

१. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष ३, अंक ४।

२. दे० श्री गांधी द्वारा संपादित उक्त रास ग्रथ तथा डा० हरीश का 'रास-परम्परा और भरतेश्वर बाहुबली शीर्षक लेख।

३. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० २६३।

४. दे० अपभ्रंश साहित्य, डा० कोछड़, पृ० ६३-६४।

५. दे० जैन ग्रथ प्रशास्तिसंग्रह, भाग २ प्रस्तावना, पृ० ७८-८०।

६. दे० जैन-ग्रथ-प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ६६-६७।

७. इस लेख के लिखने मे जिन विद्वान लेखकों के ग्रंथों तथा लेखों से सहायता ली गई है, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं।

बाहुबली : पुष्पदंत के सृजन के आइने में

☐ डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, इन्दौर

बूढ़ा सियार कल्याण की बात करता है—यह देख कर मुझे हँसी आती है। दुनिया में जो ताकतवर चोर है वह राजा है दुर्बल को और प्राणहीन बनाया जाता है। और पशु के द्वारा पशु का धन छीना जाता है और आदमी के द्वारा आदमी का धन छीना जाता है और आदमी के द्वारा आदमी का धन। सुरक्षा के नाम पर लोग गिरोह बनाते हैं, और एक मुखिया की आज्ञा में रहते हैं। मैंने सारी दुनिया छान मारी, सिंहो का गिरोह नहीं होता। मान खंडित होने पर जीने के बजाय मर जाना अच्छा है दूत मुझे यही भाता है भाई यदि आता है तो आए मैं उसे आघात दूंगा और पल भर मे संध्याराग की तरह ध्वस्त कर दूंगा। चुनौती भरे ये शब्द किसी आधुनिक राजनेता या वामपर्थी के राजनैतिक पार्टी के नही बल्कि अपभ्रंश के महान कवि पुष्पदंत के महापुराण से उद्धृत बाहुबली के कथन के कुछ अंश हैं। जिनमें वे बड़े भाई भरत के अधीनता मान लेने के प्रस्ताव पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं। पौराणिक सन्दर्भ : जैन विश्वास के अनुसार भोगभूमि के समाप्त होने पर जब कर्म भूमि प्रारम्भ हुई तो लोगों के सामने नई-नई समस्याएँ आ खड़ी हुई। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने उनका हल खोजा, और इस प्रकार वे कर्ममूलक मानव सस्कृति के निर्णायक बने। उनके १०१ पुत्र और दो पुत्रियां थी। पहली रानी से भरत आदि सौ भाई तथा ब्राह्मी थी दूसरी से बाहुबली और सुनंदा। लंबे प्रशासन के बाद ऋषभनाथ पुत्रों में राज्य का बटवारा कर तप करने के लिये चले गये। सब भाई बटवारे से सन्तुष्ट हैं परन्तु भरत महत्वाकांक्षी है वह चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिये दिग्विजय करता है साठ हजार वर्ष के सफल अभिनय के बाद वह घर लौटता है। गृह नगरी अयोध्या दुलहिन की तरह सजाई जाती है। मगल वाद्यो और जयगान के बीच सम्राट नगर की सीमा मे प्रवेश करता है, परन्तु उसका चक्र वर्तन नहीं करता। वह भरत की महत्वाकाक्षा के लिये विराम चिह्न बन कर खड़ा हो जाता है। बूढे मन्त्री उसे बताते हैं कि जब तक उसके भाई अधीनता नही मानते तब तक चक्र भीतर नही जा सकता। भरत, भाइयो के पास दूत के जरिए आज्ञा मानने का संदेश भेजता है दूसरे भाई अधीन होने के बजाय अपने पिता तीर्थंकर ऋषभ से दीक्षा-ग्रहण कर लेते हैं लेकिन बाहुबली इसे समस्या का हल नही मानता इसलिये जब दूत से बड़े भाई का अभिमान जनक प्रस्ताव सुनता है तो उसका स्वाभिमान आक्रोश भरी चुनौती दे डालता है बिना इसके परवाह किये कि एक चक्रवर्ती सम्राट से जूझने का नतीजा क्या होगा ? बाहुबली का विरोध भाई से नही बल्कि उसमे रहने वाले राजा से था जिसमे सत्ता की राक्षसी भूख थी जो दूसरों के स्वत्वो और स्वतन्त्रता को छीनता है, मानवीय मूल्य का हनन करती है।

राज्य और मनुष्य :

दूत लौटकर सम्राट को बताता है कि बाहुबली विषम है मेल-मिलाप के बजाय वह लड़ेगा। दूसरे दिन न दोनो पक्ष की सेना आमने सामने उठ खड़ी होती है। मानव सस्कृति का प्रारम्भिक इतिहास कही खून से न लिखा जाय इस आशंका से बूढ़े मन्त्री दोनो को समझाते है आप कुल-भद्र है, यह आप लोगो का घरेलू झगड़ा है आप आपस मे युद्ध कर निपट लें व्यर्थ खून खराबा क्यों ? दोनों भाई इस सुझाव का सम्मान करते हुए कूद्ध युद्ध करते हैं।

दृष्टि युद्ध, जल और मल्लयुद्ध, एक के बाद एक युद्ध लगातार हारने के बाद सम्राट भरत अपना संतुलन खो बैठता है कुल और युद्ध की नीति को ताक पर रख वह छोटे भाई पर चक्र से प्रहार करता है। वार खाली जाते देख कर वह नीचा मुख करके रह जाता है।

सत्ता की भूख इतनी क्रूर और प्राणलेवा हो सकती

है ? यह देख कर बाहुबली का आक्रोश पिघल उठता है। आत्मसंताप से अभिभूत वह स्वयं को धिक्कारता है 'हाय मेरी बाहुबल ने क्या किया ? मैंने अपने कुल के स्वामी सम्राट चक्रवर्ती को नीचा दिखाया किसके लिए ? क्या उस धरती के लिए जो वेश्या की तरह अनेक राजाओं के द्वारा भोगी गई है और यह राज्य इस पर वज्र गिरे किसी को यह उचित ठीक है इसके लिए पिता की हत्या की जाती है, भाइयों को जहर दिया जाता है, समाज और राष्ट्र में विषमता विद्वेष और घृणा के बीज राज्य ही बोता है राजा मन्त्री सामत सुभट शासक और शासित —यह सारा वर्गविभाजित बनावटी है पराधीन बनाने की दुरभिसंधि है। अपने बड़े भाई और चक्रवर्ती से क्षमा मांगते हुए वह कहता है --ओ अग्रज, यह राज्य ले, मैं दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करूंगा। मैंने आज तक जो भी प्रतिकूल आचरण किया है उसके लिए क्षमा मांगता हूं।

भरत की प्रतिक्रिया :

लेकिन भरत यह स्वीकार करने को तैयार नहीं वह कहता है मुझे पराभव से दूषित राज्य नही चाहिये जिस चक्र का मुझे गर्व था, क्या वह मेरे सम्मान को बचा सका ? हे भाई तुमने अपने क्षमा मात्र से जीत लिया तुम सूर्य की तरह तेजस्वी और समुन्द्र की तरह गंभीर हो सज्जन की करुणा से सज्जन ही द्रवित होता है। आत्म-ग्लानि, विरक्ति में बदलती है, और बाहुबली राजपाट छोड़कर तप करने चल देते हैं। वर्ष भर, वन मे वे कायोत्सर्ग में खड़े रहे, हिम आतप और वर्षा से बेपरवाह लताएँ देह से लिपट गईं। उस विशाल शरीर से वन्य प्राणी खाज खुजलाते रहे। एक दिन सम्राट भरत सपत्नीक आता है और उनकी स्तुति मे कहता है।

हे भद्र, विश्व मे तुम्हीं हो जिसने कामदेव होकर राग को अराग से जीता, जीत कर भी क्षमाभाव का प्रदर्शन किया।

सम्राट भरत के इस कथन से तपस्वी बाहुबली के मन का यह भ्रम टूट जाता है कि मैं दूसरे की धरती पर खड़ा हूं और वह कर्मजाल से मुक्त होते हैं।

उनकी मुक्ति के अभिनन्दन में इन्द्र ने कहा हे भद्र तुमने राजचक्र को तिनका समझा कर्मचक्र ध्यान की आग में भस्म कर दिया, देवचक्र तुम्हारे आगे-पीछे घूमता है तुम्हें चक्रमुक्त देख कर चक्रवर्ती को भी अपना चक्र अच्छा नहीं लग रहा है।

बाहुबली को गोम्मटेश्वर इसलिए कहा गया कि एक तो साधना काल में लतागुल्मों के चढ़ने से उनकी देह गुल्मवत् हो गई थी दूसरे वह गोमत् का अर्थ है प्रकाशवान् दोनो का प्राकृत मे गोम्मट बनता है।

समय की दूरी सृजन मूल्यों की निकष :

पुष्पदंत १०वी सदी मे हुए और राष्ट्रकूटों के मंत्री भरत के अनुरोध पर उन्हीं के शुभतेश भवन में रहते हुए कवि ने महापुराण की रचना की, बाहुबली आख्यान उसी का एक अंश है। इसमें संदेह नही कि पुष्पदंत और बाहुबली के बीच समय की बहुत दूरी है।

इस अन्तराल में कई मानव सस्कृतियां बनीं और मिटी। इतिहास मे कई उतार-चढ़ाव आए फिर भी स्मृति और कला ने उस "पुराण पुरुष" को प्रतीक रूप में जीवित रखा उनके पावन व्यक्तित्व की याद मानव मूल्य की याद है ये मूल्य प्रत्येक युग की परिस्थितियों से टकराते है। कभी वे परिस्थितियों को नया मोड़ देते हैं और कभी परिस्थितियां उन पर हावी होती हैं खासकर भारत मे ऐसा इसलिए भी होता रहा है कि इन मूल्यों को सामाजिक स्तर पर नहीं परखा गया, हमने परलोक के सदर्भ मे उनका महत्व समझा यह अजीब संयोग है। गंगवंश के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय की प्रेरणा से ९८१ ईसवी में जब श्रवणबेलगोला मे गोम्मटेश्वर बाहुबली की विराट मूर्ति निर्मित और प्रतिष्ठापित हुई उसके १५-१६ वर्ष पहले पुष्पदत महापुराण के अन्तर्गत अपना बाहुबली आख्यान लिख चुके थे। उन्होंने बाहुबली के··· को अपनी उन अनुभूतियों के आइने मे देखा जिनका आधार युग की सामंतवादी पृष्ठभूमि थी। उन्होंने सत्ता के लिए राजाओं को लड़ते देखा था। युद्ध के खूनी दृश्य उनके सामने थे, राजनीति की घिनौनी हरकतों से चिढ़ कर ही वह किसी दूसरे राज्य से राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट में आए थे। पुष्पदंत बाहुबली के समग्रचरित को हम राज्य समाज, परिवार और व्यक्ति के संदर्भ में देखते

(शेष पृष्ठ ११३ पर)

बाहुबली की कहानी : उनकी ही जुबानी

☐ डा० शिवकुमार नामदेव, होशंगाबाद

"स जयति हिमकाले यो हिमानी परीतं,
वपुश्चल इवोर्च्चैर्विभ्रवार्वभूव ।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्द काले,
खरघृणिकिरणानप्युष्ण काले विषेहे ।।

मेरे पिता का नाम ऋषभदेव तथा माता का नाम सुनन्दा था। जब मेरे पिता अयोध्या के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए तब उन्होंने अपने राज्यकाल मे अनेक जनोपयोग कार्यों के साथ ही साथ प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प इन षट्कर्मों से आजीविका करना सिखाया। उन्हें प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता पुरुष आदि नामो से भी स्मरण किया जाता है। मेरा शारीरिक गठन अति सुन्दर था, लोग मेरे रूप को कामदेव से भी सुन्दर कहते थे। मेरी भुजाएं बलिष्ट एव असाधारण थीं। गुणानुरूप ही मेरा नामकरण बाहुबली रखा गया।

जब पिताजी ने प्रव्रज्या ग्रहण की :

चैत्र कृष्ण नवमी का दिन था मेरे पिता ऋषभदेव सैकड़ों नरेशों सहित अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे, अप्सरा नीलांगना का नृत्य चल रहा था। सभी मंत्र मुग्ध से उस नृत्य का आनन्द ले रहे थे, तभी देवांगना की आयु पूर्ण हो गई। उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसी के अनुरूप अन्य देवांगना से नृत्य प्रारम्भ करा दिया। इन्द्र का यह कृत्य मेरे सूक्ष्मदर्शी पिता की दृष्टि से ओझल न हो सका। उन्हें इहलोक की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता का स्मरण आया और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपना समस्त राज-पाट अपने पुत्रो में विभाजित कर प्रवज्या ग्रहण कर ली। मेरे ज्येष्ठ भ्राता भरत को अयोध्या का और मुझे पोदनपुर का राज्य प्राप्त हुआ। मुझे अपनी पैतृक सम्पति से संतोष था, किन्तु भरत की लौकिक लालसा अभी भी अतृप्त थी।

भरत से संघर्ष :

भरत और मेरे मध्य हुए संघर्ष की कहानी पुराणों मे वर्णित है। भरत ने चक्रवर्ती पद प्राप्त हेतु दिग्विजय किया। दिग्विजय-यात्रा यद्यपि सकुशल सम्पन्न हुई, परन्तु चक्र-रत्न अयोध्या के द्वार पर आकर रुक गया। चारों ओर आश्चर्य का वातावरण व्याप्त हो गया। अनेकों प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे। तब भरत ने इस कारण की खोज-बीन करने के लिए मन्त्रियो को नियुक्त किया। कारण शीघ्र ही ज्ञात हो गया मन्त्रियों ने भरत से इसका कारण बताते हुए कहा कि चक्र-रत्न अयोध्या के द्वार पर आकर इस कारण स्थिर हो गया है कि अभी आपके भाइयों ने अधीनता स्वीकार नही की है। भरत संतुष्ट हो गए। उन्हें यह आशा थी कि मेरे लघु-भ्राता मेरी आज्ञा की अवहेलना नही करेंगे। उन्होंने अपने समस्त भ्राताओं के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्ताव भेजा। उनका राजदूत मेरे पास भी आया। इस प्रस्ताव को सुनकर मेरे अन्य भाइयों को तो संसार की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो गया और उन्होंने पिताजी के पास दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली, किन्तु मुझे भरत का उक्त प्रस्ताव रुचिकर नही प्रतीत हुआ। पिताजी द्वारा प्रदत्त मेरी इस अल्प भूमि पर भी भरत, जो महान साम्राज्य का भोक्ता है, अपना वर्चस्व चाहता है। मेरा अन्तःकरण भरत के प्रस्ताव को स्वीकार न कर सका। मैंने राजदूत के द्वारा भरत को यह सन्देश भेजा कि यद्यपि भरत मुझसे ज्येष्ठ है, तथापि यदि मस्तक पर खड्ग रखकर बात करना पसन्द करते हैं, तब उन्हें प्रणाम करना क्षत्रियोचित शील के प्रतिकूल है।

भरत को मेरा जब उक्त सन्देश प्राप्त हुआ तब उन्होंने चतुरंगिणी सेना के साथ मेरे दमन के लिए तक्षशिला को प्रस्थान किया। मैंने भी अपनी सेना के साथ भरत से युद्धार्थ रणभूमि की ओर प्रस्थान किया। समरांगण में

हम दोनों भाइयों की सेनाएं जब आमने-सामने तैयार खड़ी थीं तब मन्त्रियों ने हमसे आग्रह किया कि द्वन्द्व युद्ध द्वारा जय-पराजय का निर्णय कर लें तो निरापराध सैनिकों का रक्तपात होने से बच जाए। यह उनका आग्रह तर्क-संगत था, जिसे हम लोगों ने स्वीकार कर लिया। जय-पराजय के निर्णय के हेतु हमारे लिए तीन प्रकार की प्रतियोगिताएं – दृष्टि युद्ध, मल्ल युद्ध एवं जल युद्ध निश्चित की गईं। मैंने तीनों प्रतियोगितओं मे भरत को पराजित कर विजय श्री प्राप्ति की। भरत इस पराजय को सहन न कर सका। और अपनी पराजय को जय मे परवर्तित करने के लिए युद्ध-मर्यादा का उल्लघन कर मेरे ऊपर अमोघ-अस्त्र चक्र चला दिया। इस पर भी मेरा कोई अहित न हुआ।

सम्पदा का त्याग एवं दीक्षा :

अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत के क्रूर-कृत्य से मेरे मन मे विराग रूपी ज्ञान सूर्य का उन्मेष हुआ। मैंने नश्वर पार्थिव सम्पदा को भरत के लिए त्याग कर अपने पिता ऋषभदेव के पास जाने का निश्चय किया। वहा जाने के पूर्व मेरे मन में यह जिज्ञासा जागृत हुई कि क्यों न मैं पहले केवल-ज्ञान की प्राप्ति कर लूं। इस हेतु मैं तप में लीन हो गया। एक वर्ष से अधिक व्यतीत हो गया, मैं मूर्तिवत् सीधा खड़ा हुआ ध्यान में लीन रहा, वृक्षों मे लिपटी हुईं लताएं मेरे देह से लिपट गईं, वे अपने वितान से मेरे सिर पर छत्र सा बना दिया। पैरों के मध्य कुश उग आए जो देखने मे बाल्मीक जैसे लगते थे। केश बढ गए, जिनमें पक्षी नीड बनाकर रहने लगे। घुटनो तक मिट्टी के वल्मीक चढ गए जिनमे विषधर सर्प निवास करने लगे।

एक वर्ष की कठोर तपस्या के उपरांत भी मैं केवल-ज्ञान से वंचित रहा। इसका कारण मेरा अपना मोह था, अज्ञानता थी। मेरे मानस-पटल में यह भावना घर कर गई थी कि मुझे अपने पिताजी के पास जाकर अपने छोटे भाइयों की वन्दना करनी होगी। मेरा मोह था, यही मेरी अज्ञानता थी, जिसने मुझे ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे बाधा पहुंचाई थी। इस अज्ञानता को दूर करने के लिए मेरी बहनें-ब्राह्मी एव सुन्दरी मेरे पास आईं।

जब मुझे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ :

दोनों बहनें मेरे निकट आकर बोलीं "भैया मोह के मदोन्मत हस्ति से नीचे उतरो। इसने ही तुम्हारी तपश्चर्या को निरर्थक बना दिया है। इतना श्रवण करते ही मुझे ज्योति मार्ग प्राप्त हो गया तथा मुझे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवल ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त मैं विहार करते हुए अपने पिता के दर्शनार्थ कैलाश पर्वत पर पहुंचा। और इसी स्थान पर ही मैंने अपने देह को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त किया।

देवालय एवं प्रतिमायें :

मैंने घोर तपस्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया था। मेरी इस तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत 'महापुराण' एव रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण मे किया है। यद्यपि मेरी गणना तीर्थंकरों मे नही होती है, पर मध्यकालीन जैन परंपराओं में मुझे बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ है। मेरे अनेक देवालय एवं मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है। दक्षिण भारत के तीर्थहल्लि के समीप हुवच के आदिनाथ मंदिरके समीप ही पहाडी पर मेरा एक मदिर विद्यमान है। गर्भगृह में मेरी एक सुन्दर-सी मूर्ति है। देवगढ की पहाडी मे मेरी एक सुन्दर मूर्ति है।

बादामी मे ७वी सदी मे निर्मित मेरी ७॥ फुट ऊँची प्रतिमा विद्यमान है। एलोरा के छोटे कैलास नामक जैन शिला मंदिर की इन्द्र सभा की दक्षिणी दीवार पर, तथा देवगढ के शातिनाथ मंदिर में भी मेरी प्रतिमायें उत्कीर्ण की गई हैं। यद्यपि मेरी प्रतिमायें एलौरा, बादामी, मध्य-प्रदेश तथा अन्य स्थानों मे है, किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मेरी मूर्ति कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में है।

यह विश्व की सबसे लबी प्रतिमा है, जिसका निर्माण एक वृहदाकार शिला को काट कर किया गया है। कायोत्सर्ग मुद्रा में ५७ फुट लंबी तपोरत मेरी यह प्रतिमा दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसका निर्माण गंग नरेश राजमल्ल (राचमल्ल) चतुर्थ (९७४-८४ ई०) के मंत्री एवं सेनापति चामुण्डराय ने कराया था। चामुण्डराय ने 'चामुण्डराय पुराण' की कन्नड भाषा में रचना भी की थी। मेरी इस प्रतिमा का निर्माता शिल्पी अरिष्टनेमि है। उसने मूर्ति-निर्माण में अंगों का विन्यास ऐसे नपे तुले ढंग से किया है कि उसमें किसी प्रकार का दोष निकाल पाना किसी के लिए संभव

नहीं है। मेरे स्कंध सीधे हैं, उनसे दो विशाल भुजायें अपने स्वाभाविक ढंग से अवलंबित है। हाथ की उँगलियां सीधी एवं अँगूठा ऊर्ध्व को उठा हुआ उंगलियों से विलग है। घुंघराले केश-गुच्छों का अंकन सुस्पष्ट है।

मेरी इस विशालकाय प्रतिमा का निर्माण बेलगोला के इन्द्रगिरि के कठोर-हल्के भूरे पाषाण से किया गया है। लोगों का ऐसा अनुभव है कि मेरा वजन लगभग २१७४ मन होगा। मेरे निर्माण काल के विषय में भी कला-मर्मज्ञों एव ऐतिहासिकों को मेरी तिथि ६८० ई० अथवा ६८२ ई० निश्चित की है।

मेरी, विश्व की सर्वोच्च ५७ फुट लंबी इस प्रतिमा के अंगों के विन्यास से आप विशालता का स्वत: ही अनुमान लगा सकते हैं --

चरण से कर्ण के अधोभाग तक—५० फुट

कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक—६ फुट ६ इंच

चरण की लंबाई—६ फुट

चरण के अग्रभाग की चौड़ाई—४ फुट ६ इंच

चरण का अँगूठा—फुट ६ इंच।

पांव की उंगली—२$\frac{3}{4}$ फुट

मध्य की उंगली—५$\frac{1}{4}$ फुट

एडी की ऊँचाई—२$\frac{3}{4}$ फुट

कर्ण का पारिल—५$\frac{1}{2}$ फुट

कटि—१० फुट।

श्रवणबेलगोला की मेरी यह प्रतिमा जैनमत में अधिक पूजित है। प्रतिवर्ष लाखों यात्री दर्शन कर अपना अहो-भाग्य मानते हैं। मेरे विषय में आचार्य विमलसूरि ने 'उसभस्स वीयपुत्तो बाहुबली नाम असि विक्खाओ' उल्लेख किया है। मैं अपने पिता एवं भ्राताओं से उन्नत शरीर था अत: मुझे गोम्मटेश भी कहा जाने लगा। जैन परंपरा में मुझे अनेक स्थानों पर 'पौदनेश' शब्द से भी संबोधित किया गया है।

प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास,
शासकीय गृहविज्ञान महाविद्यालय,
होशंगाबाद (म० प्र०)

□□□

(पृ० ११० का शेषांश)

हैं। उनके बाहुबली केवल आध्यात्मिक पुरुष नहीं हैं बल्कि मानवी मूल्यों और अधिकारों के संघर्ष करने वाले लौकिक व्यक्ति भी है इसके लिए वे अपने बड़े भाई से भी लोहा लेने मे नहीं चूके। छल कपट की राजनीति में उनकी व्यवस्था नही थी उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जीत के उन्माद मे वह अपना विवेक नहीं खोते दूसरे घर की फूट को राष्ट्र की फूट नहीं बनने देते, दुनिया के इतिहास मे ऐसा कभी नहीं हुआ कि जब कोई जीती हुई बाजी छोड दे, जीत कर भी क्षमा मांगें, वे अयुद्ध पुरुष नही थे अन्याय के खिलाफ युद्ध न करना उन्हें मान्य नहीं। पश्चाताप के क्षणों मे वे अपने भाई से जो कुछ कहते हैं वह महज औपचारिकता नहीं बल्कि आत्म-मंथन से उपजी व्यथा से लिखा गया, मनुष्य के सम्मान जीने और मुक्त होने का अत्यन्त अनुभूतिमय शब्द लेख है। चामुण्डराय के आदेश पर शिल्पियों द्वारा निर्मित बाहुबली की प्रस्तरमूर्ति और पुष्पदन्त द्वारा रचित शब्द मूर्ति को कलात्मक अभिव्यक्तियां है उनकी तुलना का न आधार है और न प्रश्न। एक विराट है तो दूसरी गहन, एक दृश्य है दूसरी पाठ्य, एक खिलती है दूसरी के साक्षात्कार के लिए। कवि को सृजन प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा है। यह सृजन ही वह आइना है जिसमें बाहुबली का करोड़ों वर्षों पुराना संवेदनशील व्यक्तित्व समायकालीन चेतना के संदर्भ में मनुष्य की समस्त गरिमा के साथ उभर कर आता है। चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तिशिल्प की स्थापना सहस्राब्दि धूमधाम से मनाई जाए यह प्रसन्नता का विषय है परन्तु उस कोलाहल पूर्ण समारोह में भरत पुष्पदन्त और उनके महापुराण का कहीं उल्लेख न हो, यह जरूर पीड़ाजनक है। एक पुष्पदन्त जिन्होंने लगातार १३ वर्षों तक भरत के शुभ तुङ्ग भवन में रहते हुए अपभ्रंश जैसी लोकभाषा मे महापुराण की रचना कर मानव मूल्यों की धरोहर के रूप में हमें सौंपा, और हम है उसकी याद में मंगलकलशों के अभिषेक जल की एक बूंद भी देने को तैयार नहीं है क्या इससे यह जाहिर नहीं होता कि सृजन के प्रति हम कितने उदासीन हैं।

शान्ति निवास, १४ उषा नगर,
इन्दौर-४५२००२

गोम्मट-मूर्ति की कुण्डली

☐ ज्योतिषाचार्य श्री गोविन्द पै

'श्रवणबेलगोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापनातिथि १३ मार्च, सन् ९८१ मानी गई है। वस्तुत सम्भव है कि यह तिथि ही मूर्ति की स्थापना-तिथि हो, क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं, वे उस तिथि में अर्थात् १३ मार्च, ९८१ में ठीक घटित होते है। अतएव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्फुट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती हैं और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग विवरण इस प्रकार है—

श्रीविक्रम सं० १०३८ शकाब्द ९०३ चैत्र शुक्ल पचमी रविवार घटी ५६, पल ५८, रोहिणी नाम नक्षत्र, २२ घटी, १५ पल, तदुपरान्त प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र २५ घटी ४९ पल, आयुष्मान् योग ३४ घटी, ४६ पल इसके बाद प्रतिष्ठा समय मे सौभाग्य योग २१ घटी, ४९ पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट १० राशि, २६ अंश ३९ कला और ५७ विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है—

१०।२६।३९।५७ लग्न स्पष्ट—इस लग्न मे गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवां है, इसका स्वामी मगल है। अतएव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलाराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिशांश विषम राशि कुम्भ मे चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिए यह षड्वर्ग बना—

(१) गृह—शनि, (२) होरा—चन्द्र, (३)नामवंश—मंगल, (४) त्रिशांश—बुध, (५) द्रेष्काण—शुक्र, (६) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिए कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग मे चार शुभग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितांत अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अतएव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देने वाला है। इसलिए इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा मे शुभ है और लग्न भी बलवान है; क्योंकि षड्वर्गकी शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिए ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है। जिसका कि फल आगे लिखा जायगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह ४ बज कर ३८ मिनट होना चाहिए। क्योंकि ये लग्न, नवांशादि की ठीक ४ बज कर ३८ मिनट पर ही आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
११	१	२	१०	१	०	६	०	६	राशि
२४	२५	७	२	३	५	६	७	७	अंश
४३	४१	२६	५८	११	३६	१३	२१	२१	कला
१४	२५	४८	५१	३१	४२	५९	३७	३७	विकला
५८	७८२	४५	१०८	४	५६	२	३	३	गति
४५	५२	३७	५९	४१	५२	३१	११	११	विगति

यहाँ पर 'ग्रह-लाघव के अनुसार अहर्गण ४७८ हैं तथा चक्र ४९ है, करणकुतूहलीय अहर्गण १२३५-९२ मकरन्दीय १६८८३२९ और सूर्यसिद्धान्तीय ७१४४०३९८४९५६ है। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाए गए हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घटयादि भी इसीके अनुसार हैं।

उस समय की लग्न-कुण्डली

उस समय की चन्द्र-कुण्डली

प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिए लग्नकुण्डली का फल

सूर्य

जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गो, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यों में खर्च होता है। लाभ के लिए उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल

यह लग्न से चतुर्थ है इसलिए केन्द्र में है साथ-ही-साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिए इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहाँ सबसे बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है—

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि—

भौम का फल

यह लग्न से पंचम है इसलिए त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिलकुल हट जाता है और यात्रा करने मे उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह विक्षिप्त रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमर कीर्त्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल

यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा—

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टो को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के ८वें वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि जो पीड़ाएं होती है उनको विनाश करता है।[1]

---

१. "बुधो मूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
जना दिव्यचामीकरीभूतदेहाश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भवन्ति ॥"
"लग्ने स्थिताः जीवेन्दुमार्गवबुधाः सुखकाश्तदाः स्युः।"

गुरुफल

यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों को दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, बन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें हैं। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[२]

शुक्रफल

यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अतएव इसका फल प्रतिष्ठा के ५वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ-ही-साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।[३]

शनिफल

यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुला राशि का है। इसलिए उच्च का शनि हुआ अतएव यह धर्म की वृद्धि करने वाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों मे मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों मे रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के है।

राहुफल

यह लग्न से तृतीय है अतएव शुभग्रह के समान फल का देने वाला है। प्रतिष्ठा समय राहु तृतीय स्थान मे होने से, हाथी या सिंह पराक्रम मे उसकी बराबरी नही कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिए उसे प्रयत्न नही करना पड़ता है।[४]

केतु का फल

यह लग्न से नवम मे है अर्थात् धर्म-भाव मे है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना, प्रशसनीय कार्य करना आदि बातें

---

२. गृहद्वारतः श्रूयतेवाजिह्लेषा
द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्।
प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्यं
चतुर्थे गुरौ तप्तमन्तर्गतञ्च ॥
—चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः।
विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते ॥
—लग्नचन्द्रिका

अर्थ—सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति होवे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिए बृहज्जतक १९वां अध्याय देखो।

३. मुख चारुभाषं मनीषापि चार्वी मुखं
चारु चारूणि वासांसि तस्य।
—वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः।
नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते ॥
—लग्नचन्द्रिका

अर्थ—शुक्र के तीसरे स्थान मे रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखो से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक मे भी इसी आशय के कई श्लोक है जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिखा गया है।

४. न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण
प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान् ॥ इत्यादि

अर्थ—जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वह उत्तम वक्ता होता है।

होती हैं। अन्यत्र भी कहा है—[५]

'शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाश:

सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धि:।" इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिए तत्कालीन ग्रहों का फल मूर्ति के लिए फल तत्कालीन कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चर स्थिरादि लग्न नवांश और त्रिशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिशांशादिक भी षड्वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अतएव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते है। चोर डाकू आदि का भय नही हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियो का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा, सभी उस मूर्ति का पूजन करते है। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्त्ति सब दिशाओं मे फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशीश चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र हैं। अतएव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुँचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते है तो परमाणु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और १६ दिन आते हैं।

मूर्ति के लिए कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहां पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस मनुष्य भी उस स्थान मे पहुच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी है किन्तु विशेष महत्वपूर्ण न होने से नाम नही दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगो के लिए भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में बाण पचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमे से कोई भी बाण नही है। अत: उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नही हुआ होगा। सबको अपार सुख एव शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक मे ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आज कल की प्रतिष्ठाओ मे मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते है जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नही कहा जा सकता; क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिए ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अतएव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है। □□□

---

५. एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थ:
सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहंति सद्य:
स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्॥
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि।
सुराणां स्थापनं तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्॥

भवार्थ—इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात् नहीं के बराबर हैं। अतएव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने वाला और श्री चामुण्डराय के लिए सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देनेवला सिद्ध हुआ होगा।

अंतिम श्रुतकेवली महान् प्रभावक आचार्य भद्रबाहु

□ श्री सतीशकुमार जैन, नई दिल्ली

श्रवणबेलगोल के अनेक शिलालेखों में आचार्य भद्रबाहु का उल्लेख हुआ है। भगवान महावीर की आचार्य परम्परा में स्वामी भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली हुए है। मुनियों आर्यिकाओं, श्रावकों एवं श्राविकाओं का विशाल समुदाय भगवान महावीर का चतुर्विध संघ कहलाता था। मुनिसंघ नौ गणों अथवा वृन्दो में विभक्त था जिनके अध्यक्ष थे भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अथवा प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति (गौतम), अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मंडिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य एवं प्रभास। ये सभी गणधर ब्राह्मण तथा उपाध्याय थे एवं ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता थे। महासती चन्दना आर्यिका संघ की नेत्री थी और श्राविका संघ का संचालन होता था मगध की साम्राज्ञी चेलना द्वारा। उनके प्रथम समवशरण के मुख्य श्रोता थे मगध सम्राट बिम्बिसार-श्रेणिक। भारत के लगभग प्रत्येक भाग मे भगवान महावीर के अनुयायी होने के अतिरिक्त गान्धार, कपिशा, पारसीक आदि देशो मे भी उनके भक्त थे।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों मे से इन्द्रभूति एवं सुधर्म के अतिरिक्त नौ को उनके जीवन काल मे ही निर्वाण पद प्राप्त हो गया था। भगवान महावीर को निर्वाण लाभ हुआ १५ अक्तूबर, ई० पू० ५२७ के प्रातःकाल मे। उनके पश्चात् संघ नायक रहे गणधर इन्द्रभूति और उनके पश्चात् गणधर सुधर्म। सुधर्माचार्य के निर्वाण के पश्चात् संघनायक हुए अन्तिम केवली जम्बू-स्वामी। उनके पश्चात् संघनायक रहे क्रमशः श्रुतकेवली विष्णुनन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धनाचार्य एवं भद्रबाहु। उन्हें सम्पूर्ण श्रुत का यथावत ज्ञान था इसी कारण वह पांचों श्रुतकेवली कहलाये।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य रहे है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की ही भांति वे ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। यद्यपि भद्रबाहु नामक कई आचार्य हुए हैं किन्तु यहां तात्पर्य उन्हीं अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से है जो आचार्य गोवर्धन के शिष्य तथा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। हरिषेण के बृहत् कथाकोष के अनुसार चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने ब्राह्मण दम्पति सोम-शर्मा एवं सोमश्री के पुत्र को, उसकी प्रतिभा के कारण, अपना योग्य शिष्य बनाने तथा अपना उत्तराधिकार सौंपने का निश्चय किया था।

गोवर्धनाचार्य द्वारा भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी चयन करने की कथा उल्लेखनीय है। गिरनार की यात्रा के पश्चात् विहार करते हुए पुण्ड्रवर्धन देश के कोटिपुर नामक नगर के समीप गोवर्धनाचार्य ने एक बालक को अन्य बालकों के मध्य चौदह गोलियों को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा करते हुए देखा। आचार्य उसकी बुद्धिमत्ता से प्रभावित हुए। निमित्तज्ञान द्वारा उनको स्पष्ट हुआ कि यही मेधावी बालक भली प्रकार शिक्षित एवं दीक्षित होने पर उनके आचार्य पद का सुयोग्य उत्तराधिकारी बनेगा। बालक से उसके माता-पिता का पता ज्ञात कर उन्होंने ब्राह्मण दम्पति से उस बालक को उचित शिक्षा देने के लिए ले लिया। गोवर्धनाचार्य ने बालक को यथो-चित शिक्षाएं देकर विद्वान शिष्य बनाने के उपरांत माता-पिता के पास वापिस भेज दिया। किशोर विद्वान ने माता-पिता से मुनिधर्म में दीक्षित होने की अनुमति मांगी जो उन्होंने सहर्ष प्रदान की। गोवर्धनाचार्य ने दीक्षा उपरांत नाम दिया भद्रबाहु। मुनि भद्रबाहु का जीवन मुनिचर्या में व्यतीत होने लगा। वह जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान बन गये। आचार्य ने उन्हें अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित कर संघ का सब भार उन्हीं को सौंप दिया। उनके देह-त्याग के

पश्चात् भद्रबाहु ने आचार्य पद धारण किया। वे चतुर्दश पूर्वधर तथा अष्टांग निमित्तज्ञानी श्रुतकेवली थे। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए अपने उपदेशों द्वारा उन्होंने धर्म प्रचार एवं जन-कल्याण किया। विहार करते हुए वह संघ सहित उज्जयिनी भी पधारे एवं क्षिप्रा नदी के किनारे उपवन मे प्रवास किया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य्य उस समय अपनी उपराजधानी उज्जयिनी में ही राज्य संचालन कर रहे थे। वे महारानी सहित उनके दर्शनों के लिए आए और उनके संघ को आहार के लिए निमंत्रित किया। विधिपूर्वक उनके संघ ने नगरी में आहार ग्रहण किया। आहार के निमित्त नगरी में पधारने पर वे एक दिन जैसे ही एक आवास-गृह के आंगन में प्रविष्ट हुए झूले में झूलते हुए एक सर्वथा अकेले शिशु ने उनको सम्बोधित कर कहा—"जाओ-जाओ।" आचार्य भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान से जाना कि भविष्य उस क्षेत्र मे शुभ नहीं है, वहां बारह वर्ष का भारी दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होगे तथा मुनिसघ को आहार मे भारी कष्ट होगा, सयम पूर्वक चर्या पालन कठिन होता जायेगा। बिना आहार लिए वह वापिस आ गये तथा संघ को भावी संकट से सूचित करते हुए दक्षिण की ओर जाने का निश्चित किया।

रात्री में सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी सोलह अशुभ स्वप्न देखे। वे उन स्वप्नों का फल ज्ञात करने के लिए आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचे। उन्होने स्वप्नों को भी आने वाले संकट काल का सूचक बताया। स्वामी भद्रबाहु के सघ सहित दक्षिण में प्रस्थान करने के निश्चय को ज्ञात कर सम्राट ने भी राज्य कार्य अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप आचार्य से जैन मुनि दीक्षा ले ली। महान सम्राट एक दिगम्बर साधु बन गये, सभी परीषहों को झेलने के लिए सहर्ष तत्पर। धर्मोपदेश देते हुए आचार्य ने सघ एवं चन्द्रगुप्त सहित जिसमें लगभग बारह सहस्र साधु सम्मिलित थे दक्षिण की ओर प्रस्थान करने की तैयारी की। यद्यपि राजपरिवार के अनेक सदस्यों एवं श्रेष्ठी वर्ग ने उनसे वह क्षेत्र न छोड़कर जाने के लिए अनुनय की किन्तु साधुओं की चर्या एवं संयम की रक्षा के लिए वह अपने निश्चय पर अडिग रहे।

चन्द्रगिरि पर निर्मित चन्द्रगुप्त बसदि में शिल्पकार दासोज द्वारा उत्कीर्ण ९० जालीदार पाषाण चित्रफलकों में से अनेक चित्रफलको मे उपरोक्त घटनाओं को चित्रित किया गया है।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य हुए है। कितनी अपूर्व रही होगी उनकी नेतृत्व शक्ति तथा जैन धर्म के प्रसार के लिए उत्कट कामना। यह जान कर भी कि सुदूर दक्षिण मे इतने विशाल सघ सहित जाने में मार्ग में कितने ही कष्ट आयेंगे, साधुओं को कभी-कभी निराहार भी रहना पड़ेगा, ऋतु सम्बन्धी तथा परीषह भी झेलने पड़ेंगे उन्होने प्रस्थान का निश्चय लेकर कितने साहस का परिचय दिया। किन्तु जहा सघ ने सभी परीषहों को समभाव से झेला, उस विशाल सघ द्वारा समस्त मार्ग मे धर्म प्रभावना भी कम नही हुई। स्थान-स्थान पर दिगम्बर जैन साधुओ के कठोर आचरणमय जीवन तथा उनकी शान्त तपस्या मुद्रा से सहस्रो-सहस्रो व्यक्तियों के हृदय मे जैन धर्म के उत्कट त्याग एवं सयम के प्रति आदर तथा आस्था अवश्य ही उत्पन्न हुए।

उनके कर्णाटक मे सघ सहित कटवप्र पर्वत, वर्तमान चन्द्रगिरि पर पहुंचने के उपरान्त वह समस्त क्षेत्र जैन जयघोष से गुंजित हो उठा। श्रवणबेलगोल समस्त दक्षिण-पथ मे जैन धर्म के प्रसार के लिए केन्द्र-बिन्दु बन गया। कैसा अपूर्व रहता होगा उस समस्त स्थान का धार्मिक एवं पवित्र वातावरण। आचार्य भद्रबाहु की ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर अनेकों ने जैन धर्म अगीकार किया एवं वह मुनि धर्म में दीक्षित हुए। जैन धर्म का पालन करना तथा मृत्यु निकट होने पर सात्विक वृत्ति से सयम पूर्वक सल्लेखना-व्रत धारण कर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग करना उस काल मे एक प्रचलित एवं धार्मिक महत्व की बात बन गई। चन्द्रगिरि के सर्वाधिक प्राचीन ६ठीं शती के शिलालेख क्रमांक १ मे उल्लख है कि स्वामी भद्रबाहु ने वहां से समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया तथा उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य चन्द्रगुप्त (दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र) तथा ७०० अन्य साधुओं ने समाधिमरण पूर्वक द्वारा देह त्याग किया।

भगवती आराधना की एक गाथा में भद्रबाहु की समाधि का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया गया है—

ओमोदरिये घोराए भद्दबाहू य संकिलिट्ठमदी।
घोराए तिगिंच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥

अर्थात् भद्रबाहु ने अवमोदर्य द्वारा न्यून आहार की घोर वेदना सहकर उत्तम पुण्य की प्राप्ति की।

दिगम्बर साहित्य मे स्वामी भद्रबाहु के जन्म आदि का परिचय हरिषेण कृत बृहत् कथाकोष, श्रीचन्द्र कथाकोष तथा भद्रबाहु चरित आदि में मिलता है। श्वेताम्बर-साहित्य मे उन पर सामग्री के स्रोत है कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नंदि-सूत्र, आर्षमंडलसूत्र तथा हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व। दि० परम्परा मे स्वामी भद्रबाहु द्वारा साहित्य रचना का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार व्यवहारसूत्र, छेदसूत्र, आदि ग्रंथ श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा रचित माने जाते हैं। दिगम्बर परम्परा मे भद्रबाहु का पट्टकाल (आचार्य पद) २९ वर्ष (ई० पू० ३९४ से ई० पू० ३६५) तथा श्वेताम्बर परम्परा मे १४ वर्ष (ई० पू० ३७१ से ई० पू० ३५७) बताया गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निधन ई० पू० ३६५ मे हुआ जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनका देहत्याग भगवान महावीर के निर्वाण वर्ष से १७०वे वर्ष मे अर्थात् ई० पू० ३५७ मे हुआ। ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य्य का राज्यकाल ई० पू० ३२१ से ई० पू० २९८ पर्यन्त रहा है। स्वामी भद्रबाहु के आचार्य काल मे चन्द्रगुप्त उनके शिष्य रहे अतएव जैन परम्परा एव इतिहास सम्मत काल के अनुसार उनके जीवन काल सम्बन्धित लगभग ७० वर्ष का अन्तर आता है। विद्वान उनका ऐतिहासिक काल निश्चित करने की शोध-खोज मे लगे हुए है।

अपना अन्तकाल निकट आया जानकर, कटवप्र पर्वत (चन्द्रगिरि) पर, स्वामी भद्रबाहु ने अपने समस्त संघ को दक्षिण के पाण्ड्य आदि राज्यों की ओर जाने का आदेश दिया। मुनि चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) के अनुरोध पर केवल वे ही उनकी सेवा के लिए वहा पर रुके रहे। भद्रबाहु गुफा मे समाधिमरण-पूर्वक उनका देह त्याग हुआ। उस समय चन्द्रगुप्त उनके पास ही थे। स्मृतिस्वरूप उस गुफा में उनके चरण-चिह्न स्थापित है जिनकी पूजा की जाती है।

स्वामी भद्रबाहु के आदेश पर विशाखाचार्य उस संघ के नेता हुए और उस विशाल मुनिसंघ ने दक्षिण के पाण्ड्य आदि देशो मे विहार कर धर्म प्रचार किया।

बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के समाप्त हो जाने के पश्चात् उस साधु संघ का मूल एव अधिकतर भाग स्थायी रूप से दक्षिण मे ही रह गया। श्रवणबेलगोल को प्रधान केन्द्र बनाकर दिगम्बर जैन साधु दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे तथा सागर के निकट द्वीपों में भी जैनधर्म का प्रचार एव प्रसार करने मे लगे रहे।

भगवान महावीर के अहिंसा धर्म के अनुयायी मगध तथा उत्तर-पूर्वी भारत मे तो अनेक राजवंश थे ही, आचार्य भद्रबाहु की धर्म प्रभावना के फलस्वरूप शताब्दियों के अन्तराल के पश्चात् भी दक्षिण के अनेक प्रसिद्ध राजवंश जैनधर्म से प्रभावित रहे और अनेक नरेश, मंत्री, सामंत, अधिकारी, उच्च श्रेष्ठी आदि जैन धर्म के अनुयायी बने रहे। तथा उनके द्वारा बहुविध रूपो मे जैन-धर्म को संरक्षण मिलता रहा।

दक्षिण मे ही अधिकांशत: वह महान जैनाचार्य हुए जिन्होंने अपने अगाध ज्ञान से शास्त्रार्थ मे अनेक प्रमुख जैनेतर विद्वानों पर विजय प्राप्त कर जैन धर्म के यश को और उज्जवल किया तथा उसके महत्त्व एवं श्रेष्ठता को स्थापित किया। जैन वाङ्मय का अधिकांश भाग भी दक्षिण के महान जैनाचार्यों द्वारा सृजित हुआ है। दक्षिण मे जैन धर्म के विकास का श्रेय इस प्रकार मूलत: आचार्य भद्रबाहु को ही प्राप्त होता है।

हिन्दी कवि उदयशंकर भट्ट की काव्य-सृष्टि में बाहुबलि

☐ श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

जैन शलाका पुरुषों के चरित्र ने न केवल जैन कवियों को ही अपितु जैनेतर लेखकों एवं कवियों आदि को भी प्रेरित किया है। इनमें हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार स्वर्गीय उदयशंकर भट्ट की भी गणना की जा सकती है। उन्होने 'तक्षशिला'[1] नामक एक खण्डकाव्य की रचना की है। यद्यपि कवि को इसमें भारत की सुविख्यात प्राचीन नगरी या विश्वविद्यालयस्थली का गुणगान ही अभीष्ट है तदपि इस काव्यके पांच स्तरों (अध्यायों)··· द्वितीय एवं तृतीय···मे से दो मे तक्षशिला शासक बाहुबली की यशोगाथा का गान भगवान आदिनाथ का स्मरण निम्नलिखित शब्दों से प्रारम्भ करते हुए किया है—

आर्हतगामी ऋषभस्वामी, जैनधर्म मतरूरे।
तीर्थंकर थे सृष्टिपूज्य, अथ सद्विवेक मतपूरे॥

भट्ट जी ने "सृष्टिपूज्य" शब्द का प्रयोग कर यह मान्यता पुष्टकी है कि किसी समय भगवान ऋषभदेव सारे भारत में पूज्य थे। इस प्रकार आदिदेव को एक सत्य मानकर उन्होंने भरत और बाहुबलि के शासन और युद्ध आदि का वर्णन किया है। इन दोनों भाइयों के कथानक को भट्टजी ने हेमचंद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र से ग्रहण किया है।किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे इसे केवल एक जैन पौराणिक आख्यान ही नहीं मानते अपितु उसे एक ऐतिहासिक घटना मानते हैं। उक्त काव्य की भूमिका में उन्होंने लिखा है :—यह कहना कठिन है कि पुस्तक के सारे ही कथाभाग इतिहाससिद्ध हैं। कवियों की दृष्टि से जो मुझे उचित जान पड़ा उमी के अनुसार कथा को मैंने लिखने का प्रयास किया है। वर्णन-प्रसंगों मे, बातचीत में, विचार-शृखला को मुख्यता दी गई है फिर भी पुस्तक का ऐतिहासिक रूप बिगड़ने नहीं पाया है ऐसी मेरी धारणा है। इसके अतिरिक्त बहुत सेविद्वान बौद्ध और जैन-ग्रंथों के इन प्रकरणों को इतिहास-सिद्ध नहीं मानते। उदाहरणार्थ कुणाल-स्तूप के विषय में ऐतिहासिकों मे मतभेद है, उनके विचार से तक्षशिला का कुणाल-स्तूप नहीं है। इसी तरह बाहुबली की कथा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही रखती। परन्तु मैं इनको ऐतिहासिक मानता हूं। उमका कारण यह है कि जैन-ग्रंथों में त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित्र ग्रंथ जहां धार्मिक आधार पर लिखा गया है वहां उसमे जैन-साहित्यका इतिहास भी सम्मिलित है। इसी के आधार पर जैन इतिहास की सृष्टि हुई है। उन्होंने पुन: इस बात को दोहराया है कि "सारांश यह है कि पुस्तक को उपादेय बनाने की दृष्टि से मैंने कथाभागों को ऐतिहासिक मानकर ही लिया है।" इस प्रकार कवि ने अपनी काव्यगत आवश्यकता के अतिरिक्त अपनी ऐतिहासिक मान्यता भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर यह मत प्रकट कर दिया है कि जैन ग्रंथों के कथानकों को भी उसी प्रकार ऐतिहासिक मान्यता दी जा सकती है जिस प्रकार कि अन्य संप्रदायों के ग्रंथों को दी जाती है। भागवत पुराण के पांच अध्यायों में भगवान ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के चरित्र को ग्रथकार की मायन्ता के अनुसार स्थान मिला है किन्तु सभवत: "तक्षशिला" एक प्रधान रचना है जिसमे भरत-बाहुबलि द्वंद्व युद्ध प्रकरण को ऐतिहासिक मान्यता प्रदान की गई है। इस दृष्टि से इस खंडकाव्य का अपना महत्व है। कवि ने अपनी रचना के लिए एक ओर जहाँ सर जान मार्शल की तक्षशिला संबंधी खोजों से सामग्री ली है, वहीं अनेक जैन ग्रंथों यथा आवश्यक निर्युक्ति, प्रभावक चरित्र, दर्शन रत्नाकर हरि-सौभाग्य, शत्रुंजय महात्म्य आदि जैन ग्रंथों से भी तथ्य संग्रह कर तक्षशिला की ऐतिहासिक गाथा की है।

१. इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग से १९३५ में प्रकाशित।

तक्षशिला की गौरव-गाथा के गाने में अन्य कोई कवि तक्षशिलाधिप बाहुबलि के बड़े भाई चक्रवर्ती भरत के चरित्र को सभवतः अपने नायक की तुलना मे हीन दिखाने का प्रयास कर सकता था क्योंकि बाहुबलि का उनसे युद्ध हुआ था किंतु भट्ट जी ने ऐसा नहीं किया। भरत की गुरुता को उन्होंने निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है—

भरत अयोध्या के राजा थे,
मुकुट मौलि पृथ्वी के।
मनोनीत सम्पन्न प्रजा के,
गुरु थे ज्ञान धनी के॥

इस प्रकार भरत का यह चित्रण जैन परंपरा से मेल खाता है जिसके अनुसार चक्रवर्ती भरत की प्रजा सभी प्रकार से सुखी थी और वे स्वयं ज्ञान और तप की मूर्ति थे।

द्वितीय स्तर के प्रारम्भ में भट्ट जी ने अपनी काव्यमय भाषा में बाहुबलि के सुशासन का चित्र खींचते हुए लिखा है कि उनके राज्य मे "कुत्सित और कुटिल" जैसे शब्द केवल शब्दकोशों मे ही पाए जातेथे। बाहुबलि के सभी प्रजाजन संपन्न और साक्षर थे। उनके शासनकाल में तक्षशिला इन्द्र की अपर या दूसरी नगरी ही लगती थी। ऐसी नगरी मे—

कहीं पाप का नाम नहीं था,
कही न भेद बचन में।
कहीं न कूटनीति का परिचय,
कहीं न ईर्ष्या मन में॥

और इस नगरी का शासक शौर्य-वीर्य की मूर्ति होने के साथ-ही-साथ रूप-राशि का भी धनी था। प्रजा का रजन करने में व्यस्त होने के साथ-ही-साथ यह शासक शास्त्र-पाठ और चिन्तन-मनन में रत रहता था।

इतने लोकप्रिय राजा के जीवन मे उस समय क्षुब्धता उत्पन्न हुई जब चक्रवर्ती भरत के दूत ने अयोध्यापति का सदेश उन्हें सुनाया।

दूत के आगमन को कवि ने मानों शर का आगमन बताते हुए नृप बाहुबलि की कल्पना भी सदेह मनु के रूप मे की है। उधर बाहुबलि ने भी "नय की परंपरा से" "सुवेग नामक" कामादिक षट शत्रु विजेता, छह खंडों के स्वामी भरत के दूत से सभी की कुशल पूछी। दूत ने भरत की प्रजा, विशाल साम्राज्य आदि की चर्चा करते हुए चक्रवर्ती के मन का शूल इस प्रकार सुनाया—(सारे नृप उन्हे सिर नवा कर भेंट देकर अधीनता स्वीकार चुके किन्तु···)

वज्र समान कठोर आप हो,
केवल निकट न आये।
भ्रातृभाव की रक्षा करने,
कोई भेंट न लाये।
है अवज्ञा यह नृप,
दर्प न अच्छा है॥

दूत ने बाहुबलि से यह भी निवेदन किया कि उन्हें बड़े भाई का आदर करने की दृष्टि से भी अयोध्या चल कर चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए। दूत की चतुराई की प्रशंसा करते हुए बाहुबलि ने कहा कि "बड़े भाई उनके लिए पिता के समान पूज्य है" किन्तु कौटिल्य शास्त्र के सब रहस्य सीखे हुए अपने बड़े भाई के विषय मे शंका व्यक्त करते हुए कहा कि मेरे बड़े भाई ने अन्य राज्यों का तो सर्वस्व हरण कर लिया है फिर मैं कैसे यह मान लूं कि मेरे प्रति उनका प्रेम खारा है। अंतर्यामी ऋषभ-स्वामी हमारे पिता हैं यह तो ठीक है मगर (भरत)—

वे स्वामी मैं अनुचर यह तो,
दाम्भिक नीति विषम है।
यदि मैं वज्र समान पुरुष,
हूं यह स्वभाव यदि मेरा।
तो अभेद्य अविजेय रहूंगा,
व्यर्थ विवाद घनेरा॥

बाहुबलि का यह उत्तर सुन कर दूत तिलमिला कर चला गया। भरत ने जब अपने वीर-वृत्ति, उद्धृत बल छोटे भाई की कुशल और उत्तर पूछा, तो दूत ने उन्हें बताया कि साम, दाम आदि उसकी सभी नीतियां विफल हो गई क्योंकि "उन्हें बांधना सिंह को बांधना" और वे तो केवल "संग्राम साध्य है। भरत ने स्वीकार किया कि उनका छोटा भाई स्वभाव से ही कड़ा है। मगर मन्त्री न यह सलाह दी कि यदि वे चक्रवर्ती की अवज्ञा करने वाले

अपने अनुज को दंड नहीं देंगे तो कर्तव्यच्युत होंगे अतः "युद्ध-ध्वनि ही शुद्ध मंत्रणा" दी। जब भरत ने इस पर हुंकृति भर दी, तो युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं। इस प्रसंग पर भट्ट जी ने लिखा है—

इस प्रकार सुविवेकशून्य, भूपति ने रण की ठानी।
भ्रातृभाव की हुई हानि, विजयश्री ललचानी।।

परिणाम यह हुआ कि चक्रवर्ती की अगणित सेना, अश्व पक्तियाँ, गजालियाँ सैन्य सागर-सी तक्षशिला की ओर चल पड़ीं। कवि के कथानक के अनुसार देवता यह देख कर घबरा गए और उन्होंने भरत से निवेदन किया कि आप देवपति सम हैं और आप का कोई प्रतिस्पर्द्धी नहीं हैं और आप जरा यह विचार तो करते कि दो भाइयों के इस युद्ध में "विनाश जीव का होगा" किन्तु भरत ने कहा कि अभिमानी का मान तोड़ना भी तो राजा का कर्तव्य है। इस पर देवों ने प्रस्ताव रखा कि यदि युद्ध आवश्यक ही है तो दोनों भाई ही आपस मे लड़ ले और इस बात के लिए वे बाहुबलि को भी राजी कर लेंगे। भरत ने जब यह प्रस्ताव मान लिया, तो भरत की सेना बड़ी निराश हो गई मगर बाहुबलि ने उत्तर दिया—

"विनय, नीति, मति, शुद्ध न्याय से किंचित भी न टरूंगा
जैसी इच्छा हो भाई की मैं भी वही करूंगा"

क्योंकि "मनुजनाश से यही भला है।" इस प्रकार तक्षशिला शासक बाहुबलि ने संसार के सामने एक अहिंसक युद्ध का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत किया।

एक रम्य अखाड़े मे दोनो भाई अनगिनत दर्शकों के समक्ष द्वन्द्व युद्ध के लिए उतर पड़े। इस मल्ल युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

हुई युद्ध की वृष्टि-सी गर्जना, महाताल-सी ताल की तर्जना।
किया वज्रनिर्घोष यों लक्ष ने नंग स्फोट जाना प्रजापक्ष ने।।

किन्तु इस मल्ल युद्ध मे विजयश्री बाहुबलि को मिली और भरत भूमि पर गिर पड़े (कवि के अनुसार) और चारों तरफ हाहाकार मच गया। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कवि ने जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और भरत द्वारा बाहुबलि पर चक्र चलाए जाने की घटनाओं को छोड़ दिया है। इसी प्रकार इस वर्णन में यह भी परिवर्तन है कि बाहुबलि ने अपने बड़े भाई को जमीन पर नहीं गिराया था अपितु उन्हें अपने दोनों हाथों में ऊपर उठा लिया था और भरत को नीचे गिराने का भाव आते ही उन्हें वैराग्य हो गया था और वे इस प्रकार अपने बड़े भाई का अपमान करने के दोष से बच गए थे। जो भी हो, कवि ने बाहुबलि की उस समय की मनःस्थिति का संक्षिप्त किन्तु सशक्त वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

"विस्मृत हुई विजय की, इच्छा वंश रक्त गरमाया।
मोती से आँसू आ झलके, भ्रातृप्रेम अकुराया।।
हाय वहाँ विषरस घोला, इस कुल की परम्परा में।
यौवन, राज्य विजय की, इच्छा है ये पाप धरा में।।
जग-विश्रुत ऋषभस्वामी, का मैं कुपुत्र सुप्रतापी।
भ्रातृहनन को हुआ व्यग्र हा, अत्युत्कृष्ट नशा पी।।
यत्नजन्य उपचारों द्वारा, मूर्च्छा से वे जागे।
विह्वल-हृदय निरख भ्राता, को स्वयं प्रेम से पागे।।
गाढ़ भुजा से आलिंगन कर, अपनी निन्दा करके।
लज्जा खेद विनय रस साने, स्नेह सुधा से भरके।।
अश्रु-बिंदु से चरण कमल धो, बाहुबलि यों बोले।
भ्रान्ति हुई मम दूर ज्ञान ने, चक्षु-पटल चहुँ खोले।।
सब कुछ सौंप भरत भूपति को, लिया विराग सभी से।
निस्पृह, निर्मम, निर्भय हो सब त्यागा जग निज जी से।।
समाधिस्थ हो सत्पथ देखा, परब्रह्म पद पाया।
जीवन भूति ज्वलन्त निरख, सब जग ने शीश झुकाया।।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उदयशंकर भट्ट ने अपना कथानक हेमचंद्राचार्य के त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित्र से लिया है किन्तु उसमे अंतिम प्रकरण इस प्रकार दिया गया है। बाहुबली ने जब रुष्ट होकर भरत पर प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गए और सब एक स्वर मे कहने लगे"—क्षमा कीजिए, सामर्थ्य होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतिकार भूल से नहीं होता। बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे— "ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की हैं। प्रेम ही मेरी कुल परम्परा है किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाए?" उन्होंने विवेक से काम लिया। अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन कर वे श्रमण बन गए। उन्होंने ऋषभदेव के चरणो मे वहीं से भावपूर्वक नमन किया और कृत अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की।" इस प्रकार कवि ने कथा के अंतिम भाग में भी किंचित परिवर्तन किया है।

□□□

श्री पुण्य कुशल गणि और उनका 'भरतबाहुबलि-महाकाव्यम्'

□ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

'भरतबाहुबलि महाकाव्यम्' विक्रम की १७वीं शती के प्रभावक आचार्य, श्री पुण्यकुशलगणि की संस्कृत भाषा में निबद्ध एक मनोहर रचना है। इसकी पञ्जिका नामक एक लघुटीका भी उपलब्ध है जिसका कर्तृत्व सुनिश्चित नहीं है। पञ्जिका के साथ इस महाकाव्य का सुन्दर प्रकाशन सर्वप्रथम ई० १९४७ मे भगवान महावीर की २५वी निर्वाण शती के उपलक्ष्य मे 'विश्व भारती' लाडनू (राजस्थान) से किया गया। इस प्रकाशन के प्रेरक श्वेताम्बर तेरह पथ के आचार्य श्री तुलसी गणि, सम्पादक मुनि श्री नथमल और हिन्दी अनुवादक मुनि श्री दुलहराज हैं।

काव्यकर्त्ता और उनका समय :

सस्कृत साहित्य की परम्परा के अनुसार काव्यकर्ता श्री पुण्यकुशलगणि ने काव्य मे अपना नाम कहीं पर भी नहीं लिखा है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक मे 'पुण्योदय' शब्द का प्रयोग करके उन्होंने अपने नाम का संकेत कर दिया है। यथा—

"भरतनृपतिचार: सोऽथ संयोज्य प्राणी
क्षितिपतिमवनम्यात्यन्तपुण्योदयाढ्यम्।" (७९)
(भरतबाहुबलि महाकाव्यम् —प्रथम सर्ग अंतिम श्लोक)

पञ्जिकायुक्त प्रति में प्रत्येक सर्ग के अत में सर्गपूर्ति की कुछ पंक्तियां लिखी हैं, उनसे ज्ञात होता है कि श्री पुण्य कुशलगणि तपागच्छ के श्री विजयसूरी के प्रशिष्य और पं० सोमकुशलगणि के शिष्य थे। उन्होंने प्रस्तुत काव्य विजयसेन सूरि के शासनकाल मे लिखा। विजयसेन सूरी का अस्तित्व काल विक्रम की १७वीं शती है। अत: यह मानना उपयुक्त होगा कि प्रस्तुत काव्य की रचना विक्रम की १७वीं शताब्दी के मध्य हुई।

पंजिका :

'पंजिका पदभञ्जिका' इस वाक्य के अनुसार पंजिका में केवल पदों का संक्षिप्त अर्थ होता है। यह प्रस्तुत काव्य का व्याख्या-ग्रन्थ है। यह अपूर्ण उपलब्ध हुई है। इसमें भरतबाहुबलि महाकाव्यम् के ग्यारहवें सर्ग तक की व्याख्या है।

पंजिका के प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक श्लोक है जिसके द्वितीय एवं चतुर्थचरण प्रायः भिन्न है और प्रथम एव तृतीय चरण सभी में समान है। तृतीयचरण में 'पुण्यकुशल' शब्द का प्रयोग मिलता है।

कथावस्तु :

महाराज भरत ने समस्त आर्यावर्त का राज्य अपने सौ पुत्रों में विभक्त कर प्रव्रज्या ग्रहण की। ज्येष्ठ पुत्र भरत को अयोध्या तथा द्वितीय पुत्र बाहुबली को बहली-प्रदेश (तक्षशिला) का राज्य प्राप्त हुआ।

सम्राट् भरत सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय यात्रा करके जब अपनी राजधानी लौटे तो उनका चक्ररत्न आयुधशाला में प्रविष्ट नही हुआ क्योंकि उनके अनुज महाराज बाहुबली ने चक्रवर्ती सम्राट् भरत के शासन को स्वीकार नहीं किया था। भरत ने बाहुबली को अपना शासन स्वीकारने का संदेश देकर एक दूत को उनके पास भेजा। काव्य का प्रारंभ यहीं से होता है।

जब महाराज बाहुबली ने भरत के शासन को स्वीकार नही किया तो भरत ने अपने सेनापति के परामर्श से युद्ध की घोषणा कर दी। दोनों की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। युद्ध की भीषणता को देख कर देवगण भूमि पर आए और दोनो को संबोधित किया। अंत मे निश्चय हुआ कि सर्व-सहारी हिंसा से बचाने के लिए दोनों योद्धा, आपस मे दृष्टि, मुष्टि, शब्द और दण्ड युद्धों के द्वारा विजय का निर्णय करें।

सम्राट् भरत चारों युद्धों मे बाहुबली से हार गए। अतिशय क्रोध में भरत ने चक्ररत्न से बाहुबली को नष्ट

करने की धमकी दी और बाहुबली रोष से मुष्टि प्रहार करने के लिए भरत की ओर दौड़ पड़े। किन्तु देवताओं द्वारा प्रतिबुद्ध होने पर उन्होंने अपनी मुष्टि का प्रयोग केश-लुंचन के लिए किया, और वे महाव्रतधारी मुनि बन गए। यह देख सम्राट् भरत भी उनके चरणों में विनत हो गए।

तप: संरूढ़ बाहुबली के मन में 'अह' का अंकुर विद्यमान था। अत: कठोर तप करने पर भी एक वर्ष तक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। भगवान् ऋषभ द्वारा प्रेरित प्रव्रजित ब्राह्मी और सुन्दरी (नामक बहिनों) के द्वारा प्रतिबुद्ध बाहुबली को 'अहं' का त्याग करते ही निरावरण ज्ञान की उपलब्धि हुई। [अन्त में भरत को भी वैराग्य हुआ और उन्होंने दीक्षा धारण कर केवलज्ञान को प्राप्त किया।

महाकाव्यत्व :

'भरत बाहुबलि महाकाव्यम्' शास्त्रीय-दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। दण्डी (काव्यादर्श—१.१४-१९), विश्वनाथ कविराज (साहित्य दर्पण—६.१५-२५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन—८.६) आदि आलंकारिकों ने महाकाव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, तदनुसार प्रस्तुत काव्य महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

इसकी रचना अठारह सर्गों मे की गई है। क्षत्रिय-कुल के धीर-प्रशान्त और वीर शिरोमणि, बाहुबली इसके नायक है। इसका मुख्य रस 'शान्त' है। 'वीर' एवं 'शृंगार' इसके गौण रस हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन किया गया है। वृत्त को अलंकृत करने के लिए प्रकृति वर्णन, चन्द्रोदय, वन विहार, जलक्रीडा, ऋतु-वर्णन, वन, पर्वत, समुद्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार आदि का मनोहारी वर्णन है। वीर रस के प्रसंग में दिग्विजय, युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। काव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म की विजय है।

कुछ आलोचक (मुनि श्री नथमल—'भरत बाहुबलि महाकाव्यम्'—प्रस्तुति, पृ० १३-१४) इसे न तो महा-काव्यम्' प्रस्तुति, पृ० १३-१४) इसे न तो महाकाव्य मानते हैं और न खण्डकाव्य, किन्तु वे इसे दोनों काव्यों के लक्षणों से समन्वित काव्य की किसी तृतीय विधा में रखने के पक्षपाती है।

इस संबंध में मेरा मत है कि यद्यपि इसमें नायक के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण न होकर केवल युद्ध का प्रसङ्ग प्रधान रूप से वर्णित है, फिर भी यदि किरात वेष-धारी शिव और अर्जुन के युद्ध की एकाङ्ग-घटना के होने पर भी, 'किरातार्जुनीयम्' को महाकाव्य के अन्य उपादानों के कारण सर्वसम्मत महाकाव्य माना जाता है तो फिर उसके ही समान 'भरत बाहुबलि-महाकाव्यम्' को महा-काव्य माने जाने में कोई आपत्ति नही होना चाहिए।

रस, अलङ्कार और छन्दोयोजना :

रस—यद्यपि काव्य मे 'वीर' और 'शृंगार' रस सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, फिर भी इन दोनों रसों का समापन, बाहुबली और भरत के द्वारा तप: साधना कर कैवल्य-प्राप्ति के रूप में होता है, अत: 'शान्त' ही इस काव्य का अङ्गी रस माना जाना उपयुक्त है। सर्वत्र वर्णित होकर भी 'वीर' और 'शृङ्गार' अङ्ग रस के रूप में समझना चाहिए।

अलंकार—प्रस्तुत काव्य में कवि ने शब्दालंकार और अर्थालकार का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है। उपमा और उत्प्रेक्षा की अपेक्षा अर्थान्तरन्यास का अधिक मात्रा में प्रयोग है।

शब्दालंकारों में यद्यपि अनुप्रास, श्लेष आदि अलंकार सर्वत्र दिखाई देते हैं, फिर भी यमकालकार पर कवि का विशेष आग्रह प्रतीत होता है। पूरा पंचम सर्ग यमका-लकार से भरा है। इस सर्ग के ७५ श्लोकों में यमका-लंकार प्रयुक्त है। जैसे :—

> "इति चमूमवलोक्य चमूपति:,
> प्रगुणितां गुणितांतक विग्रहाम्।
> नृपतिमेवमुवाच तनूभवद्रसमय:
> समय: शारदस्त्वयम्॥"

यहां पर, चमू गुणितां तथा समय:, विभिन्न अर्थों वाले इन तीन शब्दों की आवृति होने से यमकालकार है।

अर्थालंकारों में अर्थान्तरन्यास कवि का अतिप्रिय अलंकार है। इसमें सामान्य-विशेष कथनों का विशेष-सामान्य कथनों के द्वारा समर्थन होता है। विशेष सामान्य द्वारा समर्थन का सुन्दर उदाहरण देखिए।

"तदात्मजेभ्यो विहितानतिभ्य: प्रत्यर्पि पैत्रं भरतेन राज्यम्
कोप: प्रणामान्त इहोत्तमानामनुत्तमानां जननावधिर्हि।"
(भ० बा० म० २-८०)

(भाइयो के पुत्र, भरत का आधिपत्य स्वीकार कर नत हो गए। उनको भरत ने छीना हुआ पैतृक राज्य पुनः सौंप दिया। क्योंकि उत्तम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि प्रणाम न करने तक और अधम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि जीवन पर्यन्त होती है।)

इसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष दृष्टान्त आदि अलंकारों का यथास्थान अतिमनोहर प्रयोग हुआ है।

छन्द—प्रस्तुत काव्य में वर्ण विषय के अनुसार कवि ने छन्दों का प्रयोग किया है। इसमें १८ सर्ग और १५३५ श्लोक है। सर्गों मे मुख्य रूप से प्रयुक्त छन्द आठ हैं:—वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप, वियोगिनी, द्रुतबिलम्बित, स्वागता, रथोद्धता और प्रहर्षिणी। उपजाति का सबसे अधिक प्रयोग है। सर्ग के अन्त में प्रयुक्त छन्द बड़े है। जैसे:—मालिनी, वसन्तनिलका हरिणी, पुष्पिताग्रा, शार्दूल विक्रीड़ित, शिखरिणी मन्दक्रांता और स्रगधरा। इनमें वसन्ततिलका का प्रयोग मबसे अधिक है।

भाषा और शैली :

भाषा—काव्य में भाषा की जटिलता नही है। ललित-पदावली में सरलता से गुम्फित अर्थ पाठक के मन को मोह लेता है। पद-लालित्य और अर्थ-गाम्भीर्य, ये दोनों काव्य की भाषा की विशेषताएं है।

शैली—काव्य में तीन गुण मुख्य माने जाते है—माधुर्य, प्रसाद और ओज। माधुर्य और प्रसाद वाली रचना में समासान्त पदों का प्रयोग नही होता। ओज गुण वाली रचना में समास बहुल पद प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत काव्य में प्रसाद और माधुर्य, दोनों गुणों की प्रधानता है। कहीं-कही युद्ध आदि के प्रसंग में ओज गुण भी परिलक्षित होता है।

रीति या शैली की दृष्टि से प्रस्तुत रचना वैदर्भी और पाञ्चाली शैली की है। कहीं-कहीं गौणी शैली का भी प्रयोग है।

दोष

नीरसता—कथानक के संक्षिप्त होने का कारण काव्य के कलेवर को बढ़ाने के लिए वर्णनों, वार्तालापों आदि का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि कहीं-कहीं पर नीरसता प्रतीत होने लगती है।

अनौचित्य—अनेक देश के राजा-महाराजाओं की सेना के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने के पश्चात्, षष्ठ एवं सप्तम सर्ग मे महाराज भरत का, उपवन में प्रवेश कर, अन्तःपुर की रानियों के साथ वन विहार और जल क्रीड़ा के प्रसंग मे, अठखेलियों का वर्णन रस-निवेश की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होता है।

पूर्व कवियों का प्रभाव :

प्रस्तुत काव्य पर दो महाकवियो का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है—प्रथम भारवि और द्वितीय कालिदास।

काव्य मे भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' से अनेक बातें आदर्श रूप मे ग्रहण की गई है—काव्य का प्रारम्भ दूत प्रेषण से, प्रत्येक सर्ग के अन्त मे किसी विशेष शब्द का पुनः-पुनः प्रयोग ('लक्ष्मी' शब्द का किरातार्जुनीयम् मे तथा 'पुण्योदय' शब्द का भरत बाहु० महा० मे) आदि।

इसी प्रकार कालिदास में रघुवंश से भी प्रस्तुत काव्य में अनेक बातों की समानता है—रघुदिग्विजय (रघुवंश चतुर्थ सर्ग) से भरत के दिग्विजय (भरत बा० महा० द्वितीय सर्ग) की, मगध, अङ्ग आदि देशों के राजाओं के वर्णन (रघुवंश षष्ठ सर्ग) से, अवन्ति, मगध, कुरु आदि देशों के राजओ के वर्णन (भरत बा० महा० द्वादश सर्ग) को, आदि।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत महाकाव्य संस्कृत साहित्य की एक अपूर्व निधि है। यह अद्यावधि विद्वानों से अपरिचित है। 'बृहत्त्रयी' किरातार्जुनीयम् से इसकी समानता है। भारवि अर्थ गौरव के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत काव्य में पद-पद पर उपलब्ध सूक्तियों के कारण यह काव्य भी अर्थ गौरव का अच्छा निदर्शन बन गया है।

यह महाकाव्य रस, अलंकार, रीति, भाषा, भाव, ध्वनि, सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। अतएव यह संस्कृत के महाकाव्यों की श्रेणी में महती प्रतिष्ठा प्राप्त करने के योग्य है।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

साहित्य-समीक्षा

आदितीर्थ अयोध्या—लेखक : डा० ज्योतिप्रसाद जैन। प्रकाशक : उत्तर प्रदेश दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, लखनऊ। प्रथमावृत्ति १९७९; सचित्र; पृ० सं० ११४; मूल्य ३/- रु०।

विद्वान् लेखक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता, इतिहासकार और अनेक गवेषणापूर्ण ग्रन्थो के रचयिता हैं। प्रस्तुत पुस्तक को १२ परिच्छेदो मे विभक्त किया गया है जिनमे क्रमश. जैनधर्म और तीर्थ 'अयोध्या' स्थिति, नाम-इतिहास, पुरातत्व, अयोध्या का सांस्कृतिक महत्व, साहित्यगत वर्णन, तीर्थंकरो की जन्मभूमि, महावीरोत्तर इतिहास, धर्मायतन और दर्शनीय स्थल, विकास और व्यवस्था, अयोध्या तीर्थ, पूजन एव माहात्म्य, अयोध्या जिन स्तवन, दिगम्बरत्व तथा जैन परम्परा की प्रधानता आदि विषयों पर सप्रमाण प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। आदि तीर्थ अयोध्या के विषय मे यह प्राय: सर्वांगपूर्ण कृति है जो स्वविषय पर सभी दृष्टियो से प्रकाश डालती है।

यह मनीषियो, शोधार्थियो एवं जैन विद्याओं के मननशील अध्येताओ के लिए समान रूप से सर्वथा उपयोगी एव उपादेय है।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन : कृतित्व परिचय—सम्पादक : श्री रमाकान्त जैन। प्रकाशक—ज्ञानदीप प्रकाशन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ; १९७९; पृष्ठ १४७।

प्रस्तुत कृति जैन इतिहास, पुरातत्व एवं इतर जैन विधाओं के उद्भट विद्वान् डा० ज्योति प्रसाद जैन की विविध कृतियो की परिचायिका है। इसमे डा० साहब की कृतियो, समीक्षाओं, अभिमतादि, वर्गीकृत लेखसूची तथा सांस्कृतिक सामाजिक प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वथा उपादेय है।

चेतना का ऊर्ध्वारोहण—लेखक मुनि श्री नथमल। प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान); पृष्ठ १९७; १९७८; मूल्य १३/- रुपये।

मुनिवर श्री नथमल जी की यह कृति चेतना के विकास पर एक प्रामाणिक और साद्यन्त पठनीय कृति है। समीक्ष्य कृति का १९७१ मे एक लघु संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तुत ग्रंथ में चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया, उसे जानने के उपायों और विधियों, उसके व्यवहार्य स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसके दो खण्ड है—चेतना का ऊर्ध्वारोहण तथा चेतना और कर्म। यह ग्रथ १७ अध्यायों मे समाप्त हुआ है तथा इसका १०वां और ११वां अध्याय विशेष पठनीय है। इन अध्यायों में कर्म की रासायनिक प्रक्रिया पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

यह कृति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। मनोज्ञ सज्जा, आधुनिक प्रस्तुति, निर्दोष छपाई और उचित मूल्य के कारण इसकी उपयोगिता और उपादेयता बढ गई है।

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—लेखक : श्रीचन्द चोरडिया। प्रकाशक : जैन-दर्शन-समिति, कलकत्ता। पृष्ठ ३६०; मूल्य : बीस रुपए मात्र।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक भव्य-आत्मा में परमात्म-पद पाने की शक्ति विद्यमान है। जीव का संसार उसकी मिथ्यात्व-दशा पर्यन्त है। जब यह अपने पुरुषार्थ द्वारा अपना आध्यात्मिक-विकास कर लेता है तब मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रस्तुत कृति मे जीव के विकासकी प्रक्रिया पर मिथ्यात्वी के स्वरूप, क्रिया, ज्ञान-दर्शन, व्रत, आराधना-विराधना आदि

के विशद्, सप्रमाण उद्धरणों के द्वारा सविस्तार प्रकाश डाला गया है। लेखक ने इस प्रक्रिया में बिना किसी भेद भाव के जैनों के सभी सम्प्रदायों तथा जैनेतर उद्धरणों को ग्रहण किया है। यह लेखक की विशेषता ही है।

सोद्धरण विशद वर्णन में एक लाभ यह भी है कि यदि किन्हीं प्रसंगों में, किन्ही अंशों में किसी को मतभेद भी हो तो उन्हें परिमार्जित करने मे सहज ही सहायता मिल जाती है। फलतः यह कृति शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा विश्वास है। कुल मिला कर कृति के लिए लेखक एवं प्रकाशक सभी धन्यवादार्ह हैं। आशा है इसका अधिक-से-अधिक प्रचार-प्रसार होगा और यह लोक में उपयोगी सिद्ध होगी।

—गोकुल प्रसाद जैन,
सम्पादक

□□□

अनागत चौबीसी
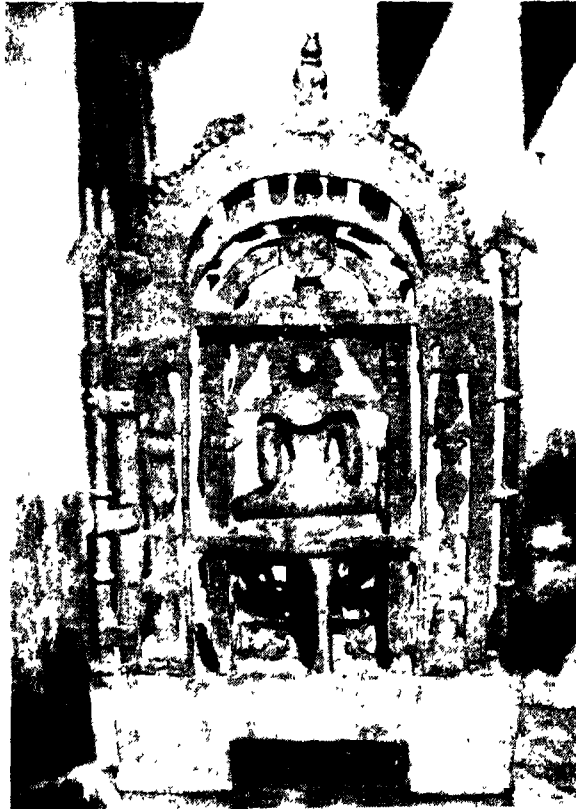
[यह अनागत चौबीसी का पृष्ठभाग है जिसमें नीचे स्पष्ट शब्दों में अंत में "अनागत चौबीसी" शब्दों को आतिशी शीशे (Magnifying glass) द्वारा पढ़ा जा सकता है। इसमें यशकीर्ति की परम्परा तथा मूर्तिकार की वंश-परम्परा अंकित है जो "अनागत-चौबीसी : दो दुर्लभ कलाकृतियाँ" शीर्षक लेख (लेख इसी अंक में पृ० १० पर मुद्रित है) में विस्तार से वर्णित है। इसका निर्माण संवत् १६७४ की जेठ सुदी नवमी को कराया गया था।]

□□□

विन्ध्यगिरि के जैन मन्दिर, श्रवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक

चन्द्रगिरि के जैन मन्दिर, श्रवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक

R. N. 10591 62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २०-००

स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ३ ००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २ ५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २- ०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५ ५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३ ००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-०

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 25..) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली से मुद्रित।